प्रवेशांक
जुलाई 2000



साहित्य तथा अन्य कलाएँ

सत्यजित राय
कृष्णा सोबती
निर्मल वर्मा
विद्यानिवास मिश्र
बच्चन सिंह
कुँवरनारायण
रामस्वरूप चतुर्वेदी
कमलेश्वर
मनोहर श्याम जोशी
कृष्ण बलदेव वैद
श्रीलाल शुक्ल
केदारनाथ सिंह
अशोक वाजपेयी
रमेशचन्द्र शाह
मृदुला गर्ग
उदयप्रकाश
अरुण कमल
नासिरा शर्मा
परमानन्द श्रीवास्तव
लीलाधर जगूड़ी
गगन गिल
तथा अन्य



सहित
साहित्य तथा अन्य कलाएँ
(विमला देवी फाउण्डेशन न्यास की वार्षिक पत्रिका)
प्रवेशांक, जुलाई 2000
अंक-1, वर्ष-1
अवधि : वार्षिक
प्रकाशक : विमला देवी फाउण्डेशन न्यास, अयोध्या (उ.प्र.)

आवरण : जे.एम.एस. रावत
रेखांकन : राजुला शाह
मुद्रक : शुभम् ऑफसेट, दिल्ली-110032

वितरक : वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

यह अंक : 40.00 रुपये
विदेशों में $ 10
शुल्क : पत्रिका के लिए शुल्क वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 के अलावा सम्पादकीय पते पर भेज सकते हैं।

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार :
यतीन्द्र मिश्र
राजसदन, अयोध्या-224123
उत्तर प्रदेश
फोन : (05278) 32495, 32770
फैक्स : (05278) 32770
ई-मेल : Vdfoundation@123 india.com

सहित

साहित्य तथा अन्य कलाएँ



सम्पादक :

यतीन्द्र मिश्र

अनुक्रम

वैखरी

(1)

इस पत्रिका के हाथ में आने के साथ सबसे पहला प्रश्न यह कि इस पूरे विशाल हिन्दी समाज में एक और नयी पत्रिका का जन्म क्यों ? प्रश्न अपने आप में जितना लक्षित, द्रुतगामी और प्रासंगिक है, उसका उत्तर उतना ही कठिन, पेचीदा और साधारण। पिछले तीन-चार वर्षों से मैं एक प्रश्न को लेकर बेहद असुविधा में था कि एक ऐसे शहर या स्थान की वर्तमान में कितनी प्रासंगिकता शेष है, जिसकी आर्ष परंपरा अत्यंत गौरवशाली रही हो।

एक शब्द है--अयोध्या। साहित्यिकता के मानक पर ऐसा स्थान जहाँ से लोकमंगल का भाव प्रवाहित करने वाला ग्रन्थ 'रामचरितमानस' उत्पन्न हुआ है। इस शहर में मर्यादा की अन्तर्ध्वनियों की परंपरा विद्यमान रही है, शीष पैगम्बर की दरगाह है तथा पाँच जैन तीर्थंकरों (ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, अनन्तनाथ) की जन्मस्थली होने का गौरव भी इस स्थान को प्राप्त है। ऐसी मान्यता है कि बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक गौतम बुद्ध ने यहाँ कई वर्षावास किये थे तथा सिक्खों के आदि गुरु नानकदेव तथा अंतिम गुरु गुरुगोविंद सिंह ने विश्व-कल्याण का संदेश दिया था। सभी के समन्वित संगुम्फन से बना हुआ शहर है--अयोध्या। इन सबके बावजूद कुछ अन्य कारणों से इस शहर की यशःपरंपरा पिछले कुछ वर्षों से क्षीण हो रही थी। इतनी समृद्ध परंपरा के वाहक शहर का आज कोई सांस्कृतिक रूप-निर्धारण नहीं हो पा रहा था, यह चिंता का विषय है। अतः 'सहित' वर्तमान में साहित्य के लगभग इस अनजाने शहर से एक छोटा सा प्रयास है। कितना सार्थक ! यह आप और भविष्य तय करेंगे।

मुझे हमेशा यह महसूस होता रहा है कि साहित्य तथा अन्य कलाएँ ही वे आदर्श स्थितियाँ होती हैं जिनमें अवस्थित होकर ही सभ्य समाज के कुछ शाश्वत मूल्य संजोए व बचाए जा सकते हैं। बैर, ईर्ष्या, घृणा, क्रोध आदि से ऊपर उठकर भी आनृशंस्य, मैत्री, शान्ति, स्नेह तथा पारस्परिकता वे भाव हैं जिन्हें साहित्य तथा संस्कारों द्वारा ही पाया जा सकता है। मनुष्य को थोड़ा अतिरिक्त मनुष्य बनाने का श्रेय इन्हीं संवेदी उपादानों के द्वारा ही संभव है। सिर्फ जन्मना ही नहीं सार्थक जन्मना और समाज के 'ऐज़ इट इज़' चित्र को 'दैट्स इट' बनाना भी मानवता और कला की परिधि में आता है। 'सुंदरता' स्वयं में एक आदर्श स्थिति है परन्तु आदर्श समाज के निर्माण में असुंदर से असुंदर चीज़ को ठोंक-पीटकर सुंदर की परिधि में ले आना 'अत्यधिक सुंदर' होता है। ठीक उस तरह, जिस तरह असुंदर परिदृश्यों को सुंदर विकल्पों में बदलने का कार्य कबीर, तुलसी, नानक, रहीम, महर्षि अरविंद, मार्क्स, गांधी,

टॉलस्टाय, चेखव, विवेकानंद, निराला आदि ने अपने काल खण्डों में किया था। साहित्य का चाक भी अपने पूरे कालखण्ड में घूमता हुआ, ऐसे ही कुछ अन्य नाम पैदा कर सका तो यह दुनिया कुछ 'अतिरिक्त सुंदर' बन सकेगी। तब शायद महाभारत की यह ध्वनि हमें संतोष दे सके—

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः।

(2)

ऐसे समय में जब हम साहित्य तथा साहित्येतर भावों को बचाने के लिए प्रतिबद्ध हैं—डॉ. रामविलास शर्मा का जाना पूरी भारतीय साहित्यिक परंपरा में एक वैचारिक सभ्यता का अवसान है। भारत में मार्क्सवादी चिंतन परंपरा और समालोचना के शिखर पुरुष रामविलास शर्मा जी का मत था—"इस देश की संस्कृति से रामायण और महाभारत को अलग कर दें, तो भारतीय साहित्य की आंतरिक एकता टूट जाएगी। किसी भी बहुजातीय राष्ट्र के सामाजिक विकास में कवियों की ऐसी निर्णायक भूमिका नहीं रही, जैसी इस देश में व्यास और वाल्मीकि की है।"

डॉ. रामविलास शर्मा हिन्दी प्रगतिशील आलोचना के आधार स्तम्भ हैं और उन्होंने साहित्य का समाजशास्त्र निर्मित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। हिंदी का जातीय इतिहास लिखते हुए शर्मा जी इसे लम्बे काल-प्रवाह के संदर्भ में देखते हैं। निराला पर उनका गौरव-ग्रंथ 'निराला की साहित्य-साधना' महाकवि निराला के जीवन-संघर्ष, भाव-बोध, कवि-कर्म से लेकर प्रगतिशील रचनाधर्मिता को युग-बोध की कसौटी पर कसने का एक स्पृहणीय उपक्रम है। इस तरह शर्मा जी के व्यक्तित्व, कृतित्व को गिनाना अल्पमति का परिचय कराना होगा। संक्षिप्त रूप से इतना कहना ही समीचीन होगा कि रामविलास शर्मा अपने में अकेले ऐसे उदारमना आलोचक थे, जिनकी वैचारिक प्रतिबद्धता में कभी धर्म, जाति, भाषा तथा क्षेत्र आड़े नहीं आया। रचनाकार के लिए कोई भी क्षेत्र अस्पृश्य नहीं है—इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उन्होंने जीवन पर्यंत प्रस्तुत किया। कबीर की 'भाखा' को कम ही लोग चरितार्थ कर पाते हैं। उन कम लोगों में रामविलास जी आते हैं। आज वे सशरीर हमारे बीच नहीं हैं, पर उनका चिंतन-लेखन साहित्य-जगत् को सदैव नयी-नयी संभावनाओं के प्रति जाग्रत करता रहेगा। 'सहित' की ओर से उन्हें विनम्र श्रद्धांजलि।

(3)

छायावादी बृहत्त्रयी को अपनी कोमल संवेदनाओं से समृद्ध करने वाले श्री सुमित्रानंदन पंत का यह जन्मशती (20 मई 1900-20 मई 2000) वर्ष है। वैश्वीकरण के युग में जब हमें पूरी दुनिया ही अपने पड़ोस में दिखने लगी है, तब मनुष्य को सबसे सुन्दर मानने वाले पंत जी यहाँ और भी अधिक सामयिक हो जाते हैं। अपने सौंदर्यवादी दृष्टिकोण से उन्होंने प्रकृति और समाज का अन्तर्विलयन जिस निष्ठा से किया, वह सदैव आदरणीय रहेगा। समसामयिक परिप्रेक्ष्य में पंत जी का यह संवेदना बोध परिवार में, रिश्तों में, समुदाय में पारस्परिक संवाद प्रगाढ़ करने में प्रासंगिक भूमिका निभाता रहेगा। पंत जी के कालजयी रचनात्मक अवदान के प्रति 'सहित' का श्रद्धा-भाव अर्पित है।

इस पत्रिका के रूपायन में रचनाकारों का जिस तरह सहयोग मिला वह अपने आप में अत्यधिक उत्साहवर्धक रहा। वरिष्ठ कवि-आलोचक श्री कुँवरनारायण जी का शुरू से ही संकोच था कि उनके तथा प्रख्यात फिल्म निर्देशक सत्यजित राय के पत्र यहाँ प्रकाशित हों न हों। मुझे उनकी यह हिचक मान्य नहीं हुई, क्योंकि दो विभिन्न कलाओं से जुड़ी महान हस्तियों का पारस्परिक संवाद प्रकाश में आना ही चाहिए। 'भाषा' कभी 'सम्प्रेषण' का मार्ग अवरुद्ध करती हो, ऐसा कम ही होता है। यदि ऐसा होता तो तमाम हिंदीभाषी समाज मीर, ग़ालिब, रवींद्रनाथ टैगोर, शरतचंद्र, जी. शंकर कुरुप, मास्ति वेंकटेश अय्यंगर, विभूति भूषण बन्धोपाध्याय आदि से अपरिचित होकर अल्पज्ञ ही रहता। अतएव हम उनके तथा सत्यजित राय के कुछ पत्र यहाँ हिंदी में अनूदित करके छाप रहे हैं। पत्रों की प्रतिलिपियाँ उनके मूल का आस्वाद कराने के लिए साथ में प्रकाशित की गयी हैं। इसी तरह एक व्यक्तिव्यंजक निबंध के द्वारा पं. विद्यानिवास मिश्र जी भारतीय परंपरा में घर की महत्ता को रेखांकित कर रहे हैं, जो उदारीकरण के युग में अप्रासंगिक होती जा रही है। अरबी भाषा के नोबेल पुरस्कार प्राप्त लेखक नज़ीब महफूज़ की कहानी का मनोहर श्याम जोशी जी द्वारा किया गया अनुवाद इस अंक का ख़ास आकर्षण है। जोशी जी ने सन् 1964 के बाद, कई वर्षों के उपरान्त किसी रचना का अनुवाद किया है, इस कारण यह और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। वैचारिक खण्ड 'अभिमत' के लिए वरिष्ठ रचनाकारों क्रमशः कृष्णा सोबती, रामस्वरूप चतुर्वेदी, कमलेश्वर. केदारनाथ सिंह, मृदुला गर्ग, परमानंद श्रीवास्तव एवं विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने अपने दृष्टिकोण से इस पत्रिका को वैचारिक गरिमा प्रदान की है। अयोध्या शहर से हम कुछ नाम लेकर उपस्थित हैं, जो साहित्य की मुख्यधारा में तो अभी तक नहीं आए, लेकिन उनकी रचनाएँ अपनी सार्थक उपस्थिति का एहसास कराएँगी। पत्रिका के अन्य खण्डों में लब्धप्रतिष्ठ रचनाकार अपनी प्रभावपूर्ण उपस्थिति से साहित्य का श्रेयस् भाव सृजित करेंगे, ऐसा विश्वास है। इनमें मुख्य रूप से निराला की अंतिम कविता पर श्री बच्चन सिंह की टीका, साहित्य के बीहड़ धरातल को अपने परिपक्व अनुभवों से आलोकित करते श्री निर्मल वर्मा, साहित्य और मानवीय स्थिति पर चिंतन करते हुए श्री अशोक वाजपेयी, कथासरितसागर की एक कथा पर आधारित श्री कृष्ण बलदेव वैद की कहानी, गुलिस्तान-ए-सादी के कुछ अंशों पर नासिरा शर्मा तथा अनुवाद की महत्ता के जरिए, तुलनात्मक भारतीय साहित्य पर अरुण कमल का गंभीर आलेख ध्यान आकृष्ट करेंगे।

इस पत्रिका के स्वरूप निर्धारण तथा संयोजन में जिनका सहयोग और परामर्श मिला, उन सबके प्रति कृतज्ञ हूँ। इस क्रम में श्री वागीश शुक्ल, डॉ. जनार्दन उपाध्याय, सुश्री राहुला शाह तथा श्री प्रभात रंजन का विशेष आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके कारण 'सहित' का हित हो सका। वाणी प्रकाशन के श्री अरुण माहेश्वरी को हृदय से धन्यवाद देता हूँ जिनके सहयोग के बिना, यह पत्रिका, अयोध्या जैसे शहर से निकालना बेहद दुष्कर कर्म था।

अयोध्या में नयी सांस्कृतिक शुरुआत हो सके, साहित्य तथा कलाओं के मंच पर हर तरह की विचारधारा एकनिष्ठ होकर आ सके तथा 'व्यक्तिगत' को 'सार्वभौम' होने का बृहत्तर भाव मिल सके—इन्हीं सब आशाओं, संकल्पों के साथ 'सहित' का प्रवेशांक आपके सम्मुख प्रस्तुत है।

—यतीन्द्र मिश्र

युग-संधि पर साहित्य

अभिमत

कृष्णा सोबती

साहित्य और साहित्यकार को आतंकित करती शक्तियाँ जब लेखक और लेखन की सीमाएँ निर्धारित करती हैं तो साहित्य की बुनियादी मूल्यों से राजनीति की मुठभेड़ होती है।

राजनीति से उभरती और व्यवस्था द्वारा नियंत्रित होती सामाजिक सामूहिक शक्ति जब व्यवस्था और तंत्र द्वारा संचारित की जाती है तो एक तरह की सुव्यवस्थित अराजकता का आरंभ होता है और प्रबुद्ध जाने अनजाने अपने लिए स्वयं एक बड़ा ख़तरा बन जाते हैं।

राजनीतिक दलों के ऐन बीच से होकर पनपती बुद्धिजीवियों की प्रबुद्ध नैतिक संहिता परोक्ष पक्षधरता से सहज संधि और सहमति संबंधों से एक पेचीदा स्थिति को जन्म देती है। एक ऐसी स्थिति जो अपनी क्रियाशीलता में साहित्य के छोटे-बड़े संदर्भों को समेट लेने की सामर्थ्य अर्जित करती है।

जो स्थान पिछले दशकों में विभिन्न विचारधाराओं का रहा लगभग वैसा ही प्रभावी तंत्र आज विश्वव्यापी मीडिया विचार को नियंत्रित करने के साधनों और उपक्रमों से लैस होकर एक अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार को विकसित कर चुका है।

साहित्य और शब्द संस्कृति जिन शाश्वत मूल्यों से जुड़ी रहीं, बाज़ार में बुने बारीक जाल में से छनकर अब वह उपभोक्ता सामग्री की तरह पहचानी जा रही हैं। अंकित हो रही हैं।

बौद्धिक प्रवृत्तियों पर आँख रखता यह नया रोबीला तंत्र अब हमारे समाज में भी प्रतिष्ठित हो चुका है। लेखक की मेज़ से अलग होकर साहित्य अब संगठनों और संस्थानों में केंद्रित है।

भूमंडलीय क्रिया-कलापों का यह विश्वव्यापी दौर अपने आक्रामक तेवरों से राजनैतिक शक्तियों की बराबरी करने में सक्षम है।

विचार और विचार-पद्धतियों को ऐसे प्रासंगिक और अनुशासित किया जा रहा है कि सृजन की व्यक्तिगत संभावनाओं और अपेक्षाओं में से सामूहिक मूलवाद ही उभर कर सतह पर आए। ऐसे में यदि साहित्यकार अपनी बौद्धिक स्वतंत्रता और उससे जुड़े रचनात्मक अस्तित्व के प्रति सजग और जागरूक है तो धंधई प्रतिस्पर्द्धा से हटकर उसे अपने पर नज़र रखनी होगी। भरसक अपने को सावधान करना होगा कि दबाव तले साहित्यकार विचारधाराओं और राजनैतिक शक्तियों का अनुगामी बन जाए। नशीली दवाओं के धन्धे की तरह साहित्य वितरण में स्वयंसेवी पिछलग्गू न बन जाए।

सच तो यह है कि इस पूरे तंत्र का ताना-बाना एक साथ इतना घनीला और उलझा हुआ है कि यहाँ-तहाँ उसकी पहचान कर सकना आसान नहीं। स्वयं लेखक और सृजनात्मक क्षमताएँ इसकी सुरक्षा के बाहर होने पर किसी लावारिस धन्धे की तरह मनचाही दिशा में धकिया ली जाती हैं।

ज़ाहिर है यह किसी सामूहिक फ़ासीवाद का संकेत है। लेखक के रूप से हमारा रचना धर्म हमारे निकट दूसरे सब अहसासों से महत्त्वपूर्ण है। नागरिक के रूप में समाज का अभिन्न अंग होने के नाते हमारी सामाजिक समस्याएँ और चुनौतियाँ हमारे होने की प्रमुख शर्त हैं। यह उत्तरदायित्व साहित्य ने विरासत के रूप में हमें सौंपा है।

हमारे पूर्वज, हमारे वरिष्ठ इस मूल्यांकन की कसौटी पर खरे उतरते रहे हैं। व्यक्तिगत लेखकीय और राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं के आगे अपने विवेक को बनाए रखते रहे हैं। बारीक बुने स्व-स्वार्थ के हक में हम अपनी लेखकीय परंपरा और मानदंड को क्यों भूल जाएँ।

यह सच है कि हमारे आस-पास हमें भरमाने वाले हज़ारों वह पैमाने हैं जिन्हें पाकर, पीकर हम निहाल हो जाएँगे लेकिन लेखक की अस्मिता को कहाँ से ढूँढ़ेंगे। तक्नोलोजी के प्रसार में डाक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक, कंपनी मैनेजर, उद्योगपति, ज्योतिषी, संत-साधु-संन्यासी सभी अपने-अपने धंधे के विशेषज्ञ की मुद्रा अपना चुके हैं। साहित्यकारों की सामाजिक उपस्थिति और रचनात्मक हस्ती के पंख क्यों कुतरे हुए लगते हैं। उसकी कार्य संस्कृति और कार्य क्षमता उस विमर्श के सामंजस्य में अपने को दृढ़ता से अपने लेखक होने को न्यायसंगत क्यों नहीं ठहरा पाते। यह सच है कि लेखक अपने से पहले दूसरों का पक्षधर है। इसीलिए वह अपने को भी नहीं बख्शता। वह दूसरों के ख़िलाफ़ खड़ा होता है क्योंकि वह अपने विरोध को हार जीत में नहीं—लेखकीय संहिता को व्यावसायिक रूप में नहीं—नैतिक रूप में भी देखता है।

निःसंदेह लोकतांत्रिक प्रणाली में हम अपने निर्णयों को बड़े परिप्रेक्ष्य से जोड़कर देखते हैं फिर भी व्यक्तिगत व्यवहारिक दृष्टिकोण उस ओर से आँख नहीं चुराता जिससे लेखक की निज की सहभागिता जुड़ी रहती है। लेखक की प्रकाशित कृतियों की आर्थिक संभावनाएँ बाज़ार के चौखटे में कस रही हैं। बाज़ार और उसका लेन-देन उस पर हावी हो रहा है। सृजन शक्तियों को बाज़ार की साख़ से तौला जा रहा है। लेखक उसे अदेखा करे यह मुमकिन नहीं मगर यदि हम अपनी लेखकीय स्वतंत्रता के प्रति सजग और सचेत हैं तो समझौते नहीं करेंगे। लेखक की प्राचीन अस्मिता को दाँव पर नहीं लगाएँगे। अपने हित में स्वसंचारी क्रियाशीलता से परहेज़ करेंगे। कोई भी राजनैतिक दल हो सत्ताधारियों के सामने अपने को झुका-झुका प्रोत्साहित नहीं करेंगे। हमारे रचनात्मक उत्साह के लिए एक छोटी सी पंक्ति की बंदिश भी कम नहीं। आखिर इसे अर्जित करने को ही लेखक अपने समय को अर्पित होता है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी

साहित्य युगों का अतिक्रमण करता चलता है, इसके बावजूद उसकी रचना तो किसी युग-विशेष में ही होती है, और उस युग-विशेष की समस्याएँ अपने ढंग से उसके लिए उत्प्रेरक भी बनती हैं। बीसवीं शताब्दी का अंत कैलेंडर के संदर्भ में अपना एक विशेष महत्त्व रखता है, वह अलग बात है। पर इसके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण यह है कि इतिहास के इस बिंदु पर साहित्य को एकाएक अनेक प्रकार की विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ रहा है।

यह एकाएक इतना एकाएक भी नहीं है। कई शताब्दियों से मुद्रण-तकनीकी का लाभ उठाते-उठाते साहित्य के पठ्य रूप का एक चरित्र बन गया है जो उसके पिछले श्रव्य रूप से भिन्न है। पर वही तकनीकी बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में कुछ ऐसी बदली है कि साहित्य का पुस्तक-पठ्य रूप अब सहसा कम्प्यूटर, रॉबो, इंटरनैट के ज़माने में एक खास तरह का दृश्य-श्रव्य रूप लेता दिखता है। और यहीं साहित्य के लिए बुनियादी चुनौती आती है, रचना के पक्ष में भी और आस्वादन के पक्ष में भी।

मूल समस्या काल की गति से उत्पन्न होती है। अभी तक साहित्य की रचना भी समय-साध्य रही है और आस्वादन-प्रक्रिया भी। रचना के लिए कहा गया, स्वयं कवियों द्वारा भाव को स्थिर होने पर स्मरण करना ('इमोशन रिकलैक्टेड इन ट्रैंक्विलिटी'), **'जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई/दुर्दिन में आँसू बन कर वह आज बरसने आई'**, या कि **'बरस पर बरस बीते एक मुक्ता रूप को पकते'**। यह लंबी रचना-प्रक्रिया तकनीकी के इस तुरंतायुग में कई रूप में बाधित दिखती है। और फिर भावक की तरफ अपनी कठिनाई है कि उसका क्रमिक आस्वादन और एक तरह से रचना का पुनःसर्जन आज के विविध प्रकार के श्रव्य-दृश्य माध्यमों में उत्तरोत्तर कठिन होता जा रहा है। एक ज़माने का मुहावरा था 'स्किन-डीप ब्यूटी' यानी त्वचा के स्तर तक का ही सौंदर्य। अब कला-सौंदर्य आस्वाद नेत्र तथा कान तक ही अधिकतर रह जाता है, मन मस्तिष्क से होकर व्यक्तित्व के अंतर प्रदेशों तक नहीं उतर पाता। तब साहित्य के लिए ख़तरा है कि वह महज़ इंद्रियोपजीवी होकर न रह जाए। बाज़ार-माहात्म्य के इस युग में प्रायः सभी कलाएँ उपभोग्य वस्तु के रूप में पहले से ही देखी जाने लगी हैं।

सिनेमा-दूरदर्शन केबल के बाद इंटरनैट साहित्य को श्रव्य-पठ्य से अधिक अब त्वरितचालित छवियों के रूप में उतारने को कृतसंकल्प है। रचना का पाठ अब टी.वी. स्क्रीन पर सुलभ होगा जो 'पाठक' की इच्छानुसार आगे-पीछे तो किया जा सकेगा, पर पाठक न वहाँ अपना रेखांकन कर सकता है और न हाशिए में अपनी टिप्पणी कर सकता है। कुल मिलाकर यह पाठ एक बड़ी सीमा तक निर्वैयक्तिक होगा और मुद्रित रूप में पुस्तक की मित्र होने की भूमिका ख़त्म हो जाएगी। शास्त्रीय या वैज्ञानिक पाठ्य सामग्री तो इस स्क्रीन पर बाधित न होगी, पर साहित्य का समूचा वैयक्तिक आस्वाद स्खलित हो जाएगा। और भावक द्वारा रचना का अपने तईं पुनःसर्जन लगभग असंभव होगा। साहित्य का अनुभव नेत्र तथा कान तक सीमित रह जाएगा और यों 'साहित्य' पद में रचनाकार-भावक के साहित्य की आधारभूत प्रतिज्ञा खंडित होगी।

साहित्य की रचना-प्रक्रिया एकतरफा नहीं होती। सूचना एकतरफा होती है, साहित्य बराबर द्विपक्षीय होता है। रचना जीवन का अर्थ-विस्तार करती है तो भावक-आलोचक रचना का अर्थ-विस्तार करता है। यह संभव होता है भाषा की अपनी बहुरूपी प्रकृति और बहुस्तरीय अर्थ-क्षमता के कारण। बड़ी रचना का बड़प्पन इसी में है कि वह अनेक युगों के पाठक की व्याख्याओं को आत्मसात करती हुई अपने को समृद्ध करती है और कालजयी बनती है। व्याख्या वह है जिसे रचना अपने में सहज भाव से धारण कर सके, जिस बिंदु पर वह उसे धारण न कर सके वहीं से अतिव्याख्या का क्षेत्र आरंभ हो जाता है, जो अनुभव के विस्तार क्रम में वर्जित प्रदेश है।

साहित्य को यों अब ख़तरा उप-साहित्य से है, जो या तो सत्ता से अनुशासित होता है या फिर बाज़ार से। कहना न होगा, अन्य कलाओं जैसे स्थापत्य, मूर्त्ति या कि चित्र-कला की तुलना में साहित्य की रचना-प्रक्रिया का क्षेत्र अपेक्षया स्वायत्त है। रोचक यह भी लक्षित करना होगा कि वैचारिक संदर्भों में साहित्य की संभावनाएँ जितनी अधिक हैं सत्ता उतना ही अधिक उसे अनुशासित करने को उत्सुक है। पर क्योंकि साहित्य की रचना-प्रक्रिया में स्थूल स्तर पर कुछ भी बाहरी उपकरण अपेक्षित नहीं, तब साहित्य की निर्भरता बाज़ार के नियमों पर सबसे कम है। यों सत्ता और बाज़ार दोनों की ओर उसे सबसे कम उन्मुख होना होता है। पर तकनीकी ने इसका बदला टी.वी., केबल, इंटरनैट के जरिये उप-साहित्य औरं छद्म साहित्य के कई तरह के रूप बनाकर लिया है। **'गोदान'**, **'चित्रलेखा'** या कि **'श्रीकांत'** के धारावाहिक दूरदर्शन पर सुलभ हैं, **'कामायनी'** और **'राम की शक्तिपूजा'** पर वैसी ही नृत्य नाटिकाएँ हैं जो साहित्य नहीं, साहित्य के छद्म हैं क्योंकि वे अपनी प्रक्रिया में एकतरफ़ा हैं, और उनकी प्रकृति मानवीय न होकर यांत्रिक है, तथा उनका आस्वाद क्रमिक न होकर तुरंता है। रचनाकार और भावक का साहित्य वहाँ एकदम अनुपस्थित है।

नई शताब्दी में साहित्य की ये कुछ विकट समस्याएँ हैं, जिनका निराकरण अकेले व्यक्ति के लिए दुःसाध्य है, और तब सत्ता की ओर से नहीं, बृहत्तर समाज की ओर से ही यह संभव है। समाज व्यक्ति के व्यक्तित्व को सुरक्षित रखता है, भीड़ उसे नष्ट करने को उतारू है। और विडंबना यह कि संगठित सत्ता अपनी शक्ति भीड़ से लेना पसंद करती है बजाय समाज के। यदि समाज सत्ता को अनुशासित नहीं करेगा हो साहित्य दिन-दिन क्षरित होगा। भीड़→संचारमाध्यम→सत्ता के बजाय। रिश्ता यदि समाज→साहित्य→सत्ता के बीच बनेगा तो विकास की व्यापक संभावनाएँ उन्मुक्त होंगी, अन्यथा पश्चिमी लेखकों द्वारा भविष्य में प्रक्षिप्त **'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' (आल्डस हक्सले)**, **'1984' (ऑरवैल)** या कि **'सेफ़्टी नैट' (हैनरिक बॉइल)** के विलोम-आदर्श-राज्य फलित होते देखेंगे। यह बुनियादी चुनाव नई शती को करना है।

कमलेश्वर

जन मानस को साहित्य कैसे बदल देता है, इसका कोई पता नहीं चलता। **कबीर** ने क्या कुछ बदल डाला, इसका पता अब 600 वर्षों के बाद चल रहा है। संत कवियों ने जो क्रांति पैदा की थी, उससे उत्पन्न सामाजिक न्याय के सवालों के उत्तर अब खोजे जा रहे हैं। दास्तानों और आख्यानों की चली आती परंपरा को भारतेंदु के **'अंधेर नगरी...'** नाटक ने एक झटके में बदल दिया था। साहित्य का मिज़ाज ही बदल गया था। **अमीर ख़ुसरो** ने सदियों पहले भाषा की जो दाग़ बेल डाली थी, वह **मैथिलीशरण गुप्त**

और **हरिऔध** के दौर में पल्लवित हुई।

अँग्रेजी भाषा और पश्चिम-परस्ती का जब अंधड़ चल रहा था तब **प्रसाद** की **'कामायनी'** ने अनकहे तरीके से उस अंधड़ को रोका था। **प्रेमचंद** के **'गोदान'** ने भारतीय साहित्य का भूगोल ही बदल दिया था। मध्यवर्ग की स्त्री पुरुषवादी चेतना से निकालकर साहित्य को कृषि-कथा में बदल दिया था।

तो, साहित्य जो करता है, वह सुनाई नहीं पड़ता पर दिखाई देने लगता है...समय का अंतराल उसमें बाधक नहीं होता। **तुलसीदास** की **'रामचरित मानस'** ने पहली बार संयुक्त-परिवार की परिकल्पना को साकार किया था, उसके नैतिक-नियमों को चुपचाप ही रूपायित कर दिया था। आधुनिक दबावों और कार्मिक विविधताओं के विकास ने संयुक्त-परिवारों को तोड़ा जरूर है, पर परिवार-प्रथा अब भी जीवित है। परिवार प्रथा को किसी राज्य-सत्ता के अध्यादेश द्वारा लागू नहीं किया गया था।

और सोचिए—बहुपत्नीवाद की परम्परा को रामायण ने कैसे खारिज किया था ? दशरथ और रावण, दोनों ही बहुपत्नीवादी थे। रामायण के राम ने दशरथ को अपूर्व विनयशीलता और रावण को युद्ध में अपार जन-सहयोग से परास्त किया था। राम ने अनकहे ही एक पत्नीवाद की प्रथा को प्रस्थापित कर दिया था। यह भी राम के आदेश से नहीं हुआ था। रामायण के रचयिता ने जनमानस को बदल दिया था....

रही युग-संधि की बात, तो हर बड़ी रचना अपनी युग-संधि का सृजन करती है। वह नक्षत्रों के गणितीय कैलेंडर के अधीन नहीं है।

रही शताब्दी के बदलने की बात, तो भूमंडलीकरण विचार और इतिहास की मृत्यु का उत्सव मनाता आ रहा है। यह उन्हीं देशों द्वारा प्रायोजित है जिन्होंने जीवंत सभ्यताओं के विचार और इतिहास को ध्वस्त करके अपने भौतिक साम्राज्यों की स्थापना की है। वे अपने पश्चात्ताप से बचने के लिए इतिहास और विचार से बचना चाहते हैं।

साहित्य बचाव पक्ष का वकील नहीं होता। वह अपने सृजन सत्य को विचार और इतिहास की चिंताओं के बीच स्थापित और सत्यापित करता रहता है...साहित्य ने यही इस सदी में भी किया है, इसकी प्रगाढ़-प्रतीति युग-संधि के बाद शिद्दत से दिखाई देगी, महसूस होगी। आने वाली सदियों में साहित्य का यह अनहद नाद और भी ज्यादा घनीभूत होगा।

केदारनाथ सिंह

पहली बात तो यह है कि मुझे युगसंधि जैसा कुछ दिखाई नहीं दे रहा। एक शताब्दी के बीतने और दूसरी शताब्दी के शुरू होने को कोई युगसंधि कहे तो कहे, मुझे ऐसा नहीं लगता। वैसे भी भारतीय मनुष्य समय को इस तरह से बाँटकर देखने का अभ्यस्त नहीं है। आज से कोई सौ साल पहले यानी 18वीं शताब्दी के अंत के साहित्य को देखें तो उससे किसी युग-संधि का अहसास नहीं होता। हिंदी में हम आधुनिक साहित्य का आरंभ मोटे तौर पर 1857 से मानते हैं सन् 1900 से नहीं। अब भी उत्तर भारत का ज्यादातर सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन भी जिस कैलेंडर के आधार पर चलता है उसकी शताब्दी कई बरस पहले बीत चुकी थी पर शताब्दी के बीतने का ऐसा कोई हो-हल्ला भारतीय जन के निकट नहीं हुआ। ये कहा जा सकता है कि ईसा की शताब्दी अधिक व्यापक अर्थ में स्वीकृत शताब्दी है और इसका एक अंतरराष्ट्रीय आयाम है। सुविधा के लिए हम यह सवाल पूछ सकते हैं कि जिसे इस कैलेंडर के अनुसार आनेवाली सदी यानी 21वीं सदी कहा जा रहा है वह बीसवीं से किस अर्थ में भिन्न होगी। आनन-फानन में 21वीं 20वीं से किसी बिंदु पर अचानक अलग हो जाए ऐसी कल्पना करना बहुत तर्कसंगत नहीं होगा। 21वीं आएगी तो 20वीं की बहुत सारी प्रवृत्तियाँ, स्वप्नों (यदि अब भी बचे हों), मोहभंगों और प्रश्नों को लेकर आएगी।

एक प्रश्न जरूर पूछा जाता है और वह यहाँ भी पूछा जा सकता है कि आने वाले समय में स्वयं साहित्य की स्थिति क्या होगी? जिस पत्रिका का नाम ही **सहित** हो उसके संदर्भ में यह और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इस संबंध में मैं उन लोगों में नहीं हूँ जो साहित्य को आसन्न खतरों के बीच रखकर देखते हैं और कई बार उसके अस्तित्व को लेकर ही सशंकित हो उठते हैं। मुझे याद आता है कि 19वीं शती के अंत और 20वीं के आरंभ में भी इस प्रकार के सवाल उठाए गए थे और ऐसा विज्ञान के बढ़ते प्रभाव के संदर्भ में हुआ था। इस प्रश्न को आने वाले समय ने लगभग निरर्थक साबित किया और 21वीं शती भी इसे निरर्थक साबित करेगी—ऐसा मानने के बहुत से आधार हैं। एक बहुत मूलभूत अर्थ में भारतीय मन की बनावट पश्चिम के मन से भिन्न है और वह भिन्नता इस बात में है कि हमारा मन कहीं

आज भी उच्चरित शब्द के बहुत निकट है। बोले हुए शब्द ने अब भी कहीं न कहीं लोक मन में अपने जादू को बचाए रखा है और यह अकारण नहीं है कि वो **निराला** हों या **रेणु** अपने सृजन के मूलस्रोत को कहीं-न-कहीं उसी बोले हुए शब्द के आस-पास खोजने का प्रयास करते हैं। कुछ लोग शब्द के वजूद पर भी प्रश्न उठाते हैं, पर यह कहने के लिए भी शब्द बचा है। जो कि निश्चित रूप से बचा है। तो इस खतरे को भी एक अतिरंजित खतरा मानना चाहिए। मेरा मत है आनेवाले समय में साहित्य आधुनिकता या उत्तर-आधुनिकता के वाग्जाल से बाहर निकलकर अपनी वास्तविक पहचान को नए सिरे से अर्जित करने के संघर्ष में जुटेगा और ऐसा करते हुए वो उस समाज से जुड़ने की चेष्टा भी करेगा जो आधुनिकता के दायरे के बाहर छूट गया है। आने वाले समय का साहित्य मेरा मानना है कि आधुनिकता के दायरे के बाहर छूटे हुए लोगों और समुदायों का साहित्य होगा। एक बात मुझे और लगती रही है, बल्कि परेशान करती रही है कि हम अपने समय को परिभाषित करने के लिए प्रायः उन पदों का इस्तेमाल करते रहे हैं जो पश्चिम से आए थे, जैसे—आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता इत्यादि। मुझे लगता है कि अगला समय पश्चिम पर अपनी निर्भरता से मुक्त होने का प्रयास करेगा और तब शायद हम अपने नए अभियान के लिए एक नया नाम खोज सकें जो अधिक देशज, अतः अधिक स्वीकार्य हो।

यह जरूर है कि कुछ नई चुनौतियाँ साहित्य के सामने होंगी। मसलन पिछले कुछ समय से पश्चिम में और शायद हमारे यहाँ भी गंभीर साहित्य के बजाय लोकप्रिय साहित्य के प्रति प्रकाशकों की रुचि और सक्रियता बढ़ी है और इसके पीछे सीदा-साधा मुनाफे का अर्थशास्त्र काम करता है। इस स्थिति से बचने का एक ही उपाय हो सकता है और वह यह कि साहित्य को, मेरा मतलब गंभीर साहित्य से है अधिक बड़े समुदाय से जोड़ा जाए अर्थात् उसे सीधे-सीधे उसके प्रति संबोधित बनाया जाए। यह एक ऐसा संघर्ष होगा जिसकी शुरुआत तो 20वीं में हो चुकी थी। लेकिन 21वीं में शायद और तीव्रतर हो सकता है। जहाँ तक कविता का सवाल है उसको लेकर मुझे कई बार ऐसा भी लगता है कि उसे शायद फिर से अपने वाचिक रूप पर जोर देना होगा और केवल लिखित या मुद्रित सत्ता के व्यामोह से किसी हद तक मुक्त होना होगा। शायद इस तरह एक जटिल कविता को भी किसी हद तक बड़े समुदाय तक पहुँचाया जा सकता है। किसी पश्चिम के कवि ने बहुत दिलचस्प बात कही थी कि यदि आधुनिक कविता से किसी अपरिचित समुदाय के सामने यदि एक जटिल से जटिल कविता को भी एकाधिक बार पढ़ा जाए तो वह उतनी अपरिचित नहीं रह जाएगी।—यह गंभीर कविता और पूरे गंभीर साहित्य के अधिकाधिक एक्सपोज़र का सवाल है। मुझे लगता है कि आने वाले समय को इस सवाल का उत्तर खोजना होगा।

परमानंद श्रीवास्तव

युग-संधि पर साहित्य की भूमिका, पहचान या चरित्र में कोई ऐसा आकस्मिक बदलाव नहीं आ गया है जिसे ठीक इसी क्षण कोई नाम दे सकें। पिछले दस वर्षों का चलन ही साहित्य की दुनिया में साहित्य के परिदृश्य में मौजूद है। बहुत कुछ ज्यों का त्यों दुहराया जा रहा है और जो चीज़ विरल है उसका उत्तरोत्तर विरल होते जाना दस-पंद्रह वर्षों से खटक रहा है। आज भी सामान्य रूप से दो तरह के लेखक दृश्य पर मौजूद हैं। एक वे जो लेखन की अब तक बन चुकी रूढ़ियों में ही थोड़ा-बहुत चमत्कारपूर्ण विचलन या फ़र्क दिखाकर स्वीकृति पाने के लिए बेताब हैं। उन्हें उस ढंग का पता चल गया है जो चलन में है और जिसके छपने में तुरंत आसानी है। दूसरे वे जिनकी खोज सचमुच किसी नए रास्ते की है और जिस बीहड़ रचना भूमि में चलकर उन्हें सार्थकता का एहसास हो पाता है उसकी स्वीकृति तुरंत कठिन है। ये कोई नए लेखक ही नहीं हैं जो इधर जाने का जोखिम उठा रहे हैं और जिनकी स्वीकृति में मुश्किलें हैं। इनमें **विनोद कुमार शुक्ल** जैसे बड़े और महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले लेखक भी हो सकते हैं। हिंदी का एक बड़ा लेखक और पाठक समाज उनकी खोज जैसी विरल नवीनता या नवोन्मेष पर संदेह किए बैठा है। **'दीवार में एक खिड़की रहती थी'** उपन्यास **क्यों** है और उपन्यास के रूप में **महत्त्वपूर्ण** क्यों है, यह समझा पाना कठिन हो रहा है। युवा लेखिकाओं के जो दो उपन्यास साल भर चर्चा में रहे हैं—**'कलि**

कथा वाया बाइपास' (अलका सरावगी), 'हमारा शहर उस बरस' (गीतांजलि श्री) उनको लेकर दो तरह का असमंजस पाठक समाज में है। एक को थोड़ा गूढ़ जटिल और अविश्वसनीय और स्त्रीविहीन होने की हद तक ठंडा अनुत्तेजक बताया जा रहा है और दूसरे को ढीला-ढाला क्रम-हीन बिखरा-बिखरा बताने के साथ ही यह भी, कि यह उपन्यास किस अर्थ में है। क्रीड़ा वृत्ति या खिलंदड़ापन अपने में कुछ त्रासद भी छिपाए रख सकता है, समझा पाना कठिन है। फिर भी चिंता का विषय यह नहीं है। यह तो हमेशा होता रहा है कि जो अपना अलग रास्ता बनाते हैं देर से पहचाने जाते हैं। कई बार तो क्लासिक जैसी स्वीकृति पा लेने तक कृतियाँ इंतजार में रहती हैं कि उनका कोई प्रसन्न या द्वंद्वसमृद्ध नया पाठ बन ही जाएगा जो कृति में निहित अर्थ और मर्म को वृहत्तर पाठक समाज तक पहुँचा सके। इसीलिए मुझे कई बार लगता है जिस तरह रचना ज़रूरी है क्योंकि वह घटना है हर क्षण, हर बार एक नई घटना, बनी बनाई रीति या व्यवस्था में नया हस्तक्षेप; उसी तरह आलोचना भी ज़रूरी है। यह जो दंभपूर्वक कभी-कभी रचनाकारों की ओर से कह दिया जाता है कि आलोचना जरूरी नहीं है या आलोचक जैसा बिचौलिया ज़रूरी नहीं है, वह सिर्फ़ उनका दृष्टिकोण हो सकता है, जो आलोचना सह नहीं सहते, सिर्फ़ प्रशस्ति या सराहना से फलफूल सकते हैं।

संकट यह है कि रचना में जो चलन में है आसानी से स्वीकार्य है वह बहुत बड़े परिमाण में मौजूद है, जो सचमुच नई खोज, नया आविष्कार है, नया जोखिम है, उसके उदाहरण विरल हैं। लीलाधर जगूड़ी या विष्णु खरे या ऋतुराज यद्यपि स्वीकृत या प्रतिष्ठित हैं पर ज़्यादातर हिंदी पाठक उन्हें जटिल या दुर्बोध बताकर उस आसान-सी दिखने वाली कविता के पास चले जाते हैं जो रोचक रंजक और सरल है। उनकी कविता एक अर्थ में जोखिम उठाने वाली नई ज़रूरी आलोचना भी है क्योंकि वह शक करना या प्रश्न करना सिखाती है। निराला, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय सबकी कविताओं में समय और समाज का 'क्रिटीक' बनने की बेचैनी है। 'बाहर मैं कर दिया गया हूँ/भीतर, पर भर दिया गया हूँ।' यह एक स्थिति भर नहीं है– एक प्रश्न या चुनौती है–दुनिया या दुनिया की तमाम व्यवस्थाओं के लिए।

संकट यह भी है कि हम जहाँ पहुँच रहे हैं वहाँ वक्त नहीं है, एकांत नहीं है, कल्पना या जिज्ञासा नहीं है, आत्मा का ऐसा सहचर मित्र नहीं है, जो आत्म-संवाद और अपने से ही विवाद में, लड़ने-झगड़ने में जो ठीक समय पर साथ हो। सब भीड़ में हैं सब शोर में डूबे हैं सब तुरतफुरत या लस्टमपस्टम के भी आनंद में हैं जबकि रचना के लिए तो एक दिन 'बेहद्दी मैदान' में जा पहुँचना जरूरी हो जाता है,–वरिष्ठ तथा यशस्वी रंगकर्मी ब.व. कारंत के शब्दों में– जब 'आँख' से अधिक भरोसा 'कान' पर रह जाता है। यह रचना का ऐसा विलक्षण मर्म है जो चलन में नहीं है पर चुनौती तो यहीं है।

मृदुला गर्ग

बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में, मनुष्य ने हाथों की मेहनत के बजाय, दिमाग़ का प्रयोग करके, तकनीक द्वारा, प्रकृति का दोहन करके, ऐश्वर्य अर्जित किया। उत्तरार्ध में प्रगति की रफ़्तार को संचालित करने वाला उपकरण, मनुष्य के हाथों से छूट गया। वह अपने ही ईजाद किए, तकनीकी चमत्कार के हाथों की कठपुतली बन गया। यह कमाल, 'कृत्रिम बुद्धि' के आविष्कार का था, कि कम्प्यूटर-जनित उपकरण, मीडिया पर इस तरह छाए कि वे, तकनीकी माध्यम न रह कर, उसके संचालक बन गए। नई प्रौद्योगिकी से सूचना और संचार का विस्तार ऐसे हुआ कि, बटन दबाने-भर से, हर तरह की जानकारी उपलब्ध होने लगी। जानकारी के इस सैलाब से आज का हिंदी साहित्यकार बहुत आतंकित है। पर क्यों?

वैज्ञानिक रूप से मानी हुई बात है कि दिमाग़ की कोशिकाओं का कोई सीमित क्षेत्रफल नहीं होता। सूचना का कितना भी अम्बार, उसमें भरा जा सकता है। पर एक चीज़ है, जिस पर व्यक्ति से बाहर की किसी शक्ति का अधिकार नहीं, और वह है, व्यक्ति की दिलचस्पी। जानकारी का सतत बहता दरिया, कुछ दिनों तक, हमें अपने साथ बहा ले जा सकता है। हम इंटरनेट के सामने बैठे, मनचाही-अनचाही, हर तरह की सूचना पाकर, लोमहर्षक रोमांच अनुभव कर सकते हैं, पर सदियों के परिप्रेक्ष्य में देखें तो, बहुत जल्द, उस बिंदु पर पहुँच जाते है, जहाँ हम, मॉनिटर पर

देखते-पढ़ते-सुनते सब कुछ हैं, पर ग्रहण कुछ नहीं करते।

ऐसे में साहित्य के सामने, सबसे बड़ी चुनौती यह है कि, उसे खुद को, मात्र जानकारी देने या यथार्थ को शब्द देने का साधन समझना बंद करना होगा। जहाँ तक प्रामाणिक और तथ्यात्मक सूचना का सवाल है, जिस निपुणता और निरंतरता से संचार माध्यम उसे देता है, न साहित्य दे सकता है, न देने की उसे ज़रूरत है। हिंदी में अति-यथार्थवाद ने यह भ्रम फैलाया था कि साहित्य का उद्देश्य जानकारी-विहीन लोगों को जानकारी देना है। एक समय में यह काफ़ी सही भी था, पर अब नहीं है। आने वाले समय में साहित्य को, शब्दों के बीच के मौन को, अनकही व्यंजना को, स्थूल के पीछे के सूक्ष्म विश्लेषण को, विचारधारा के पीछे के विचार की जटिलता को, और मूल्यों में सतत परिवर्तन के बावजूद सनातनता को, अभिव्यक्ति करने की जोखिम उठानी पड़ेगी।

समृद्ध देशों में, जैसे-जैसे साक्षरता, जीवन स्तर, और फुर्सत बढ़ी है, पढ़ने की आदत बढ़ी नहीं तो घटी भी नहीं है। कारण, वे देश, मात्र बाज़ार नहीं, स्वयं उत्पादक भी हैं।

हमारी दिक्कत यह है कि हम, मात्र बाज़ार बन कर रह गए हैं। ऐसा नहीं है कि हम उत्पाद नहीं करते; उपभोग की वस्तुओं का हो या कला व साहित्य की कृतियों का। पर विश्व के अजगरी उत्पाद और विज्ञापन तंत्र ने हमें इस तरह गिरफ़्त में लिया है कि, हम उनकी शिक्षा के अनुसार, खुद को केवल बाज़ार मान बैठे हैं। स्त्रियों के साहित्य को अलग करके देखना-परखना भी, इसी बाज़ार की माँग है। यह बात दीगर है कि, आज, हिंदी में वाकई साहसपूर्ण ढंग से, समाज में व्याप्त विद्रूप और विसंगतियों का सार्थक-सशक्त चित्रण, स्त्रियाँ ही कर रही हैं। स्थूल के साथ-साथ सूक्ष्म को भी अभिव्यंजित कर रही हैं। **नमिता सिंह** का **'सलीबों पर' कमल कुमार** का **'यह ख़बर नहीं', चित्रा मुद्गल** का **'आवां'**, हाल में प्रकाशित उपन्यासों में से कुछेक उदाहरण हैं। आने वाले वक्त में भी साहित्य रचा जाता रहेगा, पर हिंदी साहित्य, हाशिए पर होगा या मुख्यधारा में, यह तीन बातों पर निर्भर करेगा।

1. हमारा नवसाक्षर होता बृहत् वर्ग, हिंदी बोलता-पढ़ता रहेगा या नहीं?

2. हिंदी का साहित्यकार, नए कथ्य, मौलिक शिल्प और जीवंत भाषा-प्रयोग की चुनौती को स्वीकार करेगा या नहीं?

3. गुट, राजनीति, पुरस्कार व प्रायोजित प्रशंसा के बाज़ार से अलग, हिंदी साहित्य, ईमानदार आलोचक और पाठक को महत्त्व दे पाएगा या नहीं ?

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

मनुष्य ने अनन्त काल को नापने के लिए कुछ पैमाने बना रखे हैं जो सर्वस्वीकृत और सर्वमान्य नहीं हैं। ईसाई काल-गणना के अनुसार यदि यह बीसवीं शताब्दी का अंत है तो हिंदुओं के अनुसार बीसवीं शताब्दी कब की बीत चुकी है। इसी प्रकार अन्य धर्मों और संस्कृतियों की काल-गणना अलग-अलग है। इसलिए 'युग-संधि' की धारणा पर तकनीकी रूप से तो बहस व्यर्थ है लेकिन आज हम जिस समय में साँस ले रहे हैं उसे ही 'युग-संधि' मान कर उसमें साहित्य की स्थिति, उसकी दिशा और संभावना पर विचार करना उपयुक्त है।

पिछले कुछ समय से हिंदी साहित्य में जो विशेष विचार बिंदु उभर कर आए हैं उनमें प्रमुख हैं—उत्तर-आधुनिक विमर्श, दलित और स्त्री चेतना, भूमंडलीकरण और उपभोक्तावाद का विरोध, साम्प्रदायिक उभार और पर्यावरण के प्रति चिंता, दृश्य मीडिया और संचार क्रांति के प्रति आशंका तथा हिंदी आलोचना की संकीर्ण गुटबाजी के प्रति व्यापक असंतोष। ये हमारे समय के महत्त्वपूर्ण बिंदु हैं जिनकी ओर हिंदी के सचेत लेखकों का ध्यान गया है। मनुष्यता का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि अनंत काल प्रवाह में दुनिया की बहुत-सी भाषाएँ मरती चली गई हैं और उनके साथ अनेक-अनेक संस्कृतियाँ भी नष्ट होती गई हैं। नई शताब्दी के हाहाकार में बहुत कुछ ऐसा भी छूट सकता है या अनदेखा रह सकता है जो मनुष्यता के लिए बहुत मूल्यवान है। ऐसे युग-संधि पर हमारी हिंदी भाषा और साहित्य की क्या स्थिति होगी और क्या होनी चाहिए उसकी भूमिका, यह विचारणीय है।

आज हम जिस समय में जी रहे हैं वह यांत्रिकी और प्रौद्योगिकी का समय है जो आज के मनुष्य की नियति को नियंत्रित कर

वाली शक्ति के रूप में सिर पर चढ़ कर बोल रहा है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया और सूचना क्रांति यांत्रिकी की महाशक्ति के बिना संभव नहीं थी। उपभोक्तावादी जीवन-दर्शन इसी के पंख पर जन-जन तक पहुँच रहा है। आज के उत्तर-आधुनिक मुहावरे ने सारे महावृत्तांतों और महाख्यानों का विखंडन कर दिया है। उसके लिए महान, शाश्वत और सार्वभौमं जैसे शब्द निरर्थक हो गए हैं। इसका प्रभाव मनुष्य के अब तक के कमाए हुए संचित मूल्यों पर पड़ा है और उनकी नींव लड़खड़ा गई है। एक ओर भूमंडलीकरण का नारा है और दूसरी ओर क्षेत्रीय संस्कृतियों और जातीय तथा नस्ली अस्मिता को संरक्षित करने की जरूरत भी महसूस की जा रही है। कुछ चिंतक यह भी चेतावनी दे रहे हैं कि आने वाली शताब्दी में सभ्यताओं का संघर्ष होगा। खासतौर से ईसाई, यूनानी और इस्लामी सभ्यताओं का। कहना न होगा कि पिछली शताब्दी में विचारधाराओं का संघर्ष था जो इतना तीव्र रहा कि साहित्य की जड़ पर ही प्रहार होने लगे। बहुत से शब्द जो साहित्य और रचना के बुनियादी शब्द रहे हैं, गायब होते गए हैं और समाज शास्त्र, अर्थ शास्त्र, मनोविज्ञान तथा विज्ञान के शब्द उनका स्थान लेते गए हैं। विचारधाराओं के संघर्ष में ही हिंदी आलोचना में एक विचित्र प्रकार की संकीर्णता और गुटबंदी उभरी है जिसके चलते साहित्य का बुनियादी स्वरूप क्षतिग्रस्त हुआ है। हम जिस पश्चिम को आदर्श मान कर हुँआ हुँआ कर रहे हैं उसका समाज और उसकी समस्याएँ अलग हैं। उसके विचार हमारे लिए आदर्श नहीं हो सकते। हमें अपनी मुक्ति का अपना रास्ता खुद ढूँढ़ना होगा। हमें अंपनी दृष्टि की खोज स्वयं करनी होगी। पश्चिमी शिल्प के चलते हमारी कविता, हमारा कथा साहित्य, हमारा नाटक आज जिस तरह पाठकों से दूर होता चला गया है वह अत्यंत चिंता की बात है। हमारे साहित्य का हमारे लोगों से कोई संबंध नहीं रह गया है। हम अपने में मगन होकर एक दूसरे की पीठ ठोंक रहे हैं और इतिहास प्रवेश के लिए बेचैन आत्मा बने हुए हैं पर यदि हमने पाठकों पर ध्यान नहीं दिया तो इतिहास हमें कूड़ेदान में डाल देगा।

साहित्य का क्षेत्र संवेदना और विचार का क्षेत्र है। आज सबसे तेज हमला मनुष्य की संवेदना और विचार पर ही हो रहा है। प्रौद्योगिकी और व्यवस्थाओं तथा सत्ताओं का आक्रमण इतना चौतरफा है कि मनुष्य बौना होता जा रहा है। उसे जानबूझ कर बौना बनाया जा रहा है। साहित्य को इसके विरुद्ध खड़ा होना है। उसे मनुष्य को उसकी विराटता का बोध कराना है। उसकी संवेदना और उसके मूल्यों को जिंदा रखना है। आज की सूचना क्रांति 'ज्ञान' को 'सूचना' में बदल रही है। विचारधाराएँ और सत्ताएँ मनुष्य को विचार शक्ति से रहित कर रही हैं। ऐसे में साहित्य को हस्तक्षेप करना है। उसे मनुष्य की विचार शक्ति को कुंठित नहीं होने देना है। इस युग-संधि पर साहित्य की यह महत्त्वपूर्ण भूमिका होगी।

□

(निर्मल वर्मा से यतीन्द्र मिश्र)

वार्तालाप

रचनाकार हर जगह ईश्वर की तरह मौजूद रहता है, परंतु दिखाई नहीं देता

–निर्मल वर्मा

साहित्य सर्जना के लिए प्राणतत्त्व क्या चीज़ होती है?

अनुभव की जितनी समूची पूँजी हम जमा करते हैं, जब वो रागात्मक स्वर में या रागात्मक भावना में अवतरित होती है या अनूदित हो जाती है तो मेरे ख्याल से सीधे एक द्वार के खुल जाने की आशा बनती है। इससे अच्छा या उत्कृष्ट सृजन हो पाएगा या सफल कविता या कहानी लिखी जाएगी इसकी कोई गारंटी नहीं।

क्या आप ये मानते हैं कि साहित्य सर्जना में वैचारिक आग्रह को स्थान दिया जाना चाहिए?

वैचारिक आग्रह तो नहीं लेकिन विचार का अवश्य मैं महत्त्व स्वीकार करता हूँ। लेकिन विचार के भी बहुत से रूप होते हैं। एक विचार एक रूप में एक दार्शनिक के पास आता है। एक दार्शनिक, एक तत्त्वचिंतक विचार को जिस रूप में और जिस दृष्टि में गुनता है और जिसे वह अपनी जीवनदृष्टि का माध्यम बनाता है, वह उससे काफी अलग है जो विचार की भूमिका एक लेखक या कवि के भीतर होगी, वहाँ विचार भावना से अलग होकर नहीं आता भावना और विचार दोनों एक दूसरे के प्रदेश में न केवल दखल देते रहते हैं, बल्कि अंततः इस तरह घुल-मिल जाते हैं, कि किसी उत्कृष्ट कलाकृति में एक को दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। ये नहीं कि पहले आप्र विचार करते हैं फिर उसे भावनात्मक क्षेत्र में अनूदित करते हैं बल्कि एक सघन भावना के भीतर ही विचार बीज की तरह पड़ा हुआ होता है। इसलिए जो विचारवान् कविता होती है उसमें विचार और भावना को या संवेदना को एक दूसरे से अलग करना असंभव हो जाता है। मैं यदि उदाहरण के तौर पर कहूँ तो जयशंकर प्रसाद, निराला, अज्ञेय, ये विचारवान् कवि थे। लेकिन क्या इनकी कविताओं में यह विचार-तत्त्व ही इनकी काव्यशक्ति को इतना सघन, इतना गहरा और इतना चिंताकुल करने वाला बनाता था? अलग से मैं यदि कुछ कवियों का नाम लूँ जैसे महादेवी या पंत या बहुत सी कविताओं में शमशेर, वहाँ पर भावनाओं की बहुत ही मुख्य भूमिका होती थी। परंतु ये जरूरी नहीं है, कि इस तरह की साफ-सुथरी कोटियों में आप लेखकों या कवियों को बाँट सकें। देखिए, जहाँ कविता कमजोर होती है और विचार उस पर हावी होने लगता है—वहाँ कविता का आंतरिक सौंदर्य नष्ट हो जाता है। पंत की कविता इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। पंत मूलतः भावनात्मक स्तर के कवि हैं लेकिन श्री अरविंद के दर्शन से आसक्त या आकर्षित होकर उन्होंने एक दर्शन को अपनी कविता पर आरोपित करना चाहा। जिससे न तो दर्शन की गरिमा सामने आ पाई और न कविता का सौष्ठव ही प्रस्तुत हो पाया। इस दृष्टि से जब तक विचार और कविता भावना दोनों एक दूसरे के साथ बिल्कुल अंतर्गुम्फित नहीं हो जाते तब तक कविता के लिए वह एक श्रेयस्कर तत्त्व नहीं बनता।

आपके निबंधों में जो दर्शन पक्ष उभरता है, जो अध्यात्म विकसित होता है, वह सूक्ष्म चिंतन आप किस रूप में लेते हैं और उसका क्रियान्वयन साहित्य में किस रूप में करते हैं।

मैं नहीं सोचता कि मैं एक दार्शनिक के तौर पर निबंध लिखता हूँ। दार्शनिक के पास एक तरह का अवधारणात्मक ढाँचा होता है जिसे अँग्रेजी में Conceptual Structure कहते हैं। इसके भीतर विचारों और प्रत्ययों का खेल या क्रीड़ा होती है, जबकि मैं निबंध



निर्मल वर्मा अपने अध्ययन कक्ष में

लिखता हूँ तो उसके पीछे प्रेरणा किसी प्रकार की अवधारणात्मक या प्रत्ययमूलक नहीं होती। मैं उसे किसी सिद्धांत को प्रमाणित या निरूपित करने के लिए नहीं लिखता। जब समाज साहित्य या संस्कृति के कुछ प्रश्न मुझे परेशान करते हैं और मुझे लगता है (सही या गलत, यह अलग बात है) कि उनके बारे में स्पष्ट चिंतन की जरूरत है, ताकि वैचारिक कुहासे से बाहर आ जाया सके, तो निबंध लिखने की आंतरिक विवशता महसूस होती है। इस तरह की प्रश्नाकुलता जो निजी घेरे से बाहर जाकर समूचे समाज की चिंता बनकर मुझे व्यक्तिगत तौर पर परेशान करने लगती है। जैसे—धर्म या धर्मनिरपेक्षता का प्रश्न। जैसे—साम्प्रदायिकता तथा उसके अवशेष जो आज भी हमारे जीवन में बचे हुए हैं। पश्चिम का हमारे जातिगत संस्कारों पर आतंक। ये केवल दार्शनिक प्रश्न नहीं हैं—ये प्रश्न हमारी जीवन पद्धति के साथ जुड़े हुए हैं। इसका मतलब यह नहीं कि निबंध लिखने से कोई समाधान मिल जाता है, या मैं कोई उत्तर ढूँढ पाता हूँ, बल्कि इन प्रश्नों को तर्कसंगत ढंग से प्रस्तुत करना मेरा अभीष्ट है ताकि हम अपने भीतर की जमी हुई पूर्वनिर्मित धारणाओं और पूर्वाग्रहों को छाँट सकें और सोच सकें कि ये प्रश्न इतने आसान नहीं हैं। कुछ गहरे जाने की जरूरत है इनका सामना करने के लिए। वहाँ पर मेरे ख्याल से मेरे लिए कम से कम एक कहानी और उपन्यास से अलग निबंध की विधा शुरू होती है।

आपको लगता है कि आजकल जो साहित्य लिखा जा रहा है—खासकर उपन्यास और कहानियाँ, उसमें इतिहास इस कदर दखल दे रहा है कि उसकी किस्सागोई या उसका जो आदिम पाठ है वह भटक रहा है। क्या यह सही लगता है आपको? क्या इतिहास के साथ जुड़कर साहित्य अपने को विकसित कर पाएगा?

इस प्रश्न का उत्तर तो बहुत सीधा है, कोई भी चीज आप ले लीजिए—चाहे वह इतिहास हो, राजनीति हो, समाज हो, कोई भी चीज़ एक उपन्यासकार के लिए अछूत नहीं है। एक उपन्यासकार के लिए सब चीज़ें खुली हैं। वह सबको स्वीकार कर सकता है या अपने विवेक और अपनी रुचि के अनुसार, अपने रागात्मक झुकाव के अनुसार कुछ को विशिष्ट समझ सकता है, कुछ को चुन सकता है। इतिहास के साथ हम कैसा संबंध बना पाते हैं, यह ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। अगर मुझे झांसीवाली रानी का चित्र बहुत गहरे तौर पर लगता है कि प्रासंगिक है। जैसे—उसने अंग्रेज़ों के खिलाफ लड़ाई लड़ी थी। आज यदि मैं उसे परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से अपनी कहानी में लाता हूँ तो कोई हर्ज़ की बात नहीं है। कोई मुझे यह नहीं कहेगा कि वह अस्पृश्य है आपके लिए। वह आपकी किस्सागोई में बाधा डालेगी। लेकिन अगर मैं झाँसी की रानी या शिवाजी या महाराणा प्रताप या किसी भी इतिहास के हिस्से को अपने पूर्वाग्रहों को प्रक्षेपित करने का साधन या माध्यम बना लेता हूँ तो लोग कहेंगे—भई! इससे अच्छा तो सीधा इतिहास ही पढ़ते, आपका उपन्यास पढ़ने की क्या जरूरत थी। क्योंकि यह सब चीज़ें तो इतिहास में उपलब्ध हैं ही। एक उपन्यासकार इतिहास के तत्त्वों को इस तरह से रूपान्तरित करता है कि वह इतिहास से भी ज़्यादा अधिक हमें मानवीय सत्य की ओर उन्मुख लगता है। इतिहास तो तथ्यात्मक सत्य (Factual Truth) है। उस हकीकत को कल्पना में ढाल कर एक बेहतर परिप्रेक्ष्य में मानवीय सत्य में परिणत कर पाना ही एक उपन्यासकार की सबसे बड़ी चुनौती है। अगर वह इसे कर पाता है, तो मैं समझता हूँ कि वह टॉलस्टाय की तरह है, जिसने 'वार एण्ड पीस' जैसा महान उपन्यास लिख दिया।

आपकी निगाह में एक साहित्यकार की दृष्टि क्या होनी चाहिए?

मुझे लगता है कि इस प्रश्न का उत्तर कोई है नहीं, क्योंकि दृष्टि (Vision) अगर आप अमूर्त रूप से पूछें तो मैं कहूँगा कि एक ऐसी चीज़ है जिसे कभी परिभाषित नहीं किया जा सकता। एक लेखक का विज़न तो होता है, लेकिन उससे कोई पूछे कि क्या है—यह व्याख्यायित करना बेहद मुश्किल है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते थे—मैं तो समूचे जीवन को ही अपनी कविता का विषय बनाना चाहता हूँ। जीवन की सब समस्याएँ जो आपको आलोड़ित कर पाती हैं। जो आपके अनुभव के घेरे में आकर कहीं छुपे हुए यह संकेत बताती हैं कि ये ऐसा अनुभव है इसे यहाँ से न फिसलने दीजिए, क्योंकि ये ही आपको किसी सत्य की ओर ले जाएगा, तभी आप कलम उठाकर उस अनुभव को लेकर कविता या कहानी शुरू करने लगते हैं। लेकिन आप यदि 'दृष्टि' की प्रतीक्षा में बैठे रहे, कि जब तक मुझे कोई दृष्टि प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक मैं कहानी नहीं लिखूँगा तो यह कृत्रिम होगा। जो लोग बनी बनाई दृष्टि को अपनाते हैं, चाहे वो गांधीवादी दृष्टि हो, या मार्क्सवादी, वे कला से विचलित हो जाते हैं।

वर्जनाओं की व्याख्या आप किस तरह करेंगे, जबकि आप

प्रूस्त तथा वर्जीनिया वुल्फ से प्रेरित रहे हैं।

मेरे विचार से एक लेखक के भीतर अनेक तरह के अवरोध उत्पन्न होते रहते हैं। वे भावनात्मक स्तर पर हों या मानसिक धरातल पर, इन अवरोधों की कोई सामान्यीकृत व्याख्या नहीं की जा सकती। एक महिला लेखक, एक दलित लेखक का 'स्त्री' और 'दलित' होना उसकी शक्ति भी होता है, अवरोध भी। शक्ति इस अर्थ में कि उनके जैसे अनुभव किसी और के पास नहीं हैं, अवरोध इस अर्थ में जब वे उसे कुंठित करने लगते हैं...एक लेखक की उत्कृष्टता मेरे विचार में यही है कि वह अपने लेखन में, अपने चिंतन में, कितने साहस और जीवट के साथ इन अवरोधों का अतिक्रमण कर सके। इसी अर्थ में मुझे प्रूस्त तथा वर्जीनिया वुल्फ और दूसरे उपन्यासकार इतने विशिष्ट लगते हैं। वर्जीनिया वुल्फ ने नारी अनुभवों के सूक्ष्म स्तरों को अपनी रचनाओं में उद्घाटित किया है, जो अक्सर स्त्रियाँ महसूस तो करती हैं किंतु बाहर प्रकाश में लाने का साहस नहीं कर पातीं। उसी तरह से हम यह देखते हैं कि प्रूस्त ने जीवन के ऐसे बीहड़ और अँधेरे अनुभवों को छुआ है जो हममें से अधिकांश लोग जागते-सोते महसूस करते रहते हैं, लेकिन उन्हें शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है, उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

प्रूस्त हों चाहे शेक्सपियर हों, इन लोगों ने अभिव्यक्ति के द्वारों को न केवल खोला है बल्कि उसमें मनुष्य को मनुष्येतर स्तरों के प्रति अवगत भी कराया है। इसलिए हमें लगता है कि हम जो हैं उससे कहीं कुछ अधिक हो गए हैं—इनकी रचनाओं को पढ़ते हुए। शायद इसीलिए क्योंकि जीते हुए, अनुभव करते हुए हमारा बहुत बड़ा हिस्सा अवरोधों (वर्जनाओं) से छिपा रहता है। हमारी नग्न आँखों के सामने यह प्रकट नहीं हो पाता जोकि इन रचनाकारों की कृतियों में प्रस्तुत होकर हमारे सम्मुख आता है। इस कारण मुझे लगता है कि साहित्य, जो हमारा यथार्थ है उसे समृद्धतर रूप में हमारे आगे प्रस्तुत करता है।

श्रेष्ठ रचना क्या स्वयं रचनाकार की उपस्थिति का निषेध करती है या नहीं?

निषेध करती है या नहीं, यह तो कहना मुश्किल है—लेकिन यह ज़रूर कहूँगा कि जिस रचना को पढ़ते समय हम उसके रचनाकार को भूल जाएँ, यह उसकी भारी सफलता है। एक रचना का शायद स्वप्न भी यही होता है, सबसे बड़ी अभिलाषा भी यही होती है कि वह प्रकृति के उपादानों की तरह नैसर्गिक जान पड़े। उसकी अनिवार्यता में ही उसका होना निहित होता है। यह तभी संभव हो सकता है जब हमें बार-बार यह महसूस न हो कि कठपुतलियों की तरह, इस रचना के पात्रों या भाषा की प्रवृत्तियों के पीछे कोई धागा बँधा है और वह किसी दूसरे के हाथ में है। कठपुतलियों के नाच का सौंदर्य तभी हमारे सामने प्रकट होता है, जब हम कठपुतलियों को नाचते हुए तो देखें लेकिन उनके पीछे जो धागे हैं वे हमें न दिखाई दें। यही उपस्थिति रचनाकार की रचनाओं में होनी चाहिए। रचनाकार ईश्वर की तरह होता है, जो हर जगह व्याप्त रहता है मगर दिखाई नहीं देता।

आप स्वयं को व्याख्यायित किस तरह करेंगे। व्यक्ति निर्मल वर्मा और रचनाकार निर्मल वर्मा में वस्तुनिष्ठ अंतर क्या हैं?

आत्यन्तिक रूप से तो शायद कोई अंतर नहीं है, लेकिन यह अवश्य है कि लिखते हुए जो केंद्रीभूत भावना सामने आती है—जीने के समय जो व्यक्ति हूँ, जिसे हम दैनिक या व्यक्तिगत जीवन कहते हैं उसमें एक तरह का विशृंखलित बहाव रहता है। उसमें कुछ चीज़ें दिखाई देती हैं, कुछ चीज़ें आँखों से ओझल हो जाती हैं, कुछ के लिए एक अजीब सा अफसोस या पश्चात्ताप रह जाता है। उस पश्चात्ताप की क्या रेखा है, कैसा स्वरूप है—वह भी पूरी तरह दिखाई नहीं देता। जो भावनाएँ हमारे भीतर व्यक्ति के रूप में उठती गिरती रहती हैं, कम से कम मैं अपने बारे में कह सकता हूँ कि उन भावनाओं को घनीभूत दृष्टि से, एकान्तिक रूप से एक जगह समेट कर उनका कोई पैटर्न बन सके, उनमें कोई संगति दिखाई दे सके—यह लेखक के रूप में ही मैं प्राप्त कर सकता हूँ।

शायद यह कहना सही होगा कि लेखक वह नहीं है—जैसा वह व्यक्ति के रूप में जीवन बिताता है। लेकिन व्यक्ति के रूप में जो जीवन बिताता है वह अवश्य ही अपनी झलक, अपने अनुभव की खुरचन और खरोंच अपनी रचनाओं में छोड़ जाता है।

मृत्यु, भय, हर्ष, ईर्ष्या, प्रेम, साहचर्य, पीड़ा तथा आसक्ति की कितनी भूमिका साहित्य में होनी चाहिए ? एक रचनाकार के लिए इन उपादानों का प्रयोग कहाँ तक प्रासंगिक है?

आपने जिन भावनाओं या जिन अनुभूतियों का नाम लिया है, यह सब रचनाकार की सृजन धरा को उर्वर बनाती हैं, अनुभूति का कोई भी क्षेत्र एक लेखक के लिए वर्जित प्रदेश नहीं है। बल्कि मैं तो यह भी कहूँगा कि अनुभव का ऐसा प्रदेश जोकि 'यथार्थ'

में नहीं है उसे भी लेखक ढूँढ़ निकालता है। कोलम्बस की तरह से एक नई 'दुनिया' खोजता है जबकि वह दुनिया हमेशा से ही मौजूद थी। बावजूद इसके कि हम कह सकते हैं कि अमुक व्यक्ति ने इस सदी में या इस वर्ष में वह देश, वह प्रदेश या वह दुनिया खोज निकाली। वैसे ही हम कह सकते हैं कि प्रूस्त के आने से पहले मनुष्य की कई अनुभूतियों के बारे में हमारा परिचय ही नहीं हुआ था, हालाँकि वे अनुभूतियाँ पहले से ही हमारे भीतर मौजूद थीं। शेक्सपियर के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने ही सबसे पहले व्यक्तिगत (Individual) को आविष्कृत किया था। अमेरिकी आलोचक हैरल्ड ब्लूम का बहुत सुंदर वक्तव्य है कि शेक्सपियर से पहले व्यक्ति चेतना के बारे में हमें कुछ भी नहीं मालूम था। यह नहीं कि व्यक्ति चेतना मनुष्य में थी नहीं, लेकिन शेक्सपियर के नाटकों ने इसे पहली बार चरितार्थ किया। हम जान पाए कि एक व्यक्ति के भीतर किस तरह की विडम्बनाएँ, किस तरह के अंतर्द्वन्द्व काम करते हैं। एक व्यक्ति की अवधारणा, मनुष्य की सामान्यीकृत छवि से कितनी अलग है। समाज में व्यक्ति का जन्म कोई साहित्यकार की कृतियों में पाए, यह बहुत बड़ी चीज़ है। ऐसा इसलिए संभव हो पाता है कि हम हमेशा ही अपने भीतर होने वाले अनुभवों को नाम नहीं दे सकते। एक रचना में जब वे आते हैं, तो हमें लगता है कि घृणा की यह अनुभूति, ईर्ष्या का यह स्वरूप भी होता है। प्रूस्त को जब आप पढ़ते हैं तो लगता है कि ईर्ष्या के इतने स्तर हो सकते हैं। उन्होंने कितनी गहराई में जाकर इस भावना को उकेरा है, देखकर आश्चर्य होता है। कहा जाता है कि मनुष्य का जो शरीर है उसमें तो विकास नहीं हो सकता लेकिन मनुष्य के भीतर जो अन्तर्भूत दृष्टियाँ हैं—उनमें विकास होता रहता है। जैसे कि ग्रीक्स के समय में समुद्र को यह कहा जाता था कि वह शराब (Wine) की तरह उफन रहा है लेकिन उसका कोई और रूप हो सकता है, समुद्र का किसी अन्य तरह वर्णन किया जा सकता है—यह बहुत वर्षों बाद ज्ञात हुआ। मनुष्य के बोध की जो शक्ति है, वह जब तक धीरे-धीरे विकसित नहीं होगी तब तक समुद्र, आकाश, पर्वत आदि के रंगों के बारे में हमारा ज्ञान बहुत ही सीमित होगा। यह एक अजीब चीज़ है कि इवोल्यूशन यानी मनुष्य के शरीर का विकास एक जगह रुक जाता है, लेकिन उसके देखने, समझने और अनुभूत करने की शक्तियाँ बराबर विकसित होती रहती हैं। साहित्य के भीतर हम इस विकास की प्रक्रिया को जिस सघनता से देख पाते हैं, उतना कहीं और नहीं।

एक कथाकार की समाज-सापेक्षता उसके अंतर्जगत् से किस तरह प्रच्छन्न होती है?

मेरे विचार में जितना हम रचना (कविता, कहानी, उपन्यास) के माध्यम से रचनाकार की समाज-सापेक्षता ही नहीं, उसके युग की जितनी भी महत्त्वपूर्ण और केंद्रीय भाव हैं, उनके साथ उसका क्या संबंध है—यह भी धीरे-धीरे उद्‌घाटित करते हैं। हम रचनाकार के लोक को समाज तक ही सीमित न करें, यह मेरा हमेशा से आग्रह रहा है। क्योंकि यदि समाज के भीतर के संघर्षों तक ही उसकी रचनाएँ प्रतिबिम्बित उसे करती हैं, तो वह एक ऐतिहासिक दस्तावेज तो हो सकता है जिसके माध्यम से हम जान पाएँ कि उसके समय में समाज में किस तरह की उथल-पुथल हो रही थी और उस लेखक का समाज के प्रति क्या दृष्टिकोण था—प्रगतिशील था या प्रतिक्रियावादी था। परंतु इससे कोई बात बनती नहीं जान पड़ती। बाल्ज़ाक के बारे में कहा जाता है कि समाज के प्रति उनका दृष्टिकोण बहुत ही अभिजातवर्गी (Aristrocratic) था। जबकि उनके उपन्यासों में उसी कुलीनता से उत्पन्न पाखण्ड के बारे में, स्वार्थों के बारे में, उसके पतन के बारे में उनकी बड़ी आलोचनात्मक दृष्टि थी। एक लेखक के बारे में आप कह सकेंगे कि समाज के प्रति उनका दृष्टिकोण एक व्यक्ति के रूप में अलग था और रचनाकार के रूप में बिल्कुल अलग।

मेरे ख्याल में प्राथमिक रूप से हमें रचनाओं के भीतर किस तरह के समाज का संश्लिष्ट विश्लेषण किया जाता है, उस पर अधिक ध्यान देना चाहिए। लेखक समाज के प्रति क्या दृष्टिकोण रखता है, यह बहुत ही गौण चीज़ है और कभी-कभी तो वह बिल्कुल विरोधी होता है, जो उसने अपनी रचनाओं में प्रकट किया है।

एक रचनाकार के रूप में मोक्ष पर आपकी क्या अवधारणा है?

मैं सोचता हूँ कि यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है कि एक रचनाकार धीरे-धीरे, उत्तरोत्तर अपने पूर्वाग्रहों एवं भ्रमों से मुक्ति पाकर सत्य की रोशनी में आता है, यही मोक्ष का अनुभव है। मोक्ष का मतलब है—अपने अहं की कुहेलिका से छुटकारा पाना। अहं, भ्रमों (Illusion) का सबसे सशक्त स्रोत है और जब हम अपने भ्रमों से छुटकारा पा लेते हैं, तब माया की सृष्टि से स्वयं को अलग कर देते हैं। मोक्ष का अर्थ एक रचनाकार के लिए आत्मविस्मृति से आत्मस्मृति

या आत्मसाक्षात्कार की तरफ आना है।

एक बहुत सुंदर बात कुमारस्वामी ने कही थी कि एक रचनाकार 'सेल्फ़ फ़ॉरगेटफ़ुलनेस' (Self-forgetfulness) प्राप्त करता है। अर्थात् रचनाकार स्वयं को भूलकर रचना में प्रतिष्ठित हो जाता है। यहाँ सेल्फ़ का मतलब 'आत्म' नहीं 'अहं' है। अहं को भूलकर ही सत्य की प्राप्ति या मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

मेरे ख्याल से एक रचनाकार के लिए सार्थकता का सबसे सफल क्षण तब होता है, जब वह अपने अहं की दुनिया से मुक्त होकर एक वृहत्तर यथार्थ में प्रवेश कर सके। तभी वह महान रचनाकार बन पाएगा, क्योंकि उसी क्षण वह अपने को अनेक अवस्थाओं में, अनेक स्थितियों में, अनेक प्राणों में अवस्थित कर सकता है। मोक्ष इसलिए रचनाकार का अपने अहं से छुटकारा पाने का रास्ता है।

आपको इस वर्ष का ज्ञानपीठ-पुरस्कार देने का निर्णय लिया गया है। इस पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

मुझे प्रसन्नता तो हुई किंतु मेरे लिए यह अप्रत्याशित भी था। यह जरूर है कि इस तरह के पुरस्कार मिलने के बाद एक लेखक जरूरत से ज़्यादा अपने पर एक अदृश्य बोझा सा महसूस करने लगता है, जो लेखन की मुक्त प्रक्रिया को थोड़ा-बहुत अवरुद्ध करता है। मैं आशा करता हूँ कि उतने ही सहज रूप में लिखता रहूँ—जैसाकि पिछले वर्षों में लिखता रहा हूँ।

पुरस्कार से इतना तो ज़रूर होता है कि एक लेखक को लगता है कि उसके लेखन को थोड़ी बहुत वैधता (Legitimacy) मिली है वह चाहे एक झूठी सांत्वना क्यों न हो। लिखना स्वयं में बहुत अकेलेपन का काम है, उसका बीहड़ जोखिम किसी सम्मान या पुरस्कार से कम नहीं हो जाता। वह हर रचना में, हर पुस्तक में उसी विकराल रूप में सामने आता है, जैसा वर्षों पहले हमने लिखना शुरू किया था। नई रचना लिखते समय न पुरस्कार काम आते हैं, न पुराना अभ्यास और न ही पुरानी सफलताएँ। उस क्षण एक रचनाकार उतना ही निरीह और शंकालु होता है जितना पहली कहानी लिखने के वक़्त। □

चिड़िया रैन बसेरा

निबंध

विद्यानिवास मिश्र

बसेरे की सुधि दो ही समय आती है या तो तब जब आदमी थककर चूर होता है या फिर तब जब बसेरा सदा के लिए छूटने को होता है। आज जिस मोड़ पर मैं हूँ उसमें एक ओर तो बसेरे का बड़ा मोह जागता है या यों कहें बसेरों का बड़ा मोह होता है क्योंकि बसेरे भी बहुत बने; उजड़ा कोई नहीं। पर मेरा कुछ-न-कुछ अंश जरूर उजड़ता गया है। कबीर का पद याद आता है— जिसका अर्थ यही है 'हंस' सरोवर कैसे छोड़े, जिस सरोवर में मोती चुगता रहा। जिसमें रहकर कमलों से केलि की। वह सरोवर भी छूट रहा है और वह कैसे छूटे ? ऊँचे गगन का निमंत्रण हो तो भी क्या? खुलेपन का निमंत्रण हो तो भी क्या? अमरत्व का निमंत्रण हो तो भी क्या। मोक्ष का निमंत्रण है तो भी क्या। सरोवर मानसरोवर भी नहीं था। मामूली पोखर। जिसमें जल का अंश नाम मात्र को रह जाता है। धूप है—झलमल चमकने भर को। जल कम कीच ही अधिक रहती थी। कमल जरूर खिलते थे और परिश्रम से खिलते थे। ऐसे पोखर को भी छोड़ते समय दर्द तो होता ही है।

हंसा प्यारे सरवर तजि कहँ जाय
जेहि सरवर बिच मोतिया चुगते, बहुविधि केलि कराय
सूखे ताल पुरइन जल छाड़े, कमल गए कुम्हिलाय
कहे कबीर जो अबकी बिछुरे बहुरि मिलो कब आय

बसेरा मेरा बनाया हुआ कोई नहीं था। बसेरा बनाने की कभी इच्छा जगी भी, कुछ नक्शा बना भी पर जाने क्यों कंकड़-पत्थर जोड़ने का उत्साह नहीं हुआ। जोड़ते देखने में मजा जरूर आता था। बचपन में घर का खेल खेलने में भी मजा आता था। जेठ की दोपहरी में घर के पिछवाड़े ईंटों का अंबार लगा था उन्हीं को जैसे-तैसे एक के ऊपर एक रखकर और माटी के गारे से चिपका कर घर बना लेता था अपनी छोटी बहनों का सहयोग लेता था। उनके लिए उनके मुताबिक उनके गुड्डे-गुड़ियों के लिए बसेरा बनाता था। किसी को न लू लगती थी न थकान। घर की योजना पर बहस होती थी। बड़ी मुश्किल से तय होता था कि दरवाजा किधर होगा? खिड़कियाँ कैसी होंगी? घर दो मंजिला होगा। सीढ़ी बनेगी। और तब घर बनना शुरू होता था। सारी दोपहर मेहनत करने पर भी घर कभी-कभी ही बन पाता था और बन भी जाता था तो किसी-न-किसी की कौतिकी क्रीड़ा से ढह भी जाता था। ऐसे अत्यंत क्षण भंगुर घरों के निर्माण के अलावा किसी दूसरे घर के निर्माण का भाग्य मुझे मिला नहीं। हमेशा दूसरों के बने बनवाए घरों में ही रहा। गाँव का घर छोड़ भी दें तो लम्बे समय तक किराए के घरों में रहा। ईश्वरीय कृपा को बार-बार स्मरण करता रहा कि यह बखरी रहियत है भारे की यह बखरी, यह घर यह शरीर सब भारे के हैं। अगर भारे के इन सब घरों को जोड़ता चलूँ तो भय है कि कोई-न-कोई छूट जाएगा। कम-से-कम मन से क्रम ठीक नहीं बन पाएगा। तब भी इन सभी घरों का, घरों की कोई-न-कोई गंध, कोई सुवास, कोई-न-कोई स्पर्श अभी तक प्राणों में है, रोम-रोम में है। इनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जिसे मैं पराया कह सकूँ। कोई भी इनमें से मेरा नहीं है पर मेरा जितना अपना होता है उससे अधिक अपना है। शायद इसीलिए इन सबके साथ बड़ा खट्टा-मीठा अनुभव जुड़ा हुआ है। भोजपुरी में इसे 'अम्लोन' कहते हैं। और वैसा स्वाद अभी भी रसना में है। ललक बनी हुई है। अपभ्रंश में इसी को 'अम्बड़' कहते हैं और प्रिय के संदर्भ में किसी दोहे में यह कहा गया है

कि प्रिय ने अम्लोन स्वाद लगा दिया है उसके लिए मोह अब भी है। मुँह में पानी भर आता है। कुछ ऐसा ही संबंध है कुछ ऐसी ही लाग...बसेरों में से प्रत्येक बसेरे ने लगा रखी है। मैं उन्हें याद नहीं करना चाहता हूँ और दार्शनिक भाव से सोचना चाहता हूँ 'घर वही है जो थके को रैन भर का दे बसेरा' दार्शनिक भाव से वक्तव्य देना तो आसान है। ममताव में आदमी के लिए खोना कठिन है। ममता के त्याग की बात करते हैं। ममता से त्याग करेंगे तो आदमी कहाँ रहेगा। ममताओं का जाल जितना ही फैलता जाता है उतना ही आदमी का विस्तार होता है। ममता जितना बाँधती है उतना ही उसे कहीं मुक्त भी करती है। जितना अधिक जाल है उस जाल को बढ़ाकर, तानकर तोड़ देने की कोशिश भी है। वह दायरा मात्र नहीं है। दायरों का ऐसा विस्तार है जिसमें दायरों की सीमा दिखती ही नहीं। जितनी वह कमजोरी है उससे अधिक आदमी की शक्ति है।

मैं यह सब विमर्श करते हुए दार्शनिक मुद्रा में फिर लौटना नहीं चाहता। मैं तो बस बसेरों की बात करना चाहता हूँ। बसेरों से अधिक, बसेरों को एक बार फिर, हर बार एक बसेरे में लौटकर, अपने को स्थापित करना चाहता हूँ। कर सकूँगा या नहीं। नहीं जानता। कोशिश करना चाहता हूँ। घर में रहने वाला घर के बारे में नहीं सोचता। जितना घर से कई बार बाहर जाकर घर के बारे में सोचता है।

कोई पूछे तुम्हारा घर कहाँ है? तो मैं उत्तर देते समय लड़खड़ाने लगूँगा किसे घर कहूँ। जहाँ जन्म हुआ उसे, जो मेरे जन्म के दो ढाई साल बाद ढहा दिया गया। उसके बाद नया घर उठाया गया उसे मानूँ। छुट्टियों में ननिहाल के खंडहरनुमा घर में भारतेंदु काल के विपुल साहित्य के भंडार का आलोड़न-विलोड़न किया। अधिकतर समझ में नहीं आया। तरह-तरह के नाम आँखों के सामने तैरते हैं उसे घर कहूँ क्योंकि उस समय हिंदी में कुछ वैसा ही लिखने का मन जगा। संस्कृत में जन्म हुआ। उसी ने मुझे पाला-पोसा और मैं उसी घर के कारण हिंदी के घर में चुपके से बैठने का संकल्प ले बैठा। या उसे घर कहूँ जहाँ मैं रहा। शहर वाले घर को घर कहूँ जहाँ से मैंने स्कूली और प्रारंभिक शिक्षा पायी। वहाँ चार घर बदले या घर इलाहाबाद के एक कोने से दूसरे कोने तक के अलग-अलग कोठरियों को कहूँ जहाँ मैंने ग्यारह वर्षों का समय कुछ अध्ययन और स्वावलम्बनजीवी के संघर्ष में बिताया। या फिर विंध्य के दिन में तपते शाम, सियराते पहाड़ों पत्थरों को फोड़कर बनने वाली नदियों, सिर से टकराने वाली अटारियों और दरबारियों और भाषा के अतिशय विनम्रतावाली भाषा के बोलने वाले पितरों के बीच पहले, अजनबी की तरह सेवा छोड़ते-छोड़ते अपना बनकर दूसरे पड़ाव की ओर चला या फिर लखनऊ शहर के पं. भैया साहब श्री नारायण चतुर्वेदी के उस मकान की जहाँ लखनऊ के सूचना विभाग में प्रारंभिक दिन गुजारे। पार्क रोड के सामने वाले घर में रहे। वहीं पहली बार मेरे साथ नवजात बेटी रही। उसका घर का नाम भी वहीं काबुलीवाला फिल्म देखकर 'मिनी' रखा। वहाँ की साहित्यिक गोष्ठियों और वहाँ रहते हुए सूचना विभाग के सरकारी नौकरी के बीच अखंडित और अक्षत पाने का परितोष लेकर विश्वविद्यालय की चाकरी में प्रवेश हुआ। या फिर गोरखपुर में वहाँ के एक संयुक्त परिवार के साथ रहते हुए और अध्यापन में विभागीय प्रतिकूल परिस्थितियों में रहते हुए अत्यंत सक्रिय और उतार-चढ़ाव भरे जीवन में इतना कुछ तीता हो सकता है वह सब मैंने चखा और चखकर भी विशेष अनुग्रह इष्ट देवता का रहा होगा कि कुछ भी तीता नहीं हुआ। उसी अवधि में मैंने विदेश यात्राएँ शुरू कीं और लगभग तीन किश्तों में दीर्घ प्रवास के लेख बने। दीर्घ प्रवास के घरों को भी अपना घर कैसे न कहूँ बल्कि उन्होंने अपने घर का आकर्षण प्रीतिकर बनाया। एक अन्य भिन्न संस्कृति के संघात ने अपने को अति दीप्त बनाया। केवल अपनी याद दिलाकर नहीं बल्कि अपने स्वरूप की संपूर्ण पहचान एक एकदम भिन्न रंगवाली पिछवायी के रूप में बड़े स्पष्ट रूप से करवाई। या फिर बनारस को मैं घर कैसे न कहूँ जहाँ मैं सबसे अधिक अवधि तक रहा और कभी भी उस समय देश के बाहर नहीं गया। शुद्ध शास्त्रीय पंडितों के बीच में रहते हुए और संस्कृत का आदमी होकर आधुनिक भाषा और भाषा विज्ञान विभाग का अध्यक्ष रहा। न सेतू रहा न संत। दो नाव पर एक साथ सवार रहा। बल्कि मैं यों कहूँ दो घोड़ों का संचालन करता था। कभी एक पर सवार रहता कभी दूसरे पर लेंकिन दोनों को चलाता रहा। यह मेरी नियति रही। एक ओर लेखक रहा दूसरी ओर अध्यापक, प्रशासक और भी न जाने क्या-क्या रहा। लेखक वाला घोड़ा बड़ा, तो भी उस पर बैठने से ही इतनी क्षमता आई कि दूसरे घोड़े को भी सँभाल सका। इसके बाद ब्रजमंडल स्थित आगरे में करीब नौ वर्ष रहा। मन से वहाँ आगरे से अधिक वृंदावन में रहा। तन और मन के घरों को भी अपना घर कैसे न कहूँ। सब जगहों में रहते हुए जो मेरे घर, एक विशिष्ट घर और वह भी चक्रमणशील

का घर बन गया था। उसको भी मैं घर कैसे न कहूँ जहाँ सभी उत्सुकता से प्रतीक्षा करते रहे आज भी वो शब्द कानों को सुनाई देते हैं—आप बड़े गड़बड़ आदमी हैं आपने कल आने को कहा था कल क्यों नहीं आए। आपके आने को होता है तो न जाने कितने फोन पहले ही आ जाते हैं। उस अपनी अनुपस्थिति के संकुल से भरने वाला आदमी उस घर में इतना महत्त्व पाता था कि मेरा सामान तक सम्हाल कर रखते थे। भाई स्वयं पैक करते थे और एक-एक चीज इस ढंग से मेरे कमरे में रखी जाती थी यह मैं कभी नहीं कर पाऊँगा। आगरे से फिर लौटा तो बनारस। एक छोटे से घर में आया। दो-दो विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में विपत्तिजाल बंगलों में रहा और उन्हें भी घर कहना पड़ेगा। मेरा वश चलता तो मैं उन्हें जंगल कहता। लेकिन उन्हें जंगल नहीं कहूँगा। उससे बड़ा जंगल चेतना संवेदना से शून्य अजनबियों का जंगल था। तीनेक साल मैं दिल्ली रहा। कहने के लिए ऐश्य पर वस्तुतः खालीपन के एक प्रयोग के बाद दूसरे प्रयोग करते हुए उसी के पूरा होने की कोशिश करता रहा। पर था तो वह भी बसेरा ही। केवल रात का नहीं, दिन-रात का बसेरा। सेहत के लिए लोग साइकिल चलाते रहते हैं और साइकिल एक इंच आगे नहीं बढ़ती है। वैसे ही पत्रकारिता का जीवन है आप उड़ान भरते रहिए पर एक इंच आगे नहीं जाते हैं। उस फर्ज से जल्दी छुट्टी ली। जल्दी मैं किसी से खीझता नहीं। खीझी हुई उक्ति है कि उस विराट मरुस्थल में रहते हुए कई बार अमेरिका जाने का मौका लगा और वहाँ कई घर बन गए। ऐसे घर जहाँ से लौटना कठिन हो जाता है। दूरदराज के भारतीय इतने स्वजन हो जाते हैं कि वे घर का और 'घर' शब्द का अर्थ ही बदल देते हैं। शायद बसेरा नहीं घर है। घर है—अपरिचय का परिचय बनना। केवल बालपन की ही प्रीत नहीं छूटती दूसरे जन्म के भी कुछ अहेतुकी संबंध होते हैं और एकाएक प्रकट होते हैं जो एक बार जुड़ जाते हैं तो नहीं छूटते हैं।

उसके बाद मैं बनारस में हूँ और अब शायद पाँच वर्ष हो रहे हैं। विदेश यात्राएँ अब भी हो रही हैं पर बनारस में रहते हुए लगता है यह तो घर भाव का ही महाश्मशान है। यह तो **बेघरपन** का घर है। इस घरपन में रहते हुए बसेरों की बात करना चाहता हूँ। क्या मुझे किसी दूसरे बसेरे की तलाश है? बसेरे की तलाश है तो क्या कंकड़ चुनने का मन या तन रह गया है? वैसे तो मैंने किसी बसेरे के लिए कंकड़ नहीं चुना पर आगे जिस बसेरे की खोज है उसके कंकड़ जरूर चुनूँगा। कंकड़ नहीं बल्कि तिनके, तरह-तरह के तिनके, हर तिनके का एक इतिहास है, जिसे तोड़ते हुए कोई बेमतलब की पर अंतरंग बात हुई है। जिसे भवभूति ने बेसिलसिले की बकवास कहा है, क्रमेण कहा है, वैसा ही कुछ। जिसमें रात ही बीत गई है और बातों का सिलसिला नहीं चुका है। इन तिनकों को चुनना इसलिए नहीं है कि मैं घर को, इस रैन बसेरे को याद रखना चाहता हूँ, इसलिए कि इन तिनकों के साथ जुड़े रागात्मक संबंधों को किसी महाराग में रूपान्तरित करना चाहता हूँ। असंख्य युवामनों और किशोर मनों के भीतर उफनते हुए और उफनकर भी भीतर-ही-भीतर सिमटते हुए लजीले सपनों का रूपान्तरण जैसा होता है, मदन महोत्सव, बसंतोत्सव—वैसा ही कुछ रचना चाहता हूँ। एकदम कबीर, पलटूदास जैसे लोगों का निर्गुनिया उत्सव नहीं। 'मोहन खेले फाग' या 'शिवशंकर खेले फाग' वाला उत्सव। शिवशंकर तो गौरा को संग लिए हुए फाग खेलते हैं, मोहन बेचारे के साथ तो यह है कि 'बन-बन फूले टेसुआ, बगियन बेलि; चले विदेश पियरवा फगआ खेलि'। दोनों फाग संग, सहयोग और विरक्त के फाग हैं— अपने-अपने ढंग के—समस्त लोक और विस्तार कहें तो समस्त ब्रह्मांड के। इसमें सभी आश्रय हैं और सभी आलंबन। और सबसे बड़े मजे की बात यह है कि यह उत्सव असंख्य तिनकों को, तिनकों वाले बसेरों को होलिका की आग में झोंककर उसी की राख से खेला जाता है। यह आग भी विचित्र है, तिनकों को राख बना देती है, बड़े-बड़े शहतीरों को भी राख बना देती है। पर संबंध राख में भी अपने सुवास छोड़ जाते हैं। उन्हीं संबंधों के इस रूपांतर से भक्ति का बीच पड़ता है, परानुरक्ति का बीज पड़ता है, सर्वस्व समर्पण का बीज पड़ता है। इसीलिए बसेरा मैंने स्वयं कभी बनाने की जहमत नहीं उठाई। जैसा जहाँ मिला उसे अपना लिया। उसके सुख-दुख अपना लिए। उसकी राग-रंगता अपना ली। जब वहाँ से चला तब कुछ लिया नहीं, थोड़े-से संबोधन छोड़ दिए। संबोधन के रूप में मैं बना रहा। लोगों को बसेरा बनाने में तल्लीन देखा तो लगा कि मुझे भी कोई बसेरा बनाना चाहिए, लेकिन ईंट-सीमेंट वाले आदमियों को देखते हुए मेरा संकल्प अपने आप बुझता रहा। और मैं देखता रहा स्वयं को एक अनजान देहरी से एक अत्यंत अपरिचय के आँगन में प्रवेश करते हुए। जीवन की देहरी-देहरी पर, जाने-पहचाने आँगन में प्रवेश करते हुए संतोष होता है—इस प्रपंच में मैं नहीं पड़ा। अपने ही शहर में देखता हूँ पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने

घर बनाया। डॉ. चन्द्रबली पाण्डेय ने घर बनाया। पं. बलदेव उपाध्याय ने घर बनाया और और भी बहुत सारे विद्वानों ने, गुणवंतों ने घर बनाया और वे प्रायः सभी-के-सभी सूने हैं और उनमें रहने वाले कोई हैं तो भी उन्हें कोई जानता नहीं है। इतना शानदार मकान चौधरी बद्रीनारायण प्रेमघन का, बिक गया। यह नहीं कि उनके उत्तराधिकारी असंपन्न थे। घर बनाने का अर्थ होता है घर रखाना क्योंकि घर में जो आगे रहने वाले हैं वे अपनी रुचि के घर में रहेंगे। इस पुरानी पड़ती डिजाइन वाले मकान में क्यों रहेंगे। कुछ वर्ष बीत जाएँ और कीर्ति कुछ फैल जाए तो पूरा मकान ही फिर नया हो जाता है और उस खँडहर को ज्यों-का-त्यों रखने के लिए लोग आंदोलन भी करने लगते हैं, उसे सार्वजनिक संपदा बनाने के लिए आंदोलन करने लगते हैं। मुझे ऐसे घर के मोह-जाल में नहीं फँसना है, यह मैंने निश्चय कर लिया और जो भी चार दिन इस भाड़े की बखरी में रहना है, उसके लिए एक और बखरी बनाने की जहमत मोल लेना नहीं चाहता। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी विनोद में कहते थे कि लोग कहते हैं कि आश्रम-व्यवस्था अब नहीं है, गलत कहते हैं। जनमते ही तो लड़का संन्यासी हो जाता है इस स्कूल से उस स्कूल में बाप का तबादला हुआ, फिर नए स्कूल में—सच्चा परिव्राजक बन जाता है वह। कपड़े नहीं रँगता पर संन्यासी की सभी विशेषताएँ अपना लेता है। और आजकल के प्रबुद्ध लड़के तो घर-बार का पूरा मोह छोड़ देते हैं। माँ-बाप देश पर मरते भी हैं तो वे संवेदना के तार भेज देते हैं। पुराने जमाने में आदमी वृद्धावस्था की अगवानी में ही वानप्रस्थ लेता था, अब उसी समय गृहस्थ होता है, उसी समय घर बनवाना चाहता है; बच्चे सब घर के बाहर हैं, वानप्रस्थ में, संन्यास में वे ही हैं। ब्रह्मचर्य-आश्रम की चर्चा उन्होंने नहीं की थी। शायद स्वीकार नहीं करना चाहते थे कि ब्रह्म में चलना, रहना, जीना इस जमाने का मुहावरा ही नहीं रह गया है इसलिए वह आश्रम जो पोथियों में ही जीने के लिए बना था उन्हीं में डरकर छिप गया है। अब अध्ययन के लिए अध्यवसाय पुरानी सड़ी-गली चलन के रूप में माना जाता है। एक ऐसे परीक्षा केंद्र के बारे में मैंने कुछ ही साल पहले सुना था कि वह परीक्षा के दुस्तर सागर को पार करने के घाट के रूप में बना था। जितनी खेवाई दें उस अनुपात में पास हो सकते हैं, श्रेणी पा सकते हैं और उत्तम श्रेणी पा सकते हैं। इस उपलब्धि के लिए पुस्तक, उत्तर-लेखक, सुलभ किए जा सकते हैं। आगे दिग्विजय यात्राएँ भी की जा सकती हैं जिनसे उत्तम श्रेणी मिल सकती है। एक अनपढ़ किसान का बेटा आया परीक्षा देने। पिता ने पहले प्रकार की खेवाई दी, पुत्र परीक्षा केंद्र से निकला तो पिता उत्साहित था "सारी व्यवस्था हो गई न?" पुत्र ने चयनित शब्दों में पिता की अभ्यर्थना की फिर उसे संतोष नहीं हुआ तो जूतों से भी उनका पर्याप्त सत्कार किया—"तुमने इतनी कंजूसी की कि मुझे सिर्फ किताब मिली, मैं क्या जानूँ किताब में कहाँ क्या लिखा है, चौगुनी खेवाई देते तो उत्तर तैयार मिलते।" तो ब्रह्मचर्य ऐसे ही आतंकों से त्रस्त होकर कहीं चरने चला गया है।

इस क्षेपक को छोड़ें। आश्रम तो कहीं कोई नहीं है। आश्रम का अर्थ है जहाँ आदमी श्रम करे और श्रम करके गौरव का अनुभव करे। सुख का अनुभव करे। अब श्रम तो है, कम-से-कम श्रम का घटाटोप तो है। श्रम संगठित शक्ति है पर श्रम से कुछ नहीं मिलता है, सुख से श्रम होता है। श्रम करना अच्छी बात नहीं समझी जाती, श्रम का अधिकार पाना अच्छी बात समझी जाती है। जो जितना कम श्रम करके जितना अधिक श्रम का अधिकार प्राप्त करे वह उतना बड़ा श्रमिक। ऐसे में आश्रम कहाँ से होंगे। आश्रम तो ऐसे श्रम की जगह है जहाँ वह सौंदर्य है, कुरूपता नहीं, वह पहचान है आदमी की। मैंने कई बार सोचा कि कोई आश्रम जैसी जगह हो जहाँ 'अजगर करे न चाकरी' वाली स्थिति चाहे न हो, 'पंछी करे न काम' जैसी स्थिति अवश्य हो। जहाँ मजूरी न करनी हो, मजूरी के लिए काम न करना हो पर निष्प्रयोज़न कुछ करते रहना हो, किसी से कोई अपेक्षा न हो, पर मैंने देखा कि आश्रम तो सबसे अधिक अपेक्षाओं के स्थान बन गए हैं। पुस्तकों के बीच ही विश्वविद्यालय से विश्राम लेते ही शेष जीवन बिताने का निश्चय किए हुए था, पर एक-से-एक ऐसे उत्पात आते गए कि मैं चक्कर घिन्नी बना घूम रहा हूँ। काशी में रहते हुए भी काशी में, अपनी किताबों में रहने नहीं पा रहा हूँ। इसीलिए मैंने पहले कहा कि काशी मेरे बेघरपन का घर है। अज्ञेय के शब्दों में काशी बाहर जाने पर बार-बार वापस लौटने का घर है, रहने का घर नहीं। घर वैसे भी रहने का कहाँ होता है, घर में कौन किसको रहने देता है, घर का जंजाल ऐसा जो घर से बराबर बाहर करता रहता है। बाहर होने पर घर आगे से राह छेंकने लगता है। घर वैसे मेरे अनेक हैं, अनगिनंत हैं पर लोग मुझे घरबारी मानते नहीं हैं। जिस अर्थ में मेरा का प्रयोग होता है उस अर्थ में तो कोई भी घर मेरा नहीं है अर्थात् कानूनी तौर पर मेरा नहीं

है। हाँ, हर घर का मेरे ऊपर दावा है। दावा कोई ढो नहीं रहा हूँ, पर इन दावों को बड़े कौतुक से ग्रहण कर रहा हूँ। हर दावा किसी विशेष अधिकार से बनता है, उन सभी अधिकारों के मैं अधीन हूँ। यह अधीनता और यह पखेरू का रूपक कोई मेल नहीं खाता, पर पखेरू तो धरती-पानी के अधीन होता है, आकाश में उड़ान भरता है, उड़ता जरूर है आकाश में लेकिन वह आकाश के अधीन नहीं होता। लेखक भी बहुत उड़ान भरता है पर उसका धरती से संबंध रहता जरूर है। हारिल के बारे में कहा जाता है कि धरती से तिनका लेकर उड़ता है और आकाश में ऐसे जाता है कि उसमें खो जाता है ऐसे कि फिर उसका पता नहीं चलता। एक वार धरती से लेता है, फिर नहीं लेता। हंस जब मानसरोवर से उड़ता है, कालिदास देखते हैं कि वह कमल का मृणाल-तंतु ले लेता है—धरती का सबसे कोमल पदार्थ—उसी के सहारे उड़ान भरता है। इसलिए व्यक्ति जितना ही स्वाधीनचेता है उतना ही वह अधीन होता है क्योंकि उस अधीनता को वह अपने मन से स्वीकार करता है। इसीलिए वसेरों का न होकर भी वह बसेरा स्वीकार करता है। फकीर मन से गृहस्थी स्वीकार करता है। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी एक लंबी कविता में लेखक की नियति का वर्णन करते हुए लिखा है 'धोबी के जुगुप्सित जन-सा/उभय तो भ्रष्ट' किस्सा यह है कि धोबी को धोबिन पर संदेह है। वह एक कुत्ता रखता है कि नजर रखे। धोबिन घर रहती है तो कुत्ते को घर छोड़कर जाता है कि नजर रखे। धोबिन कुत्ते को घर से भगा देती है। भागा-भागा धोबी के पास घाट पर जाता है तो धोवी घाट से भगा देता है कि तुम्हें तो घर पर नजर रखने के लिए रखा था। कमोबेश यही नियति लेखक की होती है। जहाँ नज़र रखने के लिए उससे कहा जाता है वहाँ नज़र रखे तो लोगों को असह्य हो जाता है। जिसकी वफादारी में वह नज़र रख रहा है वह अलग नाराज होता है—मेरी वफादारी यहाँ क्या कर रहे हो? तुम घर के हो न घाट के हो। घाट पर जो कौतुक होता है वह भी वह नहीं देख पाता, घर में जो कौतुक होता है उसको भी नहीं देख पाता। वह अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर पाता न लेखक के रूप में न व्यक्ति के रूप में। लेखक और व्यक्ति में सदैव वही तनाव रहता है। व्यक्ति को लेखक पर विश्वास नहीं कि जाने कौन अंतरंग बातचीत यह जान जाए और उसे उजागर कर दे। लेखक को व्यक्ति के आत्मगोपन भाव पर चिढ़ है। वह चाहता है कि सबकुछ पारदर्शी होता है। पर कहाँ कोई चीज पारदर्शी होती है। इसी तनाव में रचना होती है जो किसी काम का नहीं रहता वही रह जाता है, काम वाले आदमी अपने काम के साथ चले जाते हैं। चिड़िया भी क्या काम करती है, यहाँ से वहाँ चुनना; जो छूटा हुआ है, कहीं पड़ा है, छुपा है; वही पाना, उसे चोंच में दबाना, एक दूसरी नन्ही-सी चोंच में डालना—जाने कितने बीज यहाँ-वहाँ, किसी मकान की दीवार की दरार में, किसी कोने-अँतरे विखेरना और अनचाहा पेड़ उगा देना। बीज और वृक्ष की परंपरा चला देना। इस फूल का पराग उस फूल पर पहुँचा देना, वहाँ भी नई सृष्टि की शुरुआत कर देना, प्यार पाने पर ढीठ हो जाना और प्यार न पाने पर फुर्र हो जाना, उत्सुकता के कारण जाल में फँसना फिर सद्गति-दुर्गति भोगना—यही तो उसकी नियति है। पर एक बात है, चिड़िया में अद्भुत प्राणशक्ति है, अद्भुत जिजीविषा है, वह जाड़े में ही वसंत बुला सकती है। वह बोलकर, उचरकर उड़ जाए तो दूर देश से प्रियजन को बुला सकती है, वह संदेश ला सकती है, वह संदेश पहुँचा सकती है, वह ऋतु का स्पंदन है, वह जीवन का स्फुरित छंद है। इसलिए कबीर ने कहा, चिड़िया रैन बसेरा। इस देही को चिड़िया कहा। देह की आसक्ति और देह को छोड़कर भी अस्तित्व को रखने वाली चिड़िया घर बनाती है, व्यर्थ में लोग उसे अपना घर मानते हैं। मैं जीवन की लंबी उड़ान को जब एकबार बिचारने बैठता हूँ और अपने भीतर की चिड़िया को और लंबी उड़ान भरने के लिए तैयार देखता हूँ तो जिन बसेरों को मैंने अपना समझा है या जिन बसेरों ने मुझे अपना समझा है, उनको याद नहीं करना चाहता, उनका मैं स्पर्श करना चाहता हूँ और इस वीराने घर को छोड़ते हुए भी, वीराने घर में जो कुछ मिला है उसे मन में सहेजना चाहता हूँ। जानता हूँ सहेजकर ले नहीं जाऊँगा, यहीं रख जाऊँगा, बिना किसी वसीयत के क्योंकि जो रख जाऊँगा वह किसी के काम का नहीं होगा, बस एक हल्की-सी सुबह की मंद-मंद बयार का आमंत्रण होगा, भोर हुई है, लाली फूटी है, उसमें तुम्हारा हिस्सा है, तुममें उसका हिस्सा है। तुम बयार के उस संदेश को पढ़ न सको, न पढ़ो; समझ न सको न समझो एक क्षण के लिए अचकचा तो जाओगे ही। इस भोर हरिया की नींद में कौन दखल दे रहा है, वह खीझेगा—चिड़िया सोचेगी चलो खीझने की संवेदना तो बची है।

□

दो कलाओं का सर्जनात्मक संलाप

धरोहर

सत्यजित राय तथा कुँवरनारायण का पत्र-व्यवहार

श्री सत्यजित राय (अपनों के बीच 'मानिक दा' !) के कुछ पत्र यहाँ प्रकाशित हो रहे हैं जो उन्होंने समय-समय पर मुझे लिखे। अपनी विभिन्न प्रकार की व्यस्तताओं के बावजूद वे पत्रों का उत्तर देने के मामले में अत्यंत सतर्क थे : बीमारी के दिनों में भी वे हाथ से ही पत्र लिखते थे और अंत तक उनकी लिखावट आश्चर्यजनकरूप से दृढ़ और सधी हुई थी। मृत्यु से कुछ ही समय पहले लिखा उनका एक पत्र (क्रिसमस 1991) इस बात का प्रमाण है कि अस्वस्थता के बावजूद उन्होंने पत्र लिखना कभी भी ग़ैरज़रूरी नहीं समझा। आज थोड़ी शर्मिन्दगी भी महसूस करता हूँ कि उनकी इस उदारता का पूरा लाभ नहीं उठा सका और उत्तर देने में मेरी ओर से अक्षम्य चूक होती रही। कुछ तो मेरे मन में उनके स्वास्थ्य और व्यस्त समय दोनों को लेकर यह संकोच भी रहता था कि उन पर उत्तर देने का अतिरिक्त बोझ न पड़े, लेकिन यह सही है कि यदि पत्र लिखने में मेरी ओर से अधिक तत्परता रहती तो निश्चय ही हमारे पास आज एक अमूल्य धरोहर होती।

साहित्य पर भी मानिक दा की पकड़ उतनी ही पक्की और संवेदनशील थी जितनी सिनेमा पर : उनका सिनेमा साहित्य के साथ इस अंतरंग विनिमय का अनोखा दस्तावेज़ है। हमारे बीच भी संवाद का जो दुर्लभ संबंध बन सका उसका पूरा श्रेय मानिक दा को जाता है जिन्होंने इस संबंध को महत्त्व दिया : उस अमूल्य समय को आज मैं बहुत ही स्नेह और आदर से याद करता हूँ जो वे उदारतापूर्वक मुझे देते रहे—ख़ासकर उन लंबी, विविध और बहुत ही रोचक बातचीतों को जो लखनऊ में अकसर मेरे घर पर होती रहती थीं।

'शतरंज के खिलाड़ी' की 'शूटिंग' के दौरान अकसर उनके साथ 'साइट' पर या 'डबिंग' के समय भी उनके साथ रहूँ इसका पूरा अवसर वे देते थे। एक दिलचस्प प्रसंग याद है जिसका संदर्भ उनके पत्र (ता. 18-2-77) में भी है। क्लार्क्स होटल में डबिंग के समय श्री सईद जाफ़री ने ज़ोर दिया कि डबिंग के समय उनके और मानिक दा के अलावा कमरे में और कोई न रहे। कुछ लोगों के साथ मैं भी कमरे से बाहर आ गया। मानिक दा को यह अच्छा नहीं लगा। कलकत्ता पहुँच कर उन्होंने मुझे एक पत्र लिखा जिसमें इस प्रसंग पर अपना क्षोभ प्रकट किया। बहुत ही साधारण-सी घटना थी—पर साहित्य को लेकर तथा दूसरों के प्रति, उनके मन में जैसा आदरभाव था वैसा मैंने कम ही लोगों में पाया है। उनकी फिल्मों को याद करें तो हम एक ऐसी विनम्र मानव-संस्कृति के सन्मुख होते हैं जिसके वे स्वयं एक जीता-जागता स्रोत और सार थे। सहानुभूति (सिम्पैथी) और समानानुभूति (एम्पैथी) उनकी कला का ही नहीं उनके व्यक्तित्व का भी सहज गुण था—और जिस निरंतर संवेदनशीलता को हम उनकी फिल्मों में प्रवाहित देखते हैं उसके साकार उत्स को इतने निकट से जानना मेरे जीवन का एक विरल अनुभव था।

'शतरंज के खिलाड़ी' के फिल्मी रूपांतरण तथा प्रेमचंद की कहानी में किए गए परिवर्तनों को लेकर मैं उनसे बहुत सहमत न था इसे वे भलीभाँति जानते थे। इस पर उनसे कई बार बातें भी हुईं। लखनऊ की नवाबी ज़मानों की नज़ाकत और नफ़ासत वग़ैरह को लेकर मानिक दा के मन में कहीं एक अतिरिक्त लगाव भी था जिसकी पुरानी रौनक को वे इस फिल्म में दर्शाना चाहते थे—रंगों, लिबासों, जगहों, संगीत, नृत्य आदि के चित्रण द्वारा। मेरे मन में उनके 'जलसाघर' की सादगी की छवि प्रमुख थी।

मैं नहीं सोचता था कि 'शतरंज के खिलाड़ी' का एक 'कास्ट्यूम ड्रामा' का-सा आभास देना प्रेमचंद की कहानी के मिज़ाज के अनुकूल ठहरेगा। इस बात को वे भी समझ रहे थे पर तब तक फिल्म इतना आगे बढ़ चुकी थी कि उसमें आमूल कोई फेर-बदल करना संभव नहीं था। अपने ता. (5-5-78) के पत्र में मानिक दा ने 'शतरंज के खिलाड़ी' पर अपनी जो बेबाक प्रतिक्रिया व्यक्त की है वह आत्मालोचना का एक अद्‌भुत उदाहरण है। 'सद्‌गति' में हम उन्हें फिर एक बार 'जलसाघर' की सादगी की ओर लौटते दिखते हैं—और मेरे विचार से एक ज़्यादा प्रामाणिक प्रेमचंद की ओर भी। निर्भीक आत्मालोचना के बिना एक अच्छा कलाकार तो क्या एक अच्छा इंसान भी बन पाना मुश्किल है—इस अनुभूति के लिए उनके प्रति हृदय से कृतज्ञ अनुभव करता हूँ।

उनका अंतिम पत्र क्रिसमस 1991 का मुझे बंबई में मिला था—जितना संक्षिप्त है उतना ही मर्मस्पर्शी : अपने काम के प्रति पूर्ण आस्था, प्यार और समर्पण का अविस्मरणीय उदाहरण—"...बस इतनी शक्ति चाहता हूँ कि प्रतिवर्ष एक फिल्म बना सकूँ...!" यह एक अद्‌भुत संदेश भी है। मेरे पास यह उनका अंतिम पत्र है। इसके बाद वे गंभीर रूप से बीमार हो गए थे और दुर्भाग्यवश अप्रैल 1992 में उनका निधन हो गया। श्री सत्यजित राय के तीन ही पत्र मेरे पास सुरक्षित रह पाए, और संयोग से मेरे बंबई से भेजे गए उत्तर की एक फोटोकापी भी—जो साथ में उद्‌धृत है।

उनके ये थोड़े-से पत्र भी उनके आत्मान्वेषण और जिजीविषा का जो आभास देते हैं वह सिर्फ़ उन्हें और उनकी कला को ही नहीं, हमें खुद को भी समझने में दूर तक मदद कर सकते हैं।

कुँवर नारायण

18 फरवरी, 1977

प्रिय कुँवर,

अफसोस की बात है कि लखनऊ से आते समय हम एक-दूसरे से नहीं मिल सके। उस शाम डबिंग सत्र के दौरान सईद के रूखे व्यवहार के लिए मैं तुमसे विशेष रूप से क्षमा चाहता हूँ—ऐसे पेशेवर अभिनेताओं से हमें तालमेल बैठाना ही पड़ता है। मुझे उम्मीद है तुमने इसे अधिक गंभीरता से नहीं लिया होगा। बहरहाल तुमने अनेक प्रकार से अपने दृष्टिकोण से हमारी जो सहायता की है उसके लिए मैं तुम्हारा आभारी हूँ। संपर्क अवश्य बनाए रखना और यदि तुम्हारी कविताओं की किसी पुस्तक का संतोषजनक अनुवाद तुम्हारे पास हो तो उसकी एक प्रति प्राप्त करके मुझे बेहद खुशी होगी।

हम अगली शूटिंग की तैयारी कर रहे हैं जो 8 मार्च से चार सप्ताह के लिए प्रारंभ हो रही है, उम्मीद है कि बिरजू इसमें अहम भूमिका अदा करेंगे, और मुझे आशा है कि लंदन से वापस आते समय हम उनके साथ दिल्ली में कुछ समय व्यतीत करेंगे। मैं मंगलवार को प्रस्थान कर रहा हूँ और 26 तारीख़ के आसपास दिल्ली में रहूँगा।

हो सके तो मुझे पत्र लिखना।

तुम्हें और तुम्हारी पत्नी को हार्दिक शुभकामनाएँ।

सदैव तुम्हारा

मानिक दा

नोट—तुम्हारे लिए Encounter की प्रति शमा के पास निश्चित आदेश के साथ छोड़ दी थी कि तुम तक पहुँचा दे। आशा है, वह तुम्हें मिल गई होगी।

सन्दर्भ—इस पत्र में 'सईद' फिल्म अभिनेता सईद जाफरी, 'बिरजू' प्रख्यात नर्तक बिरजू महाराज के लिए तथा 'शमा' स्क्रिप्ट लेखिका शमा ज़ैदी के लिए प्रयुक्त हुआ है।

दिनांक 5-5-78

प्रिय कुँवर,

मैं यशपाल जी की पत्नी से मिला और उन्होंने मुझे तुम्हारा पत्र दिया, बहुत खुशी हुई। इधर मैं काफी व्यस्त रहा, कुछ दिन अमेरिका में 'शतरंज' के संबंध में यात्रा करते हुए और शेष समय एक नई बांग्ला फिल्म पर कार्य करते हुए जो 'सोनारल्ला' के ही क्रम में है। यह दुखद बात है कि 'शतरंज' के निर्माण के दौरान मिले सारे रोमांच और आनंद के बाद उसके वितरण को लेकर बेहद खिन्नता हुई। मैं इतना अवश्य कहूँगा कि इस बात ने मेरा इस तरह जायका बिगाड़ा कि मैंने दूसरी हिन्दी फिल्म बनाने का ख्याल ही छोड़ दिया है। पश्चिम बंगाल में अभी तक कोई वितरक नहीं मिला है और कलकत्ता में इस फिल्म का प्रदर्शन कब होगा, पता नहीं। बम्बई में इसका प्रदर्शन (शायद इसी माह) फिल्म फाइनैंस कॉरपोरेशन के हस्तक्षेप से ही संभव हो रहा है।

यह बड़ी विचित्र बात है कि इस फिल्म को लेकर बहुत फर्क तरह की प्रतिक्रियाएं हुई हैं—खुले मन की स्वीकृति से लेकर एकदम खारिज किये जाने तक। लेकिन इस बात के पर्याप्त संकेत मिल रहे हैं कि भारत में फिल्म की लागत निकल आयेगी और यदि ऐसा होता है तो यह हमारी छोटी सी विजय होगी। मुझे याद पड़ता है कि मैंने तुम्हें बताया था कि शुरू में ऐसी स्थिति बनी थी, जब मैंने इस फिल्म योजना को छोड़ देने का निश्चय किया था। यह उस समय की बात है जब मुझे लगा (प्रेमचंद की कहानी के सन्दर्भ में) कि वाजिद और आउट्रम को बिना शब्द-बहुलता का सहारा लिये जीवंत नहीं किया जा सकता। मैंने सुरेश के आग्रह पर इसको फिर से शुरू किया था लेकिन कमियां फिर भी फिल्म में रह ही गयी हैं जिनके कारण इसकी व्यापक स्वीकृति में कमी आयेगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह कुछ हद तक एक गंभीर फिल्म तो बनी है, परंतु ऐसा इसकी संरचनात्मक जीवंतता की कीमत पर ही संभव हो सका है।

सम्पर्क बनाये रखना और निकट भविष्य में यदि तुम्हें इधर आने का अवसर मिले तो मुझे सूचित करना।

सदैव तुम्हारा,
मानिक दा

नोट : इस पत्र में 'शतरंज', 'शतरंज के खिलाड़ी' फिल्म, 'वाजिद', 'वाजिद अली शाह', 'आउट्रम', 'जनरल आउट्रम' तथा 'सुरेश' 'सुरेश जिंदल' फिल्म के प्रोड्यूसर के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ है।

क्रिसमस—1991

प्रिय कुँवर,

तुम्हारा पत्र पाकर बेहद खुशी हुई और आश्चर्य भी। मैं अक्सर ही तुम्हारे बारे में सोचता रहता हूँ कि सिनेमा में तुम्हारी गंभीर रुचि क्या अभी भी बनी हुई है।

5 महीनों की लंबी बीमारी से अब मैं धीरे-धीरे उबर रहा हूँ। मोतियाबिंद का ऑपरेशन हुआ, कुछ दिन वायरल बुखार रहा, और हृदय से संबंधित समस्याएँ भी हैं। मैंने अपने हृदय चिकित्सक से यही कहा है कि मुझे बस इतनी शक्ति चाहिए कि हर वर्ष एक फिल्म बना सकूँ। मेरे पास एक पटकथा पहले से तैयार है।

थोड़ी शक्ति आते ही उस पर फिल्म बनाने का काम शुरू कर देना चाहता हूँ।

आने वाले वर्ष के लिए ढेर सारी शुभकामनाओं सहित

सदैव तुम्हारा

मानिक दा

बंबई

28 जनवरी, 1992

प्रिय मानिक दा,

आपके स्नेहपूर्ण पत्र के लिए किस प्रकार आपके प्रति आभार व्यक्त करूँ समझ नहीं पा रहा। मैंने कई साल बाद आपको पत्र लिखा था फिर भी जब आपका उत्तर आया तो मुझे लगा कि आपके सुखद सान्निध्य की ऊष्मा को अपने निकट महसूस कर रहा हूँ।

फिल्म महोत्सव के लिए बंगलौर जाने से पहले आपका पत्र मुझे लखनऊ में मिला। ये काफ़ी सबूत है कि अच्छे सिनेमा के प्रति मेरा लगाव अभी भी बरकरार है। मुझे बताया गया कि इस बार सबसे अच्छी फिल्म ज्हाक रीवेत की 'ला बेल न्वास्यूज' थी, जिसे मैं देख नहीं सका। फिर भी रोसी की फिल्मों का पुनरावलोकन काफी अच्छा था और मैं उनकी फिल्म 'क्रॉनिकल ऑफ ए डेथ फोरटोल्ड' पर लिख रहा हूँ जो मारकेज़ के इसी शीर्षक के उपन्यास पर आधारित है। मारकेज़ अपने उपन्यासों के फिल्मांकन के बहुत पक्ष में नहीं हैं और फिल्म देखने के बाद लगा कि उनकी आपत्ति ठीक ही है। इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उभरे उपन्यासकारों में मारकेज़ निःसंदेह श्रेष्ठतम में से हैं। उनके 'हन्ड्रेड इयर्स ऑफ़ सॉलीट्यूड' और 'लव इन दि टाइम ऑफ कॉलरा' उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। इन उपन्यासों पर आपके विचार जानना चाहूँगा—विशेषकर बाद वाले उपन्यास पर—सिनेमा के संदर्भ में खास तौर पर।

बंगलौर में मैंने आपकी 'आगन्तुक' देखी। उसमें एक शांत और गरिमापूर्ण आकर्षण है जो मुझे अच्छा लगा। इस फिल्म को मैंने इस तरह 'पढ़ा' कि कथानक एक परिचित मानवीय स्थिति का आदि ढाँचा प्रस्तुत करता है जिसके माध्यम से एक संदेश अथवा कई संदेश दिए गए हैं। फिल्म का सार वह संदेश है, न कि कहानी, और तर्कों में दृढ़ता और विश्वास है। मृणाल सेन की 'महापृथ्वी' देखने के बाद मेरे मन में एक विचार आया कि एक समय के वामपंथी रोमांटिक उत्साह की अपेक्षा आपके संयत मानवतावाद की सहज प्रस्तुति में अधिक जीवंतता है। यह कि रूस के उत्थान-पतन का तात्पर्य मार्क्सवाद का भी उत्थान-पतन मान लिया जाए—यह मेरे विचार से विचारों और जीवन को समझने का बहुत हल्का तरीका है। सेन से, जो हताश प्रतीत होते हैं, और अधिक अंतर्दृष्टि की अपेक्षा थी।

प्रसंगतः आपकी टीवी फिल्म 'सद्गति' के बारे में मैं आपको लिखना चाहता था जो मुझे बहुत पसंद आई। मैं सोचता हूँ कुछ लेखक—प्रेमचंद उनमें से एक हैं—छोटे पर्दे पर ज़्यादा सहज लगते हैं। शायद छोटे पर्दे पर प्रस्तुति कुछ पुस्तक जैसी प्रतीत होती है। इस तथ्य को इधर के कुछ पाकिस्तानी सीरियलों ने अच्छी तरह समझा है। प्रेमचंद का ध्यान पात्रों, स्थितियों और मानवीय संबंधों पर अधिक केंद्रित रहता है। उनकी कहानियों में बाह्य परिदृश्य गौण रहते हैं। संभवतः छोटा पर्दा इन चीजों को हमारे ज़्यादा करीब ला देता है, इसलिए वे अधिक घनिष्ठ लगते हैं बनिस्बत जब वे बड़े पर्दे पर बृहदाकार रूप में प्रक्षिप्त होते हैं। निश्चित रूप से तो नहीं कह

सकता लेकिन 'सद्गति' फिल्म को मैंने निस्संदेह प्रेमचंद की कहानियों के अधिक नजदीक और अपने ढंग की एक अच्छी टीवी फिल्म के रूप में पाया।

मैं अधिकतर कविताएँ लिखता रहा हूँ। कविताओं की मेरी छठी पुस्तक आशा है इसी वर्ष प्रकाशित हो जाएगी।

मैं फरवरी के दूसरे सप्ताह तक लखनऊ पहुँच जाऊँगा। मेरा पुत्र अपूर्व इस समय बंबई में है, संभव है मैं अभी कुछ दिन और उसके पास ठहरूँ। मेरी पत्नी भारती और अपूर्व भी मेरे साथ आपको, बउदी और संदीप को अपना आत्मीयतापूर्ण प्रेम और आदर भेज रहे हैं।

सदैव आपका

कुँवर



चित्र में वायें से सत्यजित राय, विरजू महाराज एवं कुँवरनारायण

SHATRANJ KE KHILARI
(THE CHESS PLAYERS)
A Film by Satyajit Ray

[illegible]

My Dear [illegible] —

[illegible] professional [illegible] [illegible]

[illegible] copy.

[illegible]

[illegible] to [illegible] [illegible], but this is

[illegible] [illegible] that the [illegible] will [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] the before [illegible] [illegible]

[illegible] I think I told

[illegible] [illegible] on [illegible]

[illegible] project [illegible]

[illegible] [illegible] to

[illegible] [illegible] [illegible])

[illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] I [illegible] the project

[illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] against

[illegible] [illegible] the question that

[illegible] [illegible] [illegible], but

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] institutional

[illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] of [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

SATYAJIT RAY

Christmas Day, 1991

Dear Kanwar,

What a surprise and delight to hear from you. You have frequently been in my thoughts & I wondered if you were still as seriously interested in the cinema as you were.

I am now slowly recovering from a long illness which lasted 5 months, included a cataract operation, a virus infection & some problems with my heart. I have told my cardiologist that I need no more strength than to make one film every year. I already have a screenplay ready which I hope

to finish it as soon as I have recovered my strength.

With all good wishes for the coming year —

Ever yours

[illegible]

Kunwar Narain
Vishnu Kuti, C4, Sector 'B' Mahanagar, Lucknow-226 006
Phone Res: 71783 Off: 35652/3

Bombay
28.1.92

My dear Manikda,

I dont know how to thank you for
your very kind and affectionate letter. After years
I wrote to you, but when I received your reply it
was like a warm and wonderful touch of your
genial presence that I could feel very close to me.

I received your letter at Lucknow
while leaving for Bangalore for the Film Festival —
evidence enough that my love for good cinema is still
alive! The best film this time, I was told, was
Jacques Rivette's "La Belle noiseuse" which unfortunately
I missed. However, retrospective of Rossi's films was
quite good, and I am writing on his film "Chronicle
of a death foretold" which is based on Marquez's
novel of the same title. Marquez has been rather
averse to his novels being filmed — and after seeing
the film one can see his point. Marquez, no doubt,
is one of the finest novelists to have emerged in the
later half of this century. His "Hundred years solitude"
and "Love in the time of cholera" are great works. I
would love to know your views on these novels — the
later one specially, and particularly in a cinematic
context.

At Bangalore I saw your "Agantuk" also
and liked it for its quiet, dignified charm. The way
I 'read' the film, the elements of story or plot provide only
an archetypal framework of a familiar human situation which
is 'used' to convey a "message" or "messages". The essential
part of the film is the 'message' rather than the story, and
there is force and conviction in the arguments. After seeing
Mrinal Sen's "Mahapritibhi" also, a thought crossed my mind
That it is the gentle classical core of your humanism which has
more vitality perhaps than the romantic ebullience of the committed
left ever had. That the rise and fall of Russia should so
simply mean the rise and fall of Marxism indicates, to my

mind, a very gullible way of looking at ideas and life --- Greater insight was expected from a disillusioned Sen!

By the way, I wanted to write to you about your TV film "Sadgati" which I liked very much. I think some authors — and Prem Chand may be one of them — donot loose much on small screen. Perhaps, there is something "book like" about small screen — a fact which seems to have been well-grasped by some of the very successful Pakistani serials. Prem Chand concentrates on characters, situation & human relationships — 'outdoor' landscapes or scenes are marginal in his stories. maybe, intimate small-screen brings them closer to us than when they are projected on larger-than-life big screen! I am not quite sure, but I definitely found "Sadgati" closer to Prem Chand's story & a good film in its own rights.

I have been writing poetry mostly. My sixth book of poems may, hopefully, be published this year.

I will reach Lucknow in the second week of February. My son Apurva is in Bombay these days, & I am spending a few days with him.

My wife Bharati and Apurva join me in sending you, Baudi & Sandeep our fondest love and regards,

Yours always,
Kunwar

Sri Satyajit Ray
Calcutta

निराला की अंतिम कविता

(पत्रोत्कंठित जीवन का विष बुझा हुआ है)

टीका

बच्चन सिंह

यह निराला की अंतिम कविता है। निराला की मृत्यु (1961) के कुछ ही दिन पहले लिखी गई थी। अंतिम कविता होने के कारण पाठक इससे अनेक अपेक्षाएँ कर बैठता है। कोई इसमें निराला के जीवन का निचोड़ देखता है तो कोई उनके जीवनांशों का भावानुवाद। यों तो उनकी अधिकांश कविताएँ आत्मकथात्मक हैं, आत्मकथा नहीं हैं। आत्मकथाएँ वस्तुनिष्ठ नहीं होतीं। शब्दबद्ध होने पर वे ठोस वस्तु बन जाती हैं। स्वायत्त हो जाती हैं। इसलिए काव्य की वास्तविक अर्थवत्ता पाठ में ही निहित होती है।

खेद है कि पाठगत अर्थवत्ता की पहचान के लिए आलोचक नयी समीक्षा (न्यूक्रिटिसिज्म) और दरिदाई करिश्मा की ओर सिर पर पैर रखकर भागते हैं। उनकी अवधारणाओं को कविता के पाठ पर चस्पां करके अपनी पीठ ठोंकते हैं। आज भी हिंदी आलोचना प्रायः आयातित अवधारणाओं पर टिकी हुई है। यदि वे भारतीय चिंतन की गहराई में पैठने की कोशिश करते तो पश्चिम की पाठगत अवधारणाएँ उसका उच्छिष्ट मालूम पड़तीं। मीमांसकों ने रचना की स्वायत्तता पर खास जोर दिया है। पाठ की अर्थवत्ता पाठ से निकल कर ही प्रामाणिक बनती है। दूसरे शब्दों में पाठ (टेक्स्ट) ही अर्थवत्ता है। उसे काव्य-बाह्य उपकरणों की सहायता नहीं चाहिए। पश्चिम के अनेक पंडितों की यही राय है।

आलोचना में कवि के उल्लेख की जरूरत नहीं रह गई है। संस्कृत साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने कवि और सहृदय के तादात्म्य की बात उठाई है। कवि के अभिप्राय को जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। वह तो कविता लिखकर उससे अलग हो जाता है। कविता से उसका संबंध वही रहता है जो किसी अन्य पाठक का। मीमांसकों ने कवि को 'अजगलस्तन' कहा है। रोलांबार्थ अपने शब्दों में इसी को लेखक की मृत्यु (डेथ आफ दी आथर) कहता है। पाठ पाठक को साझेदारी के लिए आहूत करता है। पहल पाठक करता है। समझदार साझेदारी के आधार पर ही प्रामाणिक अर्थवत्ता तक पहुँचा जा सकता है।

शब्दों का एक पूर्वनिर्धारित अर्थ होता है यानी अभिधार्थ होता है। इससे यदि अर्थ वाधित होता है तो उसे लक्षणा व्यंजना का आश्रय लेना पड़ता है। किंतु यह सब संदर्भ से नियंत्रित होता है। नियंत्रण वाक्य से भी होता है और पूरी कविता से भी। लेखक की समस्त रचनाओं का भी आलोड़न किया जा सकता है। उदाहरणार्थ मृत्युबोध की इस कविता को मृत्युबोध संबंधी उनकी अन्य कविताओं से भी संदर्भित किया जाना चाहिए।

किंतु मीमांसकों की इस बात से सहमत होना कठिन है कि एक कविता का एक ही अर्थ होता है। वे व्यंजना को भी यह छूट नहीं देते। उनके मतानुसार उसका पर्यवसान भी एक ही अर्थ में होगा। उस समय बहुलार्थवादी लोग भी रहे होंगे। उन पर व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं कि पाठ ऐसी कामधेनु नहीं है कि उसे मनमाने ढंग से दुहते रहें। जितने पाठक उतने अर्थ के वे पक्षधर नहीं हैं।

पर एक कविता का एक ही अर्थ होता है, इससे सहमत होना कठिन है। उनका कथन तर्कसंगत नहीं लगता। संस्कृत युग में न इतनी संस्कृतियाँ थीं और न इतनी अस्मिताएँ। एक अर्थ की कल्पना के पीछे सामाजिक संघटना का यथास्थितिवाद देखा जा सकता है। लोकतंत्र के युग में बहुलतावाद की छूट देनी ही होगी। बहुलतावाद उत्तर-आधुनिकतावाद का केंद्रीय तत्त्व है।

निराला ने **'सरोजस्मृति'** में लिखा है—'यह अन्य पाठ, यह अन्य कला' पाठ तो वही रहता है, पर पाठक का डी-कांसट्रक्शन अलग होता है। कुछ लोगों का—डी मन जैसे लोगों—का तो यहाँ तक कहना है कि कविता का कोई सुनिश्चित अर्थ हो ही नहीं सकता। 'पत्रोत्कंठित...' का भी एक सुनिश्चित अर्थ संभव नहीं है। पर यदि उसे ठीक ढंग से संदर्भों के नियंत्रण में देखा जाए तो हम एकार्थता के निकट पहुँच सकते हैं।

पहले हम चार पंक्तियों के बंद को लेते हैं। उसकी पहली पंक्ति है—**'पत्रोत्कंठित जीवन का विष बुझा हुआ है।'** ऊपर-ऊपर से चाहे यह भले ही स्पष्ट दिखाई दे। पर इसकी गहन संरचना जटिल है। इस गहन-संरचना (डीप-स्ट्रक्चर) को तोड़े बिना इसकी सही अर्थवत्ता हाथ नहीं लगेगी। **कुमारिल 'मीमांसा-दर्शन'** में कहते हैं—**सामर्थ्यं सर्वभावानांर्थपत्यावगम्यते।'** ऊपर-ऊपर से जो अर्थ की विसंगति होती है उसी में अर्थोद्घाटन की क्षमता भी निहित होती है। पाठक उसी अनदेखी क्षमता को देखता है।

'पत्रोत्कंठित' शब्द अर्थबोध में बाधा डालता है। यह स्वयं में लाक्षणिक अर्थ की माँग करता है। इसका सामान्य अर्थ यह लगाया जाता है जैसे पत्रहीन वृक्ष नए पत्तों की माँग करता है वैसे ही मृत्युबोध के समय वह नए जीवन के लिए उत्कंठित है। **'जीवन का विष बुझा हुआ है'** इस अर्थ को खारिज कर देता है। ऐसी स्थिति में जीवन का विप शेष रह जाएगा। पत्रोत्कंठित का संधि-विच्छेद करने पर इसका अर्थ कुछ खुलता है—पत्रा + उत्कंठित। अवध के गाँवों में, अवधि से सटे हुए भोजपुरी के गाँवों में एक मुहाविरा चलता है। उनका पत्रा खो गया है—'उनका पत्रा हेरायल बा।' यदि किसी व्यक्ति की मृत्यु विलंबित हो जाती है, तो लोग ऐसा ही कहते हैं। पत्रा खो जाने से मृत्यु तिथि के न मिलने का बोध होता है। कवि को उसी पत्रा को पाने की उत्कंठा है। गहन मृत्युबोध के समय ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ आदि का विष ठंडा पड़ गया है, समाप्त हो गया है।

इसके बाद की पंक्तियाँ हैं—

आशा का प्रदीप जलता है हृदय कुंज में
अंधकार पथ एक रश्मि से सुझा हुआ है
दिङ्निर्णय ध्रुव से बैठे नक्षत्र-पुंज में।

टी.एस.इलियट की एक कविता है—मेरे आदि में ही अंत है। यहाँ पर अंत है ही नहीं। जो कुछ भी है अनंत है—जीवन भी अनंत है। कौन-सी आशा का प्रदीप हृदय-कुंज में जलता है ? अंधकार (जीवनांधकार) के मार्ग में कौन-सी रश्मि रास्ता दिखा रही है ? वह कौन सा ध्रुव है जो नक्षत्र-पुंज में बैठा हुआ दिशा-निर्देश कर रहा है ? ध्रुव एक अडिग आस्था का भी सूचक है। इन सारे प्रश्नों का उत्तर पाठक को खोजना होगा। कविता की अंतिम पंक्ति पढ़िए—**'पुनः सवेरा एक और फेरा है जी का।'** 'पुनः सवेरा' से ऊपर की आशावादी पंक्तियों का अर्थ उद्घाटित हो उठता है। पुनर्जन्म एक बहुत बड़ी आशा है, विश्वास है, दर्शन है। यही प्रदीप है, रश्मि है, ध्रुव है।

आगे की पंक्तियाँ—

लीला का संवरण-समय फूलों का जैसे
फलों फले या झरे अफल, पातों के ऊपर
सिद्ध योगियों जैसे या साधारण मानव
ताक रहा है भीष्म शरों की कठिन सेज पर।

सबसे पहले 'लीला' शब्द पर ध्यान जाता है। शैव-वैष्णव दर्शन में यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण शब्द है। श्रीमद्भागवत तो पूर्णतः लीला-पुराण है। कृष्ण क्रीड़ा करते हैं। उन्हें तो लीला पुरुषोत्तम कहा ही जाता है। यह संपूर्ण सृष्टि भी उसी की लीला है। सच पूछिए तो दार्शनिक स्तर पर जीवन एक लीला ही तो है। इस स्तर तक पहुँचने के पहले उनमें भक्तिभाव का समावेश हो चुका था—रचनावली-2 में भक्तिपरक रचनाएँ भरी पड़ी हैं। एक कविता है—

कृष्ण कृष्ण राम राम
जपे हैं हजार नाम
    जीवन के लड़े समर
    डरे रहे हारे स्तर
    समर के शर से मर्मर,
    गए, पुनः जिते धाम
ऐसे उत्थान-पतन
भरा हुआ है उपवन
प्राणों का गमनागमन
है प्रमाण से प्रणाम।

हार-जीत, उत्थान-पतन, प्राणों का गमनागमन लीला ही है। लड़कपन में सुना हुआ एक साधु का गीत मुझे अब भी

याद—**'तुमने हँस-हँस मुझे सिखाया विश्व खेल है खेल चलो।'** स्मरण रखना चाहिए कि लीला में एक अनासक्ति होती है। इसके कारण जीवन के सारे कार्य लीला-भाव में बदल जाते हैं। इस लीला को वे फूलों के मेटाफर से स्पष्ट करते हैं कि फूल चाहे फूल दें तब भी उनको झरना है, न दें तब भी उनको झरना है। अंतिम सत्य यही है। इस परिप्रेक्ष्य में 'सफल' 'असफल' में कोई फर्क नहीं रह जाता।

भीष्म की शरशय्या मृत्युबोध ही है—**'जनमत मरत दुसह दुख होई।'** इस शरशय्या पर प्रत्येक व्यक्ति को सोना है चाहे वह सिद्ध योगी हो या साधारण मानव। इससे यह ध्वनित होता है कि सिद्ध योगी का अनुभव एक प्रकार का होगा और साधारण मानव का दूसरे प्रकार का—**'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया...'**

कालबोध को उन्होंने ऋतु वर्णन के आधार पर व्यक्त किया है—

स्निग्ध हो चुका है निदाघ, वर्षा भी कर्षित
कल शारद कल्प की, हैम लोमों आच्छादित
शिशिर भिद्य, बौर बसंत आर्मो आमोदित;

काल की माप गतियों से होती है, इसी के माध्यम से काल की परिवर्तमानता भी आँकी जाती है। ऋतुओं की गणना निदाघ या ग्रीष्म से की गई है। कवि उसकी परिवर्तनशीलता की ओर भी संकेत करता है। वह थोड़ा स्निग्ध हो उठा है यानी नए परिवर्तन की प्रक्रिया में है। वर्षा भी खिंच गई। 'कर्षित' परिवर्तन का भी द्योतक है और गति का भी। शरद् सुंदर होता ही है। पर ठहराव कहीं नहीं है। वह बीते हुए कल का हो गया। हेमंत अपने परिवर्तन में हरितांकुरों से ढँक गया है। शिशिर भेद्य हो चुका है और बसंत अपनी मंजरियों से पागल। यहीं पर ऋतु-वर्णन समाप्त हो जाता है। यहीं से पाठक संरचना में प्रवेश करता है। यदि केवल ऋतुओं का परिगणन मात्र होता तो पाठक का हाथ-पाँव बँध जाता। 'कर्षित' 'लोमों आच्छादित' आदि से वह परिवर्तन की प्रक्रिया को आयत्त कर लेता है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जाना सबको है—चाहे जीव हो या अन्य कुछ। पर इस ऋतु-चक्र से वह गमनागमन के वास्तविक चक्र तक पहुँच जाता है जिसका उल्लेख अंतिम पंक्ति में है।

इसके बाद अतुकांत छंद सात पंक्तियोंवाला—

बीत चुका है दिक्चुंबित चतुरंग, काव्य, गति,
यतिवाला, ध्वनि, अलंकार, रस, राग बंध के
वाद्य-छंद के रणित गणित छूट चुके हाथ से—
क्रीड़ाएँ व्रीड़ा में परिणत। मल्ल भल्ल की

चतुरंग—चतुरंगिणी सेना—दिशाओं को छू लेने वाली विशाल सेना का युद्ध बीत चुका है। निराला की कविताओं में गैप बहुत हैं। उन्हें पाठकों को स्वयं भरना पड़ता है। इस युद्ध के संकेत अन्य कविताओं में मिलते हैं। इसके लिए **अध्यात्मफल, धारा, सरोजस्मृति** आदि को देखा जा सकता है। इस चतुरंगिणी सेना में **महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी** आदि थे। निराला अपनी रचना के हथियारों से—मुख्यतः कविता द्वारा लड़ रहे थे—**'किया था अपनी प्रभा से चकित चल।'** किंतु ये विगत की बातें है। अब मल्लों के भालों की मारधाड़ भी नहीं है। उसे लक्ष्य करके जो निशाने दागे गए थे वे लगे नहीं चूक गए।

झूल चुकी है खाल—ढाल की तरह तनी थी

झूलती हुई खाल मृत्युबोध की ओर ले जा रही है। वह कभी ढाल की तरह तनी थी। ढाल की तरह इसलिए कि वह चतुरंगिणी सेना के शस्त्रास्त्रों को रोकती थी। अंतिम पंक्ति से मृत्युबोध से जीवन बोध की जीवंत प्रतीति होने लगती है। उन्हीं के शब्दों में—

मरण को जिसने वरा है
उसी ने जीवन भरा है। □

दार+ओ+रसन (ग़ालिब की उर्दू कविता पर टीका)
ग़ालिब का एक अधूरा क़सीदा

वागीश शुक्ल

यह क़सीदा अधूरा है क्योंकि इसका केवल प्रारंभिक अंश ही उपलब्ध है। यहाँ यह ध्यान देना चाहिए कि क़सीदे के प्रारंभिक अंश में कवि अपनी बात कहता है और यह अंश किसी व्यक्ति या उपास्य की प्रशंसा में नहीं होता। इसी प्रारंभिक अंश से ग़ज़ल की काव्य विधा विकसित हुई है। इसमें से तीन फुटकर शेर ग़ालिब के प्रचलित दीवान में ख़ुदरा तौर पर दिए गए हैं। ऐसा ही फिर सरदार जाफरी द्वारा संपादित और राजकमल से प्रकाशित देवनागरी संस्करण में किया गया है। किंतु यह क़सीदा अपने इन प्रारंभिक शेरों के साथ हमीदिया नुस्ख़े में क़सीदा खंड में संकलित है। इसमें एक ग़ज़ल भी है जो शेर 20 से शेर 29 तक है और जिसका संकेत प्राचीन कवि परिपाटी के अनुसार शेर 19 में 'ग़ज़ल' शब्द लाकर किया गया है। रचना-समय ग़ालिब की कविता का प्रारंभिक काल है और ऐसा प्रतीत होता है कि इसे भी हज़रत अली की स्तुति में ही लिखा जाना था।

–वागीश शुक्ल

जो न नक़्द+ए+दाग़+ए+दिल की करे शुअ़्लः पासबानी
तो फ़सुर्दगी निहाँ है ब. कमीन + ए + बेज़बानी।।1।।

शब्दार्थ–नक़्द=संपत्ति; दाग़+ए+दिल=हृदय पर जलने का निशान; शुअ़्लः–लपट; पासबानी= रखवाली; फ़सुर्दगी=निराशा किंतु मूलतः शीतजडत्व निहाँ=छिपी हुई; ब. कमीन+ए+ बेज़बानी=निःस्तब्धता की ओट में घात।

व्याख्या–इस शेर और इसके अगले शेर के लिए भी जलती हुई मोमबत्ती को जिसे फ़ारसी में (शमूअ़=) शमा कहते हैं ध्यान में रखना चाहिए। उसकी लौ को 'ज़बान' अर्थात् जीभ कहते हैं। कहना यह है कि शमा के हृदय में एक चोट है, जलने का निशान और वह उसकी संपत्ति है। जो लपट है वह इस संपत्ति की रखवाली कर रही है। अगर ऐसा न हो तो निःस्तब्धता या भाषाहीनता की ओट में शीतजडत्व घात लगाए छिपा बैठा है, इधर शमा बेज़बान हुई और उधर शीतजडत्व ने यह संपत्ति लूट ली।

तात्पर्य यह कि कवि/मनुष्य मात्र का हृदय दग्ध है और इस दाह के स्मृतिशेष ही उसकी संपत्ति हैं। भाषा, जो वस्तुतः हृदय दाह की दीखती हुई लपट है इस संपत्ति की सुरक्षा करती है। भाषा के समाप्त होने का अर्थ है कि जलता हुआ हृदय बर्फ़ की तरह जम गया, उस पर निराशा ने अधिकार कर लिया।

ब गुमान+ए+क़त्अ़+ए+ ज़ह्मत, न. दुचार+ए+ख़ामुशी हो
कि.ज़बान+ए+सुर्मः आलूद, नहीं तेग़+ए+इस्फ़हानी।।2।।

शब्दार्थ–गुमान=भ्रम; क़त्अ़=काटना; ज़ह्मत=कष्ट; दुचार= आमने-सामने; ख़ामुशी=चुप्पी; सुर्मः आलूद=सुर्मे से पुती हुई; तेग़+ए+इस्फ़हानी=इस्फ़हान की तलवार।

व्याख्या–यहाँ यह ध्यान देना चाहिए कि ख़ामोशी का अर्थ शमा के लिए उसका बुझना है, उसकी लौ को उसकी ज़बान या जीभ कहते हैं। इस्फ़हान जो ईरान के सफ़वी शासकों और उसके पहले सलजूकी शासकों के समय में राजधानी था, एक आदर्श अर्धमिथकीय नगर के रूप में ग़ालिब की कविता में आता है। इस्फ़हान का सुर्मा और तलवार ये दो चीज़ें प्रसिद्ध थीं। सुर्मा खाने से बोलने की शक्ति जाती रहती है ऐसी प्रसिद्धि है। इन सबको मिला जुलाकर शेर का अर्थ इस प्रकार बनता है कि मोमबत्ती से कहा जा रहा है कि तू इस भ्रम में अपनी मृत्यु का सामना मत कर कि इससे तेरे कष्ट कट जाएँगे। सुर्मा/काजल से लिपटी लौ/बत्ती (जैसी कि मोमबत्ती के बुझने के बाद होगी) इस्फ़हान की तलवार नहीं है, तू इस भ्रम में न रह कि अपनी वाक्शक्ति को समाप्त करने के लिए तू सुर्मा खा लेगा तो तेरी जीभ ऐसी तलवार बन जाएगी कि वह तेरे कष्ट काट देगी।

फ़ारसी काव्य परंपरा/सूफ़ी चिंतन में मृत्यु को कष्ट निवारक माना गया है उसी का प्रतिषेध करते हुए यहाँ यह शेर कहा गया है। जीवन तो कष्ट कर है ही, मृत्यु से भी जो आशाएँ हैं वे निराधार हैं।

ब.फ़रेब+ए+आशनाई, ब. ख्याल+ए+बे वफ़ाई
न. रख आपसे तअल्लुक़ मगर एक बदगुमानी।। 3।।

शब्दार्थ—फ़रेब=छल; आशनाई=परिचय, स्नेह; ख़याल=कल्पना, अवास्तविकता; मगर=सिवाय, अतिरिक्त; बदगुमानी=बुरी आशंका।

व्याख्या—स्नेह और प्रेम या परिचय एक छल है। प्रेम निर्वाह में असमर्थता या उससे मुकर जाना कल्पना है, अवास्तविकता है क्योंकि स्वयं प्रेम ही छल है। इस नाते अपने आपसे, अपनी निजता से कोई संबंध न रखो, न परिचय का जो कि छल है और न उस परिचय निर्वाह से दूर हटने का जो कि केवल कल्पना है। हाँ, एक संबंध अवश्य ही रहेगा जो कि एक आशंका या विरक्ति का संबंध है।

'स्व' से परिचय ज्ञान मार्ग का एक मूल सिद्धांत है, उसी को यहाँ छल बताया गया है। अपने को पहचानने की बात करना कपटाचार है।

नज़रे सू+ए+कुहिस्ताँ, नहीं ग़ैर+ए+शीशः सामाँ
जो गुदाज़+ए+दिल हो मत़लब, तो चमन है संगजानी।। 4।।

शब्दार्थ—नज़रे=एक नज़र (फ़ारसी व्याकरणिक प्रयोग); सू+ए+कुहिस्ताँ=पहाड़ियों की ओर; ग़ैर+ए+शीशः सामाँ=शीशा बनाने के सामान से रहित; गुदाज़+ए+दिल=दिल का पिघलना; चमन=उद्यान; संगजानी=पत्थर की तरह कठोर प्राण वाला, क्रूर।

व्याख्या—पहाड़ियों की ओर दृष्टि डाली जाए तो वह भी शीशे तैयार करने के साज सामान की अपेक्षा के बिना नहीं होती (क्योंकि शीशे और पत्थर का परस्पर संबंध है, शीशा बनाने के सामान में पत्थर का भी इस्तेमाल होता रहा है और मद्यपान त्याग के प्रतीक के रूप में शीशा अर्थात् शराब की बोतल पत्थर पर तोड़ना मान लिया गया है)। इस तरह देखा जाए तो पत्थर को पिघलाया जा सका है और उससे ऐश्वर्य-विलास का उपकरण अर्थात् मद्यपात्र अथवा आत्मनिरीक्षण और आत्मालोचन का उपकरण अर्थात् दर्पण ('शीशा' दोनों ही हैं) बनाया जा सका है। लेकिन दूसरी ओर अगर दिल को पिघलाना हो तो उद्यान भी नितांत क्रूर है जिसका हृदय कभी दया से आर्द्र हो ही नहीं सकता। इस प्रकार पहाड़ (जो उजाड़ का प्रतीक है।) की अपेक्षा वाटिका (जो बसावट का प्रतीक है।) अधिक क्रूर-हृदय सिद्ध होती है।

बफ़राज़ गाह+ए+अ़बूरत चि. बहार+ओ+कू तमाशा
कि. निगाह है सियहपोश ब अ़ज़ा+ए+ज़िंदगानी।। 5।।

शब्दार्थ—फ़राज़ गाह=उच्च स्थान पर स्थित निवास; अ़बूरत=कष्ट शोक (अ़िबूरत उच्चारण भी किया जाता है किंतु वस्तुतः उस उच्चारण में अर्थ 'रहस्य' या 'उदाहरण' होता है); चि. बहार+ओ+कू तमाशा =क्या बसंत और क्या दृश्य; सियहपोश=(मृत्यु के शोक में) काले कपड़े पहने हुए; अ़ज़ा=मृत्यु का शोक करना।

व्याख्या—अ़बूरत का तात्पर्य शोक तो है ही, आँसू की वह बूँद भी है जो अभी-अभी ढुलकने वाली हो। इसी अर्थ को लेना यहाँ अधिक समीचीन होगा। 'फ़राज़ गाह' इसलिए कहा कि आँसू की जो बूँद ढलकने वाली है वह अभी आँख में ही है जो कि शरीर के सबसे ऊपरी हिस्से में होती है। इस प्रकार तात्पर्य यह हुआ कि मैं तो शोक और कष्ट की उस स्थिति में हूँ कि मेरी आँखों में से आँसू ढुकलने ही वाले हैं। तो इस स्थिति में बसंत और आनंददायक दृश्य मुझे कहाँ दिखेंगे। आँखें जीवन का मृत्युशोक मना रही हैं इसलिए काले कपड़े पहने हैं (पुतली काली होती है इसलिए काले कपड़े पहने हुई 'दृष्टि' ऐसी कल्पना की है)।

ब. फ़िराक़+ए+रफ़्तः-याराँ, ख़त.+ओ+हर्फ़ मू परेशाँ
दिल+ए+ग़ाफ़िल अज़ हक़ीक़त, हमः ज़ौक़+ए+क़िस्सः ख़्वानी।। 6।।

शब्दार्थ—फ़िराक़=वियोग; रफ़्तः-याराँ=वे मित्र जिनका देहांत हो चुका है; ख़त+ओ+हर्फ़=लिखावट और अक्षर; मू-परेशाँ=बाल बिखेरे हुए; दिल+ए+ग़ाफ़िल अज़ हक़ीक़त =वह हृदय जो वास्तविकता से पूर्णतया अनभिज्ञ है, हमः= पूरी तरह; ज़ौक़+ए+क़िस्सः ख़्वानी= कहानी पढ़ने का चाव।

व्याख्या—जो मित्र मर चुके हैं उनके वियोग में मेरी लिखावट और मेरे अक्षर बाल बिखेरे शोक व्यक्त कर रहे हैं। मेरा हृदय सत्य को नहीं जानता। वह हृदय केवल कहानी सुनाने का चाव भर है, सत्य से उसका कोई संबंध नहीं स्थापित हो सका।

तपिश+ए+दिल+ए+शिकस्तः पय+ए+अ़बूरत आगही है
कि. न. दे अ़िनान+ए+ फ़ुर्सत, ब-कशाकश+ए+ ज़बानी।।7।।

शब्दार्थ–तपिश+ए+दिल+ए+शिकस्तः=टूटे हुए हृदय की तड़प; पय+ए+अ़बूरत आगही=शोक को समझने के निमित्त; न दे अ़िनान+ए+ फ़ुर्सत=अवकाश की लगाम नहीं देता, थोड़ा सा भी अवकाश नहीं देता, अवसर नहीं देता; कशाकश+ए+ज़बानी=जीभ का बाहर निकलना और फिर भीतर जाना।

व्याख्या–शोक विह्वलता और निर्बलता के कारण जीभ बाहर भीतर आ जा रही है और जीने की दौड़ है कि रुकती नहीं, हाँफते हुए आदमी एक घोड़े की तरह दौड़ रहा है जिसकी लगाम से रुकने का संकेत कभी मिल ही नहीं रहा है। यह दौड़ क्यों है? टूटे हुए हृदय की यह तड़प जिसके नाते वह जीभ को बाहर भीतर खींच रहा है (जैसे कि घोड़े की लगाम कसी और ढीली की जाती है) क्यों है? इसलिए यह टूटा हुआ हृदय शोक को पूरी तरह समझना चाहता है।

न. वफ़ा को आबरू है, न जफ़ा तमीज़ ए+जू है
चि. हिसाब+ए+जाँ फ़िशानी, चि. ग़ुरूर+दिलसितानी।।8।।

शब्दार्थ–वफ़ा=निबाहना, यहाँ तात्पर्य प्रेमी या भक्त से है; आबरू=प्रतिष्ठा; जफ़ा=अत्याचार, यहाँ तात्पर्य प्रेमपात्र या ईश्वर से है; तमीज़-जू=अच्छे और बुरे में अंतर करने की चाह करने वाला; चि.=क्या हिसाब+ए+जाँफ़िशानी=प्राण अर्पित करने का लेखा जोखा; ग़ुरूर+ए+दिलसितानी=हृदय ले लेने का घमंड।

व्याख्या–प्रेम में प्रेमी और प्रेम पात्र दोनों ही ठीक राह पर नहीं। प्रेमी को अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान का ध्यान नहीं, हर किसी पर प्रेम जताने लगता है। प्रेम पात्र को लोगों के हृदय हथियाने में इसका कोई ध्यान नहीं कि कौन वास्तव में प्रेमी होने के योग्य है, वह हर एक का मन चुराता फिरता है।

ब. शिकंज+ए+जुस्तजू-हा; ब. सराब+ए+गुफ़्तगू-हा
तग+ओ+ताज़+ए+आरज़ू-हा; ब.फ़िरेब+ए+शादमानी।।9।।

शब्दार्थ–शिकंज+ए+जुस्तजू-हा=खोज के पंजे की जकड़न; सराब+ए+गुफ़्तगू=वार्तालाप की मृग मरीचिका में; तग+ओ+ताज़=दौड़ धूप; आरजू-हा=आकांक्षाएँ (हा सब जगह बहुवचन का फ़ारसी प्रत्यय है) फ़िरेब+ए+शादमानी=प्रसन्नता का छल।

व्याख्या–आकांक्षाएँ दौड़-धूप कर रही हैं। यह दौड़-धूप उस छल के कारण है जिसे प्रसन्नता या आकांक्षाओं की पूर्ति कहा जाता है। इस दौड़-धूप में दो निरर्थकताएँ और भी हैं। एक तो खोज के शिकंजे में यह दौड़-धूप जकड़ी हुई है अर्थात् अन्वेषण या खोज की सीमाओं से बँधी हुई है (जब कि लक्ष्य उसके बाहर है)। दूसरे जो यह पूछताछ, भाषा, बातचीत, चर्चा, तर्क-वितर्क सोच-विचार है यह सब एक मृग मरीचिका है वास्तविकता इसमें कुछ भी नहीं। प्रसन्नता का लक्ष्य स्वयं एक छल है उसकी खोज जहाँ हो रही है अर्थात् भाषा और वाणी के मैदान में, वह भी मृग मरीचिका है और जो अन्वेषण या खोज है उसने इस दौड़ के पाँव में बेड़ियाँ डाल रखी हैं।

नहीं शाहराह+ए+औहाम, बजुज़ आँ-सू+ए+रसीदन
तिरी सादगी है ग़ाफ़िल, दर+ए+दिल प. पासबानी।।10।।

शब्दार्थ–शाहराह+ए+औहाम=भ्रम का राजमार्ग; आँ-सू+ए+रसीदन=पहुँच के उस पार; सादगी=भोलापन; ग़ाफ़िल=असावधान; दर+ए+दिल=हृदय के द्वार पर; पासबानी=प्रहरी।

व्याख्या–तू जिस राजमार्ग पर चलना चाहता है वह भ्रम का राजमार्ग है। और यह राजमार्ग पहुँच के उस पार है। ऐ असावधान व्यक्ति, तेरा भोलापन अर्थात् यह समझ कि सत्य तक पहुँच जाना पहुँचना होता है। वस्तुतः तेरे हृदय पर प्रहरी के रूप में नियुक्त है जिससे कि तेरा हृदय खुल न सके और तू वास्तविकता तक पहुँच न सके। जब तू हक़ीक़त तक, वास्तविकता तक, विश्वास तक पहुँचेगा तभी, इस पहुँच के उस पार ही, वहम का, भ्रम का, अविश्वास का राजमार्ग खुलता है।

विकल्प में–'आँ-सू' का अर्थ 'उस ओर' की जगह 'उस ओर से' भी ले सकते हैं। तब अर्थ होगा : ऐ असावधान व्यक्ति, तू जो अपने हृदय के द्वार पर रखवाली कर रहा है कि कहीं भ्रम इस हृदय में न घुस जाएँ, यह कार्य तो तेरा भोलापन और तेरी नासमझी बताता है। भ्रम का राजमार्ग तो उस ओर से पहुँचेगा जिधर हृदय का द्वार नहीं है अर्थात् पीछे से।

चि.उमीद+ओ+ना-उमीदी, चि. निगाह+ओ+बे-निगाही
हमः अ़र्ज़+ए+ना-शिकेबी, हमः साज़+ए+जाँसितानी।।11।।

शब्दार्थ–उमीद+ओ+ना-उमीदी=आशा और निराशा; निगाह+ओ+बे-निगाही=देखना और न देखना; हमः=सब;

अ़र्ज़+ए+ना-शिकेबी=अधीरता के निवेदन; साज़+ए+जाँ-सितानी=प्राण लेने की विधियाँ।

व्याख्या—आशा और निराशा क्या हैं? केवल अधीरता के निवेदन हैं। मनुष्य अधीरता में आशान्वित हो जाता है। और अधीर होकर ही वह निराश हो जाता है। देखना और न देखना क्या है? केवल प्राण लेने की विधियाँ हैं। अगर मनुष्य ध्यानपूर्वक देखे तो भी मौत है और सबकी उपेक्षा कर दे, कुछ भी न देखे, तो भी मौत है।

अगर आरज़ू है राहत, तो अ़बस ब-ख़ूँ तपीदन
कि. ख़्याल हो तअ़ब-कश; ब-हवा+ए+कामरानी।।12।।

शब्दार्थ—राहत होना='राहत शुदन' का हिंदी अनुवाद, शांत होना; अ़बस=व्यर्थ; ख़ूँ तपीदन=ख़ून तड़पना, बेचैन होना; तअ़ब= अकुलाहट थकान; हवा+ए+कामरानी=सफलता के घमंड से।

व्याख्या—अगर आकांक्षाएँ शांत हो जाएँ तो व्यर्थ में ही तड़प और बेचैनी रहती ही है। कारण यह है कि कामनाओं के पूर्ण हो जाने का गर्व विचारों में अस्थिरता और अकुलाहट भरे रहता है।

शर+ओ+शोर+ए+आरज़ू से तब+ओ+ताब+ए+अ़िजुज़ बिहतर
न करे अगर हवस पर ग़म+ए+बेदिली गिरानी।।13।।

शब्दार्थ—शर+ओ+शोर=पाप और ऊँची आवाज़ हल्ला-गुल्ला; तब+ओ+ताब=दीप्ति, जलन; अ़िजुज़=विनम्रता और बलहीनता; बिहतर=अधिक अच्छा; हवस=चाह, वासना; ग़म+ए+बेदिली=रुचि के संपूर्ण अभाव का शोक; गिरानी करे=भारी पड़े, हावी हो जाए।

व्याख्या—कामना और आकांक्षा की इस अनैतिक आपाधापी से निर्बलता और विनम्रता की जलन अच्छी है। लेकिन ऐसा तभी संभव है जब लालसा पर रुचिहीनता और उदासी हावी न हो जाएँ।

हवस+ए+फ़ुरोख़्तन-हा, तब+ओ+ताब+ए+सोख़्तन-हा
सर+ए+शमूअ़ नक़ूश+ए+पा है, ब सिपास+ए+नातवानी।।14।।

शब्दार्थ—हवस=लालसा, फ़ुरोख़्तन=जलाना; तब+ओ+ताब= जलन; सोख़्तन=जलना; सर+ए+शमूअ़= मोमबत्ती की लौ; नक़ूश+ए+पा= पदचिह्न; सिपास+ए+नातवानी=दुर्बलता की कृपा।

व्याख्या—दीपक बड़ी लालसा और उत्साह से जलाया जाता है किंतु वह सारी लालसा और सारा उत्साह जल कर समाप्त हो जाने में, ज्वाला की जलन में सीमित रह जाता है। दीपक की लौ केवल एक पदचिह्न है, कोई राह नहीं, वह एक ही जगह रखे-रखे जल जाता है। दुर्बलता को धन्यवाद है कि उसकी यह कृपा है। आशय यह कि मोमबत्ती का सिरा जल कर उसके दूसरे नीचे वाले सिरे तक पहुँच जाता है और उस प्रकार उसका सिर एक पदचिह्न है। यह पदचिह्न प्रेमी का हो सकता है या प्रेमपात्र का किन्तु यही राह की वास्तविकता है।

शरर+ए+असीर+ए+दिल को मिले औज+ए+अ़र्ज़+ए+इज़्हार
जो ब-सूरत+ए+चराग़ाँ, करे शुअ़्लः नर्दुबानी।।15।।

शब्दार्थ—शरर+ए+असीर+ए+दिल=हृदय में बन्दी चिनगारी; औज+ए+अ़र्ज़+ए+इज़्हार=अभिव्यक्ति के निवेदन की उच्चता; ब-सूरत+ ए+चराग़ाँ=दीपमाला के रूप में; शुअ़्लः=लपट; नर्दुबानी=सीढ़ी का कार्य।

व्याख्या—हृदय में एक चिनगारी बंद है। वह उस बंदीगृह से निकलकर अपने को प्रकट कर सकने की ऊँचाई तक पहुँच सकती है। किंतु ऐसा तब संभव होगा जब लपट एक सोपान शृंखला का कार्य करे, एक चिनगारी से दूसरी जले और इस प्रकार एक दीप माला सी बन जाए जिसकी सीढ़ी पर चढ़कर यह पहली चिनगारी अपने को प्रकट कर सके।

जब सारे हृदय प्रज्वलित हो जाएँ तभी हृदय की बात बाहर आ सकती है।

हुए शौक़+ए+जुर्अत+ए+नाज़, रह+ओ+रस्म+ए+त़र्ह+ए+आदाब
ख़म+ए+पुश्त+ए+ख़ुशनुमा था, ब-गुज़ारिश+ए+जवानी।।16।।

शब्दार्थ—शौक़=उत्साह, अभिलाषा; जुर्अत=दुस्साहस; नाज़=गर्व, दर्प; रह+ओ+रस्म=राह और रीति; त़र्ह+ए+आदाब=विनय की पद्धति; ख़म+ए+पुश्त+ए+ख़ुशनुमा=अच्छी तरह प्रकट हुआ पीठ का झुकाव; गुज़ारिश=प्रार्थना।

व्याख्या—यौवन में जो कुछ भी दर्प का दुस्साहस था उसका उत्साह सबका सब शिष्टता और विनय की रीति-पद्धति में परिवर्तित हो गया। यौवन की यह प्रार्थना की मुद्रा ही वृद्धावस्था में प्रकट होकर झुकी हुई पीठ के रूप में दिखाई देती है।

अगर आरज़ू रसा हो, पय+ए+दर्द+ए+दिल दवा हो
वह अजल को ख़ूँ-बहा हो ब-शहीद+ए+नातवानी।।17।।

शब्दार्थ—आरज़ू रसा हो=अभिलाषा पूरी हो जाय;

पय+ए+दर्द+ए+दिल=हृदय की पीड़ा के लिए; अजल=मृत्यु; ख़ूँ-बहा=किसी की हत्या हो जाने पर उसके बदले में लिया जाने वाला धन; शहीद+ए+नातवानी=दुर्बलता का मारा हुआ।

व्याख्या–अगर अभिलाषा पूरी हो जाए तो हृदय की पीड़ा के लिए वह औषध हो जाए। मारने का अधिकार मृत्यु का था किंतु दुर्बलता ने मुझे मार दिया। इस प्रकार मृत्यु को यह अधिकार है कि वह इसके बदले में धन प्राप्त करे, यही अभिलाषा-पूर्ति ही वह धन है।

टिप्पणी–'ख़ूँ-बहा' या 'दियत' या 'अक़्ल' वह धन है जो हत्या हो जाने पर मारे गए व्यक्ति के संबंधी हत्यारे से माँग सकते हैं और इस तरह उसे हत्या के अपराध से मुक्त कर सकते हैं। इस्लामी न्याय विधियों में हत्या के बदले में हत्यारे का बध करने का अधिकार 'क़िसास' कहलाता है और हत्या के बदले में धन प्राप्त करना 'दियत' कहलाता है।

ग़म+ए+अिज़्ज़ का सफ़ीनः ब. किनार+ए+बेदिली है
मगर एक शहपर+ए+मोर करे साज़+ए+बादबानी।। 18।।

शब्दार्थ–ग़म+ए+अिज़्ज़=दुर्बलता का शोक; सफ़ीनः=नाव; ब.किनार+ए+बेदिली=उदासी के किनारे; मगर=इस बात को छोड़कर कि; शहपर+ए+मोर=चींटी का पंख; साज़+ए+ बादबानी=नाव की पाल का सामान।

व्याख्या–उदासी के घाट के किनारे निर्बलता के शोक की नौका है। यह यहीं पड़ी रहेगी। हाँ यह हो सकता है कि जिस तरह चींटी को कभी पंख उग आता है और वह अपनी सामर्थ्य से अधिक दावे करने लगती है उसी तरह इस नौका को भी अपनी सामर्थ्य से अधिक काम करने का दावा हो और वह चींटी के पंख से पाल का काम लेकर चल निकले।

मुझे इनूतिआश+ए+ग़म ने पय+ए+अर्ज़+ए+हाल बख़्शी
हवस+ए+ग़ज़ल सराई, तपिश+ए+फ़सानः ख़्वानी।। 19।।

शब्दार्थ–इनूतिआश=रोग मुक्त होना, चोट खाकर सँभलना, [किंतु मेरा मानना यह है कि ग़ालिब ने इसे शव यात्रा के अर्थ में प्रयुक्त किया है। यह शब्द नअ़्श (=शव युक्त अर्थी) से बना है] आनंद पय+ए+अर्ज़+ए+हाल=अपनी अवस्था के वर्णन के निमित्त; हवस+ए+ग़ज़ल सराई=ग़ज़ल कहने की अभिलाषा; तपिश+ए+फ़सानः ख़्वानी=कथा कहने की तड़प।

व्याख्या–शोक से मैं इतना आनन्दोन्मत्त हो गया कि उस आनंद ने मुझे अपनी अवस्था का वर्णन करने के लिए कविता और कथा रचने की आकांक्षा और अभिलाषा दी।

मुझे उससे क्या तव क़्.क़ुअ़, ब.ज़मानः+ए+जवानी
कभी कूदकी में जिसने न सुनी मिरी कहानी।। 20।।

शब्दार्थ–तवक़्क़ुअ=आशा, 'तवक़्क़ो' उच्चारण भी प्रचलित; कूदकी=बचपन।

व्याख्या–जिसने बचपन में मेरी कहानी नहीं सुनी उससे अब युवावस्था में मैं क्या आशा रखूँ?

टिप्पणी–इस शेर का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। या तो यह सिर्फ़ इतना कहता है कि मैं प्रियपात्र पर तब से आसक्त था जब वह बहुत बच्चा था लेकिन तब भी उसने मेरी बात नहीं सुनी, अब तो वह जवान हो गया अब मैं क्या आशा रखूँ कि वह मेरी बात सुनेगा। यह निहायत हल्का आशिकाना शेर न ग़ालिब के उपयुक्त है न इस कसीदे में कहीं ठीक बैठता है। दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि जब मैं छोटा था, निर्बल था तब भी ईश्वर ने मुझ पर अत्याचार करने में कोई कमी नहीं की और दया नहीं की अब तो मैं जवान हो गया अब भला क्या आशा करूँ कि ईश्वर कृपालु होगा। यह दूसरा अर्थ पहले से तो कुछ ठीक है, लेकिन इसमें भी कुछ कमी लगती है।

दिल+ए+ना उमीद क्यों कर ब.तसल्ली आशना हो
जो उमीदवार रहिए, ब. मर्ग+ए+नागहानी।। 21।।

शब्दार्थ–आशना=परिचित; मर्ग+ए+नागहानी=अचानक, जिसका समय निश्चित न हो ऐसी मौत।

व्याख्या–यह हृदय पूरी तौर पर आशा और विश्वास से रहित है। इसे शांति से परिचय कैसे हो जब कि इसकी सारी आशाएँ ले-देकर मृत्यु पर टिकी हैं और मृत्यु के आने का तो समय ही निश्चित नहीं।

मुझे बादः+ए+तरब से, ब ख़ुमार गाह+ए+क़िस्मत
जो मिली तो तल्ख़कामी, जो हुई तो सरगिरानी।। 22।।

शब्दार्थ–बादः+ए+तरब=विलास की मदिरा; ख़ुमार गाह+ए+क़िस्मत =भाग्य के मदिरालय में; तल्ख़कामी=कड़वे स्वाद का अनुभव; सरगिरानी=सर का भारीपन।

व्याख्या—भाग्य के मदिरालय में विलास और आनंद की मदिरा बँटी। मुझे तो उस मदिरा से केवल यही प्राप्त हो सका कि मेरी जीभ का स्वाद एकदम कड़वा हो गया और मेरा सर भारी हो गया। इस मदिरा के जो कटु अनुभव हैं वे मुझे प्राप्त हुए और अगर कोई सुखकर अनुभव हैं तो वे मुझे पता नहीं।

न. सितम कर अब तू मुझ पर, कि.व.दिन गए कि हाँ थी
मुझे ताक़त आज़मानी तुझे उल्फ़त आज़मानी।।23।।

शब्दार्थ—सितम=अत्याचार; हाँ=यहाँ।

व्याख्या—हे ईश्वर अब तू मुझ पर अत्याचार करना बंद कर दे। कोई समय ऐसा अवश्य था कि मैं यह देखना चाहता था कि तुझमें कितनी शक्ति है और तू मुझ पर कितना अत्याचार कर सकता है और तुझे यह जाँचना था कि मेरे मन में तेरे प्रति कितना प्रेम है कितनी आस्था है कि मैं इन अत्याचारों को सहकर भी तेरा भक्त बना रहूँ। परीक्षा का यह समय निकल गया अब मुझे इस खेल में रुचि नहीं है।

यु हीं दुख किसी को देना, नहीं ख़ूब वर्नः कहता
कि मिरे अ़दू को या रब, मिले मेरी ज़िंदगानी।।24।।

शब्दार्थ—यु हीं=अकारण; ख़ूब=अच्छा, अ़दू=शत्रु; या रब=हे ईश्वर।

व्याख्या—अकारण किसी को कष्ट देना कोई अच्छी बात नहीं अन्यथा मैं यह कहता कि हे ईश्वर मेरे शत्रु को मेरा जीवन दे दे जिससे कि मेरे ऊपर पड़ने वाले सारे दुख उसे झेलने पड़ें।

ब हज़ार उमीदवारी, रही एक अश्क बारी
न हुआ हसूल+ए+ज़ारी बजुज़ आस्तीं फ़िशानी।।25।।

शब्दार्थ—अश्क बारी=आँसू गिराना; हसूल+ए+ ज़ारी=रोने का प्रतिफल; ब जुज़=(इसके) अतिरिक्त (कि); आस्तीं फ़िशानी=कुर्ते की बाँह झटकना, किसी से किनारा कर लेना।

व्याख्या—हज़ारों अभ्यर्थनाओं और आशाओं के सम्मुख एक ही बात मेरे पास थी कि मैं आँसू बहाता रहूँ। इस रोने का कोई प्रतिफल नहीं मिला सिवाय इसके कि बार-बार कुर्त्ते की बाँह झटकता रहा।

आँसू पोंछने के लिए बार-बार कुर्ते की बाँह ऊपर करनी पड़ती है इसी को 'आस्तीं फ़िशानी' कहा गया है अर्थात् रोने से कोई लाभ नहीं कोई यह रोना नहीं सुनता, आँसू पोंछने के लिए जो हाथ झटकना पड़ता है और उससे जो उपेक्षा और तिरस्कार का भाव प्रकट होता है वही विलाप के अनुनय का प्रतिफल है।

करूँ अुज़्र+ए+तर्क+ए+सुहबत, सो कहाँ ब. बेदमाग़ी
न. गुरूर+ए+मीर ज़ाई, न. फ़िरेब+ए+नातवानी।।26।।

शब्दार्थ—अुज़्र=कारण; तर्क+ए+सुहबत=साथ उठने-बैठने को छोड़ देना; बेदमाग़ी=मन में अरुचि होना; गुरूर+ए+मीर ज़ाई= आभिजात्य का दर्प; फ़िरेब+ए+नातवानी=दुर्बलता का छल/भ्रम।

व्याख्या—मैं इस संसार के लोगों से मिलना-जुलना छोड़ सकता हूँ और एकांतवास कर सकता हूँ लेकिन कैसे करूँ? ऐसा करने के लिए जिस प्रकार के मन की आवश्यकता होती है जैसी वितृष्णा चाहिए वह दो ही कारणों से संभव है। या तो आभिजात्य का दर्प हो और प्रत्येक सांसारिक वस्तु को तिरस्कार से देखा जाय या फिर अपनी दुर्बलता का छलावा इतना फैला हो कि किसी में कोई रुचि न रह जाए। शक्ति और अशक्ति के ये दोनों ही चरम मेरे पास नहीं।

टिप्पणी—मीरज़ाई=मीरज़ा (मिर्ज़ा) होने का भाव; यहाँ ग़ालिब ने अपने 'मिर्ज़ा' होने का अर्थात् उच्च कुलोत्पन्न होने का भी संकेत किया है।

हमःयक नफ़स तपिश से तब+ओ+ताब+ए+हिज्र मत पूछ
कि. सितम कश+ए+जुनूं हूँ न. बक़द्र+ए+ज़िंदगानी।।27।।

शब्दार्थ—हमः=पूर्णतया; यक नफ़स तपिश=एक साँस की गर्मी; तब+ओ+ताब=जलन; हिज्र=वियोग; सितम कश+ए+ जुनूँ=विक्षिप्तता के अत्याचार उठाने वाला; बक़द्र+ए+ज़िंदगानी=जीवन की शक्ति के बल पर।

व्याख्या—वियोग की जलन को केवल इससे न नापो कि मेरी साँसों में कितनी आग है। मैंने विक्षिप्तता की पीड़ा उठाई है लेकिन वह जीवन की शक्ति के बल पर नहीं, वह कोई और ही शक्ति थी जिससे मैं यह पीड़ा और अत्याचार सहता रहा हूँ।

कफ़+ए+मौजः+ए+हया हूँ, ब गुज़ार+ए+अर्ज़+ए+मत़लब
कि सिरिश्क क़त्रः ज़न है ब. पयाम+ए+दिल रसानी।।28।।

शब्दार्थ—कफ़=टुकड़ा, मौजः+ए+ हया=लज्जा का क्षेत्र; ब गुज़ार+ए+अर्ज+ए+मत़लब=अपना उद्देश्य प्रकट करने के लिए;

सिरिश्क=आँसू; क़तूरः ज़न=बूँदें टपकाने वाले; पयाम+ए+ दिल रसानी=दिल तक पहुँचने वाला संदेश।

व्याख्या–मैं अपना उद्देश्य प्रकट करने के संबंध में लज्जा के नगर का एक अंश हूँ। लज्जा के नाते जो पसीना है वह मानो लज्जा के आँसू हैं जिन्हें लज्जा हृदय तक पहुँचने वाला संदेश भेजने के लिए टपका रही है। माथे से लज्जा के नाते पसीना टपक रहा है जो सीने तक जाकर मेरा उद्देश्य, मेरी प्रार्थना, हृदय तक पहुँचा देता है। अपना उद्देश्य बता पाने में लज्जा के मारे यद्यपि मैं असमर्थ हूँ किंतु वह लज्जा ही पसीने के रूप में मेरा संदेश हृदय तक पहुँचा देती है।

यही बार-बार जी में मिरे आए है कि. ग़ालिब
करूँ ख़्वान+ए+गुफ़्तगू पर दिल+ओ+जाँ की मेहमानी।। 29।।

शब्दार्थ–ख़्वान+ए+गुफ़्तगू=संवाद का भोजन स्थल।

व्याख्या–ग़ालिब, मेरे मन में बार-बार यही आता है कि मैं संवाद और काव्य रचना के यहाँ हृदय और प्राण को आमंत्रित करूँ और उनका आतिथ्य करके उन्हें तृप्त करूँ।

□

सुछंद कवि आलम की भावभूमि

सादर

रामसूर्ति त्रिपाठी

मुक्ति रीति रचनाकार की अपनी पहचान है और उसकी आधारभूत विशेषता वैयक्तिक राग की प्रबलता है जो आस्था और विश्वास के कारण लोक से अतृप्त होने पर लोकोत्तीर्ण से जुड़ती है। वे न तो लीक पीटते हैं, न परंपरा-विजड़ित अभिव्यक्ति-पद्धति में बँधते हैं और न परंपरा को स्वर देने में तटस्थ रहते हैं—वे धारास्थ होते हैं, इसीलिए उनमें अनुभूति-पक्ष की नवता या आपबीती होती है। फलतः पद्धति स्वनिर्मित और भाषा साफ तथा स्वच्छ होती है। भाव-गाम्भीर्य के कारण बाँकपन का आ जाना स्वाभाविक है। इनमें व्युत्पत्ति की जगह प्रातिभ स्फूर्ति कहीं-कहीं अधिक सक्रिय होती है। इन्हें उन लोगों पर गुस्सा आता है जो अर्जित ज्ञान या व्युत्पत्ति के बल पर कविता करते हैं। ठाकुर कहते हैं—

सीखि लीनौ मीन मृग खंजन कमल नैन
सीखि लीनौ जस ओ प्रताप की कहानो है
सीखि लीनौ कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिंतामनि
सीखि लीनौ पेरु और कुबेरगिरि आने है
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात
याको नहि मूलि कहूँ बाँधियत बानो है
डेल सौ बनाय आय मेलत समा के बीच
लोगन कवित्त कीबौ खेल करि जाने है।

इस रचना में बार-बार 'सीखि' (शिक्षा की व्युत्पत्ति) को, उसके बल पर अंतःप्रेरणा के अभाव में मर-पच कर कविता करने वालों को कोसा जा रहा है। और कहा जा रहा है कि कविता की बात बड़ी कठिन है, वह खेल नहीं है। मतलब वह असिधार-व्रत है। वह रचनाकार हो ही नहीं सकता जो अपने जीवन में रचनाकार नहीं है। जीवन में रचनाकार वही होता है जो मानवता से प्रतिबद्ध होकर मूल्यों को जीता है—अपमूल्यों से जूझता है, संघर्ष की आँच में—तपती धूप में कहीं से आस्था का रस खींचकर हरा-भरा बना रहता है। यह खेल नहीं है। ठाकुर इस 'खेल' की ओर इशारा कर रहे हैं। कविता बाहर की प्रलोभना से नहीं, भीतर की प्रेरणा से लिखी जाती है। घनानन्द अपनी पहचान अलग बनाते हुए कहते हैं—

लोग हैं लागि कवित्त बनावत
मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।

बद्ध रीति वाले लग-पचकर, बौद्धिक व्यायाम कर कविता बनाते हैं—मुक्त रीति वालों की तो कविता ही उन्हें बनाती है। भीतर का भावावेग यदि कविता में रूपान्तरित न होता तो वे विक्षिप्त हो जाते। यह कविता थी जिसने उन्हें ध्वस्त होने से बचा लिया—बचा ही नहीं लिया, बना दिया। अनुभूति और भाषा में रक्त और त्वचा का दृष्टांत है। कहने में जब वचन होता है, उसको बाहर लाने की विवशता रहती है तो भाषा सहज और सम्प्रेषणक्षम हो जाती है। जिसके पास हृदय की आँखें नहीं होतीं, वे इसे समझ भी नहीं सकते। कविता के विषय में आलम स्वयं कहते हैं—

छंद मूल पर धरनि, अर्थ जल विमल पूरि दिय।
वरण पत्रि उलहन किरण साखा प्रकास किय।
भाउ बिंद उपमा विहंग बहु बसहिं जु अस्थल
जुगति फूल रस रंग रसिक रीझहिं सुबासु चल।

छाया सुकृति जहँ जहँ चलिय 'आलम' फूलत सिंधु भर।
सुरतरसमान पोख्यो कविन, जग पर अमर कवित्त कर।।

जहाँ तक कविवर आलम के काव्य-वैभव का संबंध है—स्वच्छंद धारा या मुक्त रीति धारा के इन कवियों का मुख्य वर्ण्य 'प्रेम' है। सामान्यतः इन पर संप्रदाय, समाज और साहित्य की रूढ़ मर्यादाओं का बंधन रहता है, पर स्वच्छंद धारा वालों का प्रेम इनसे मुक्त रहता है, इसीलिए ये रीतिमुक्त, मुक्तरीति या स्वच्छंद धारा के रचनाकार माने जाते हैं। यों इनकी मुक्तक और प्रबंध—दोनों प्रकार की रचनाओं को लिया जाए तो उनमें पारिवारिक प्रेम भी मिलेगा और उन्मुक्त भी। प्रेम या श्रृंगार-भावना का निरूपण रीतिधारा की रूढ़ियों में बँधा भी मिलेगा और उनसे उन्मुक्त भी—स्वच्छंद भी। 'माधवानल-कामकन्दला' का प्रेम सामाजिक मर्यादा का अतिक्रमण करता है और 'श्यामसनेही' का भी। यद्यपि विवाह जो एक सामाजिक बन्धन है, उसमें दोनों प्रबंध काव्यों के नायक-नायिका बँधते हैं, पर लगता है वह निर्वाह-मात्र है। उनका हृदय तो विवाह-पूर्व के पूर्वराग-व्यंजना में कहीं ज्यादा रमा है। कामकन्दला तो वारांगना है। उसके साथ रागात्मक लगाव स्पष्ट ही समाज मर्यादा का अतिक्रमण कर मुक्त प्रेम का निदर्शन है। 'श्यामसनेही' में भी परिवार-जनों की इच्छा का स्पष्ट विरोध और साहसपूर्वक अंतःप्रेरित राग का अनुधावन है। 'सुदामाचरित' का सख्य-भाव-निर्वाह बिल्कुल अलग है।

इस स्वच्छंद प्रेम का जितना उन्मुक्त और प्रगाढ़ वर्णन उनके मुक्तकों में है—उतना प्रबंधों में नहीं। आखिर प्रबंध में कहीं तो वंध है। मुक्तक अपने काव्य रूप में भी मुक्त है—पूर्वापर के संबंध सूत्र से अनालिंगित। राग की व्यंजना में स्वच्छंद धारा का रचनाकार प्रिय और प्रेमी के बीच किसी की मध्यस्थता नहीं चाहता—कोई व्यवधान पसंद नहीं करता। आलम की रीतियुक्त रचनाओं में यह समाजानुमोदित व्यवधान नहीं है। हाँ, रीति का प्रभाव जिन रचनाओं में युग या प्रवाह के अनुरोध से है, वहाँ रचयिता का स्वच्छंद रूप ही अविद्यमान है। हम सबसे पहले उनकी पहचान बनाने वाले मुक्त प्रेम की व्यंजना का वैभव देखना चाहेंगे—

प्रेम व्यंजना में रचयिता की चेतना कभी बहिर्मुख रहकर विभाव आलम्बन का रूप सौंदर्य निहारती है और कभी आत्मगत उसके तर्पक-अतर्पक प्रभाव की व्यंजना में निरत रहती है। मुक्तधारा के कवियों की पहचान गहराती है—अंतिम पक्ष में। यद्यपि जैसा कि पहले कहा जा चुका है स्वच्छंद धारा के कवियों की पहचान कराने वाली मुख्य विशेषता है—प्रेम की वैयक्तिकता, जहाँ दूसरों का समावेश नहीं होता। रसखान की भाँति आलम द्वारा श्रृंगारिक रचनाओं में भी इसके विभिन्न प्रसंगों की व्यंजना गोपियों और कृष्ण के बीच कराई गई है। फलतः लगता है कि आलम का व्यक्ति-हृदय मौन है, मुखर नहीं है, पर विचार करने पर या उन रचनाओं की तह में पैठकर अनुभव करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि गोपी और कृष्ण तो आवरण हैं। वस्तुतः उनके व्याज से इनका ही व्यक्ति-हृदय मुखर है। जहाँ गोपीकृष्ण से अनाच्छन्न अभिव्यक्ति है वहाँ तो इनका साधारणीकृत व्यक्ति-हृदय मुखर है ही। 'साधारणीकृत' और 'व्यक्ति-हृदय' यद्यपि आपाततः विरोधी लगते हैं तथापि काव्योचित मनोदशा में उभरते भाव सहृदयमात्र-संवेद्य बन जाते हैं—उसमें सहृदयमात्र सहभागी बन सकते हैं। अंतःप्रेरणा की आँच में बाधक व्यक्तिगत तत्व गल जाते हैं, इसीलिए प्रगीत वैयक्तिक भाव-भूमि के होते हुए भी सहृदय-जन संवेग हो जाते हैं।

आलम का प्रेमी कभी तृप्ति का अनुभव नहीं करता। वियोग या पूर्व राग में तो तृप्ति का सवाल ही नहीं उठता। संयोग के क्षणों में भी उसकी अपार तृषा और भावी विप्रयोग के सन्देह से ग्रस्त मनोदशा तृप्त नहीं हो पाती। प्रेम की गहराई से प्रिय का रूप नया-नया होता जाता है। और रूप की रमणीयता से प्रिय का प्रेम-भाव गहराता जाता है। प्रेम में गहराई अतृप्ति से ही आती है। कालिदास का 'मेघदूत' कहता है कि वियोग में खर्ची के न होने से प्रेम की राशि में वृद्धि हो जाती है—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्तेत्वभोगा—
दिष्टे वस्तुव्युपचितरसाः प्रेमराशीभवंति।।

—उत्तरमेघ, 49

कुछ लोग कहते हैं —'मैत्री प्रवासात्' —लंबे व्यवधान से मैत्री-प्रेमभाव समाप्त हो जाता है, पर कालिदास इसका प्रत्याख्यान करते हैं और कहते हैं कि यह धारणा गलत है। वस्तुतः विप्रयोग में इष्ट का अनुपभोग होने से—खर्ची न होने से—वह संगृहीत होता रहता है और एक बड़ी राशि बन जाता है। स्वच्छंद धारा के प्रेमी कवियों की अभिलाषा या तृषा कभी समाप्त ही नहीं होती। देखिए—

मया करि चितै चितु चोरि लीनौ हितु करि।
हिय बिनु चितै नहीं सोई सोच नित है।
आलम कहै हो पुर वास में जो बसी तिन्है
नैसुक न चाउ, निसु बासर चकित है।
देखे टक लागे अनदेखे पलको ना लागै
देखे-अनदेखे नैना निमिष रहत हैं।
सुखी तुम्ह कान्ह हौ जु आन की न चिंता,
हम देखेउ दुखित अनदेखेहू डारवेत हैं।।

—आलमकेलि, 185।।

प्रिय प्रेमी की ओर प्रेमपूर्वक ही देखता है और ऐसे देखने का प्रभाव प्रेमी पर यह होता है कि उसका चित्त पराया हो जाता है—प्रिय के पास चला जाता है। वेदना तो इसी बात की है कि जब प्रिय देखता है तो प्रेम से ही देखता है। उसका यही देखना कलेजे में धँस जाता है—नष्ट शल्य की भाँति निकाले नहीं निकलता। जो उनकी पुरवासिनी है, उनकी बात छोड़ो। स्वच्छंद धारा के प्रेमी पर जो बीतती है, वह अलग ही है। यह अतृप्त राग गर्म नेत्रों से जब प्रिय के रूप को देखता है, तो उसकी टकटकी लग जाती है और जब रूप सामने नहीं रहता तब अनिद्रा के कारण पलक भी आपस में लगना छोड़ देते हैं—पलक निष्पलक हो जाते हैं—आँखें तब भी नहीं ढँपतीं। दोनों ही हालत में आँखें खुली रहती हैं—देखें तो और न देखें तो। प्रेमी उलाहना देता है कि प्रेमियों के संसार में यदि कोई सुखी है तो केवल उसका प्रिय, जिसे किसी की चिंता नहीं—अपनों की भी नहीं। लगता है कि ममता पैदा करने वाली सहानुभूति की आँख ही विधाता ने उसे नहीं दी, इसीलिए वह निर्मम हो गया है। यहाँ तो प्रेमी की हालत यह है कि वह देखते हुए भी अतृप्त है और न देखते हुए तो अतृप्त है ही। उसका प्रिय नाम-मात्र को प्रिय है—उसके अर्थ में प्रीणन का भाव नहीं है। प्रिय का अर्थ तो होता है—जो प्रीणन करे—'प्रीणाति, इति प्रियः।' इसका कुछ और नाम होता तो कम से कम सार्थक तो होता। सुना तो है कि विधाता की दृष्टि में कुछ निरर्थक है ही नहीं—सब कुछ प्रयोजन और सार्थक है। हो सकता है यह प्रेमी के दुष्प्रारब्ध की परिणति हो, जिससे सबकुछ उतर गया हो। जब सारे संसार को उससे कोई शिकायत न हो—केवल प्रेमी व्यक्ति को ही हो—तो निश्चय ही उसमें उसी का दोष है, सामने वाले का क्या दोष ? कौन बताए कि दोषी प्रेमी है या निष्ठुर प्रिय ? गोपिकाओं के माध्यम से स्वच्छंद प्रेमी का हृदय प्रिय कृष्ण को संबोधित करते हुए कहता है—

कछु न सुहात, मैं उदास, परबस वास
जाके बल हूजे, तासों जीते हू पै हारिये।
आलम कहै हो हम दुहूँ विधि थकी कान्ह
अनदिखे दुःख देखें धीर जन धारिये।
कछु व कहोगे, कै अबोले ही रहोगे लाल
मन के मरोरे कौ लौ मन ही में मारिये।
मोह सों चितैबो कीजे चितहू की चाह कै जू
मोहनी चितैनी प्यारे मो तन निवारिये।।

—आलमकेलि, 187।।

प्रिय की दशा यह है कि लाख कहने पर भी अपनी अप्रत्याशित हरकतों का कोई जवाब ही नहीं देता। आखिर प्रेमी कब तक प्रिय से संबद्ध मन में उठती हुई बेहिसाब अभिलाषाओं की हत्या करता रहे। कैसा है, यह प्रिय—जो खुद भी हत्या करता है और अपने प्रेमी को भी हत्यारा बनाने को विवश कर देता है ? घनानन्द भी इसी स्वर में बोलते हैं—

यह कैसी वियोगन जानि परै
जो संजोगहु में न विछोहत है।

हे मालिक, कैसा है यह वियोग जो संयोग में भी पल्ला नहीं छोड़ता ? प्रिय की विचित्र आदत है कि वह प्रेमी को लक्ष्य कर प्रेम-गर्म चेष्टाएँ करता रहता है, पर इससे भरभराकर उठती-गिरती अभिलाषाओं को कोई सहारा नहीं देता। इससे क्या निष्कर्ष निकाला जाए—प्रेमी निष्ठुर है, उसे तड़पाने में ही आनंद है—फलतः जल्लाद है और अगर ऐसा ही है तो क्या यह अनुनयनिष्ठ रति नहीं, रसाभास है ? क्या यह फारसी के माशूक का प्रभाव है ? क्या भारतीय प्रकृति की गोपियाँ कृष्ण की निठुराई पर उन्हें उपालम्भ नहीं देतीं ? क्या 'भँवरगीत' के निर्माण द्वारा आलम इस परंपरा में नहीं आते ? क्या असलियत फारसी के माशूक का प्रभाव है और 'भँवरगीत' मात्र परंपरा-पालन और युग का प्रभाव है ? ऐसे कई प्रश्न इस संदर्भ में विचारणार्थ उभरते हैं—सामने आते हैं।

आलम की रचनाओं के साक्ष्य पर इन प्रश्नों का उत्तर दिया जाए तो यह कहा जा सकता है कि वह समय फारसी के प्रभाव

का भी था और भक्ति-काल तो था ही। रसखान मुसलमान थे, बोधा, घनानन्द आदि कायस्थ थे। अतः अधिकांश स्वच्छंद धारा के रचयिताओं पर फारसी का प्रभाव तो था ही। तुलना करने पर घनानन्द में फारसी का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है। उनका प्रिय कहीं अधिक निठुर है। तभी तो कहते हैं—"ऐ रे निरदई तोहि दया उपजाय हौं।" वैसे आलम भी कह ही देते हैं—

ऊँचे चितवत नाहीं, नीचे मुसक्यात जात।
ऐसी निठुराई कान्ह कौने बदी कब तें।।

—आलमकेलि, 178।।

कभी-कभी निठुर ही नहीं, 'निपट निठुर' भी कह देते हैं पर 'भँवरगीत' लिखने वाले का हृदय फारसी आशिक का हृदय नहीं हो सकता। उसमें यदि प्रिय की निठुरता प्रतीत होती है तो अपनी तृषा की बहुलता के कारण, न कि उसकी उदासीनता के कारण। वहाँ प्रिय भी प्रेम से देखता है—अतः रति अनुनयनिष्ठ नहीं है—इसीलिए शृंगाराभास की नहीं, अपितु शृंगार या प्रेम की प्रगाढ़ता, तीव्रता तथा एकनिष्ठता का द्योतक है।

आलम का प्रेम लौकिक है। जहाँ अलौकिक गोपी-कृष्ण का नाम है। वह आवरण है। यही कारण है कि उनकी प्रेम-व्यंजना में लौकिक और अलौकिक का अंतर बना हुआ है। अलौकिक विरह अलौकिक ही है—उसके सहने के लिए अलौकिक भावमय देह मिलती है। इस भौतिक और नश्वर देह से विरह की वह आँच बरदाश्त नहीं की जा सकती—वह तड़क कर फूट जाएगी। लेकिन अलौकिक विरह की जहाँ लोकोत्तरता है वहाँ संयोग की भी तृप्ति है। रासलीला का भी सुख है पर लौकिक प्रेम की स्थिति अलग है। यहाँ रासलीला नहीं है। यहाँ वासना की आग बढ़ती ही रहती है—तृप्त होना जानती ही नहीं। यह प्रेम संयोग हो या वियोग—इसका पर्यवसान दुःख में ही होता है। यहाँ की नियति है—'संयोगः विप्रयोगान्ताः'—अतः संयोग में भी विप्रयोग की आशंका जानलेवा कष्ट देती है। यह व्यक्तिगत होने से सार्वजनीन बनाई भी नहीं जा सकती। 'स्निग्ध जन संविभतं हि दुःखं सह्यमिव भवति'—का तर्क यहाँ कैसे लागू हो ? अकेले ही और भीतर-भीतर ही बर्दाश्त करना है। इतना अवश्य है कि प्रिय के संयोग की तरह प्रिय का वियोग भी 'प्रिय का' होने से प्रिय बन जाता है—'भावतो', उसे उसी विरह की भाड़ में ही रहने की आदत बन गई है। उसके बिना भी रहना संभव नहीं।

औषध हितावे ताहि वेदना न भावै जाहि।
भीर छाँड़ि वीर वैद पीर मोहिं प्यारी है।।

सूफियों के यहाँ इश्क के दो सोपान होते हैं—मजाजी और हकीकी। वहाँ मजाजी इश्क का आलम्बन एक सीमा पर पहुँचकर नगण्य हो जाता है—वहाँ 'इश्क' ही हक है, वही साध्य है। लौकिक प्रेम में यह बात नहीं है—आलम के यहाँ यह बात नहीं है। यहाँ मजाजी ही मजाजी है—आलम्बन यहाँ कभी नगण्य नहीं होता। यहाँ उसी को लेकर सबकुछ है। उसे छोड़कर भाव की सत्ता ही नहीं है। दुनिया को कृष्ण काले लगते हों तो लगें, आलम की गोपी—उनका प्रेमी अपने कृष्ण की कालिमा में ही उज्ज्वलता देखता है। उनका प्रेमी कहता है—

चंद को चकोर देखे निसि दिन को न लेखे।
चंद बिना दिन छवि लागति अँध्यारी है।
आलम कहे हो आली अलि फूल हेत चले।
कटि-सी कंथिली बेलि ऐसी प्रीति प्यारी है।
कारो कान्ह कहत गँवारी ऐसी लागति है।
मोहि वाकी स्यामताई लागति उज्यारी है।
मन की अटक तहाँ रूप को विचारु कहाँ।
रीझिबो को पैड़ों तहाँ बूझि कछु न्यारी है।।

—आलमकेलि, 148।।

चाँद के बिना दिन का उजेला उसे अँधेरा ही लगता है। जो कान्ह को काला कहती हैं, वे गँवारिन हैं। उन्हें तो उनके श्याम रंग में ही उजियारी नजर आती है। यहाँ आलम्बन का महत्व सर्वोपरि है। प्रेम का उन्मुक्त वर्णन करने में साहित्य समाज या सम्प्रदाय की मर्यादा-रेखाओं का उन्हें कोई ध्यान नहीं है। रागावेग की चरितार्थता में आड़े आने वाली लज्जा के लगाम नेत्र नहीं मानते, संघर्ष करते हैं—

लाजनि की मीर पल मेडोऊ न पावै नैन,
शैख धीरे सकुचि विचारि पाँव धरिये।
कीजे कहा कान्हर कनौड़ी ह्वेके जीबो नाहीं।
ना तो एक वास में उसाँस लै लै मरिये।।

—आलमकेलि, 190।।

प्रेम का यही स्वच्छन्द रूप आलम की पहचान है। प्रेम में अन्तर्मुख हुआ तो हृदय की बीती कहता है और बहिर्मुख हुआ

तो प्रिय के बारे में बोलता है, उसके रूप-सौन्दर्य का बखान करता है। आलम ने अपने प्रिय या प्रिया का रूप-सौंदर्य तीन पद्धतियों से व्यक्त किया है। एक तो आलंबन रूप में साक्षात् वर्णन किया गया है, दूसरे, दूती के माध्यम से नायक की भावना को अंकुरित और दीप्त करने के लिए किया गया है और तीसरे, नायक ही नायिका पर रीझकर उसकी प्रशंसा कर रहा है। इस भावनामय चेतना से देखा गया रूप-सौंदर्य रचयिता की कल्पना को दीप्त करता है और कल्पना में एक से एक चित्र बनते हैं, वाणी को अभूतपूर्व भंगिमा प्राप्त होती है, आलंकारिकता का उफान आ जाता है। मतलब आलम रीतिबद्ध पद्धति पर भी सौंदर्य वर्णन करते हैं। उन्हीं अप्रस्तुतों की योजना होती है जो परंपरा में प्रयुक्त हैं। हाँ, जब उनसे मुक्त होते हैं तब अपनी स्वच्छंद भाव-धारा में स्नात होते हैं, जैसे—

चितवन औरे लागे बोले और जोति जागे।
हँसे कछु औरे रूसे औरई निकाई है।
अंग अंग मोहनी मोहन मन मोहिबे कौ
एन नैनमानो मैन मोहिनी बनाई है
'आलम' कहै हौ सब आगरो समातु नाहीं
छवि छलकति इहाँ कौन की समाई है।
मूषन को मारु है किसोरी वैस गोरी बाल
तेरे तन प्यारी कोटि मूषन गुराई है।।

—आलमकेलि, 17।।

इस वर्णना में वर्णयिता की रागानुभूतिमयी की चेतना जितनी ही गहराती है, रूप-सौंदर्य उतना ही निखरकर आता है। वस्तुतः ये दोनों परस्पर संबद्ध हैं और एक दूसरे को बढ़ाते हैं। यों तो भेदकातिशयोक्ति और स्वरूपोत्प्रेक्षा का सहारा है पर प्रवाह से लगता है कि वर्णयिता रसावेश में यह सब निरायास कर गया है—रीतिबद्ध वर्णयिताओं की भाँति सायास नहीं है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन के अनुसार—

रसाक्षिप्ततया यस्य बंधः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारः ध्वनौ मतः।।

यहाँ का अलंकार रसावेश से आक्षिप्त होकर (अलग से किए हुए प्रयास द्वारा सम्पादित नहीं है) निरायास सम्पादित है। वैसे तो रूप-वर्णन के और भी प्रसंग हैं जहाँ संदेहालंकार का अनवरत प्रवाह है, पर सहज और आवेग-प्रसूत निर्वाह प्रतीत होता है। देखें, 'अक्षरमालिका' के पृष्ठ भाग 124 और 125 पर लगातार चार छंद 'किधौं' से आरंभ होते हैं और अप्रस्तुतों की भरमार लगा देते हैं—

(1) किधौं कलधूत की सी पूतरी विरंचि रची
× × ×
मिहरी के देखें मति तिह ह्वै गई है।।

—अक्षरमालिका, 131।

(2) किधौं जा हिमांचल में गात ही लगायौ इन
× × ×
बेसरि कौ मोती मानो कौन पुन्य कर्‌यौ है।।

—अक्षरमालिका, 17।

(3) किधौं पै निहकलंक कलानिधि हूँ की कला
× × ×
उर बसी मेरे तू ही उरबसी है।।

—अक्षरमालिका, 122।

(4) किधौं निकलंक क्लानिधि की कला है इह
× × ×
उरबसी मेरे तू ही उर बसी है।।

—अक्षरमालिका, 196।

शृंगार के इन प्रसंगों को 'आलमकेलि' के इस संग्रह में जिन शीर्षकों में विभाजित किया गया है, उन्हें देखने से लगता है कि संग्रहकार ने अपनी रुचि के चौखटे में इन छन्दों को एकत्र कर दिया है। स्वच्छंद रुचि के आलम ने वैसा किया होगा, इसमें संदेह है। संग्रह के शीर्षक इस प्रकार हैं—बाललीला, वयःसंधि वर्णन, नवोढ़ा वर्णन, प्रौढ़ा वर्णन, अभिसार, मानिनी, संकेतस्थल वर्णन, नायक की दूती द्वारा नायिका वर्णन, विरह-वर्णन, सखी की उक्ति सखी के प्रति, खंडिता वर्णन, प्रेमकथा, वंशी, प्रव्रत्स्यत्पतिका, भँवरगीत, उद्धव का लौटना, जसोदा-विरह, गोपी-विरह, पवन वर्णन (विरहिणी द्वारा), जमुना कुंज, गंगा वर्णन, दीनता, शिव, देवी, रामलीला, रेखता, सवैया, विपरीति वर्णन, यशोदा की उक्ति, नवयौवना, मानवर्णन, चन्द्रकलंक, कुचछवि, युगलमूर्ति, अभिसार तथा आगत-पतिका।

इन शीर्षकों में शृंगार भी है और भक्ति भी। परन्तु मुख्य विषय प्रेम ही है—यह निर्भ्रान्त पक्ष है। उसके विभिन्न रूप संभव

हैं पर उनमें मुख्य है—शृंगार। इस शृंगार में भी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विप्रयोग की चेतना ही प्रधान है। विप्रयोग का वर्णन कहीं-कहीं ऊहात्मक भी हो गया है, पर संवेदनात्मक वर्णन के प्रवाह में उतना खटकता नहीं है। जैसे जायसी के संवेदनात्मक विरह वर्णन में उनके ऊहात्मक वर्णन आड़े नहीं आते। एक उदाहरण लें—

अँखियाँ मलीजु ऐसे अँसुवनि धारै, नातौ
धारा पल छूटे तिहुँ देस न समाति है।
ओधि है जू धूम की उसाँस रुधि राखी है सु
नेकु लेत चौसहू अँध्यारी होति राति है।
आलम संताप स्वेत सींचिबौ अधार को हूँ
फुरि ह्वै के देह फिर खेह ज्यों उड़ाति है।
छाती पे सराहौ बरु दीया की सी भाँति ऊधौ
पाती लिखे लेखनी ज्यों बाती बरी जाती है।।

यह 'भँवरगीत' के प्रसंग का विप्रलंभ है। भला हो आँखों का जो आँसुओं को धारण किए रहती हैं, अन्यथा अगर वे ऐसा न करतीं तो पलक से छूटी धारा तीनों लोकों को बहा डालती। यह तो कृष्ण की दी हुई अवधि है जिसने उच्छ्‌वास के धूम को अवरुद्ध कर रखा है, अन्यथा चारों ओर भयंकर अंधकार फैल जाता। भला हो संतापजनित प्रस्वेद को जो देह को सूखने से बचा लेते हैं, अन्यथा सारी देह सूखकर धूल की तरह सर्वत्र उड़ती रहती। धन्य है उस विरहिणी की छाती, जहाँ पर लेखनी रखकर जब वह पाती लिखती है तो लगता है बत्ती जल रही है। कैसे धारण करती है छाती विरह की इतनी आग ? अब, बताइए क्या करेगा कोई ऊहा ?

मुक्तकों में व्यक्ति-हृदय और प्रबंध में लोकमंगलोन्मुखी हृदय प्रायः मुखर होता है। प्रबंध विवरण-प्रधान—फलतः बहिर्मुखी प्रकृति का—होता ही है। आलम के तीन प्रबंधों— 'माधवानल-कामकन्दला', 'श्यामसनेही' तथा 'सुदामाचरित'—में से दो मर्यादा-भक्त हैं और तीसरे में सख्य-भाव है। यद्यपि बाद में पूर्वोक्त दोनों प्रबंधों में समाजानुमोदित विवाह संस्था का निर्वाह है, पर आरंभ स्वच्छंद प्रेम से ही है। स्वच्छंद आरंभ प्रेम की संपन्नता के निमित्त एक जगह यानी 'माधवानल-कामकन्दला' में संघर्ष नायक करता है और अन्यत्र यानी 'श्यामसनेही' में रुक्मिणी नायिका। यह अवश्य है कि रुक्मिणी का संदेश पाकर कृष्ण भी अपना योगदान करते हैं। पूर्वत्र मृत नामक नायिका तथा मरणोद्यत विक्रम की रक्षा उसका मित्र बैताल करता है और अन्यत्र मरणोन्मुख रुक्म की रक्षा रुक्मिणी की करुणार्द्रता से होती है। लोकोपकार की भावना कहीं न कहीं उभयत्र विद्यमान है, जबकि 'सुदामाचरित' में विशुद्ध उपकार की ही भावना व्याप्त है। सख्य और माधुर्य के साथ 'आलमकेलि' में जसोदा-विरह का प्रसंग लाकर वात्सल्य का प्रसंग भी ला दिया गया है। इस प्रकार प्रेम के तीनों पक्षों का रूप इनकी रचनाओं में विद्यमान है। आलम का काल अकबर-टोडरमल का काल है—अतः प्रभाव भक्ति का है। युगपत् उसके भीतर से लोकगत राग भी जोर मारकर रीति की सीमा और कभी-कभी उसे लाँघकर भी आगे चला जाता है। आलम इसी भूमि के रचयिता हैं जिन्होंने मुक्तरीति धारा में अपनी विशिष्ट पहचान बना ली है।

भाव के क्षेत्र में प्रेम से बढ़कर कोई भाव नहीं है। 'अभिनव-भारती' में अभिनवगुप्त ने भाव तो 'राग' को ही माना है जो निमित्त भेद से भावांतर में रूपांतरित हो जाता है। भोजराज इसीलिए शृंगार को ही एकमात्र रस मानते हैं और 'रसिक' व्यवहार का लोकगत प्रामाण्य प्रस्तुत करते हैं। वटयक्षवत् अन्य भावों में रस की प्रसिद्धि गड्डरिका-प्रवाहवश है। इस प्रेम की कोई सीमा नहीं है और जब सीमा में बँधता है तो उसे तोड़कर निस्सीम होता है। तत्त्वतः लोक और लोकोत्तर भूमि पर प्रवहमान राग अपनी मूल प्रकृति में अभिन्न है। □

आचार्य कवि द्विजदेव : काव्य-साधना के नये आयाम

किशोरीलाल

अयोध्या नरेश महाराज मानसिंह द्विजदेव हिंदी की शृंगारिक काव्य परंपरा के अंतिम श्रेष्ठ कवि माने जाते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार जिस प्रकार रीति युग के अंतिम लक्षण ग्रंथकार पद्माकर कहे जाते हैं उसी प्रकार समूची शृंगार परंपरा में द्विजदेव कवि। उनका यह भी कहना था कि इनकी सी सरस और भावमयी फुटकल शृंगारी कविता फिर दुर्लभ हो गई।[1]

द्विजदेव जी की तीन प्रमुख कृतियाँ—शृंगार लतिका, शृंगार बत्तीसी और शृंगार चालीसी प्राप्त हैं, किंतु बहुचर्चित कृति शृंगार लतिका ही है जिसकी सौरभी टीका महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' के दौहित्र और रसकुसुमाकर नामक प्रसिद्ध लक्षण ग्रंथ के रचयिता महाराज प्रताप नारायण सिंह 'ददुआसाहब' ने की है। 'शृंगार लतिका सौरभ' नामक इस विशाल काव्य ग्रंथ को अवधेश्वरी महारानी जगदम्बिका देवी ने बहुत ही सजधज और कलात्मक रूप में प्रयाग के प्रसिद्ध इंडियन प्रेस से सं. 1993 में मुद्रित कराया था।

वस्तुतः मूल्यांकन की दृष्टियाँ बदल जाने पर भक्ति और रीतिकाल दोनें ही युगों की रचनाओं का सही और यथार्थ मूल्यांकन नहीं किया जा सका। 'काव्य जीवन की समीक्षा है' का बिगुल आधुनिक समीक्षा शास्त्र की मान्यताओं से जुड़े मनीषी निरंतर बजाते रहे, परिणाम यह हुआ कि इस लपेट में केशव, बिहारी, दास और पद्माकर ही नहीं आए, द्विजदेव जैसे रससिद्ध सच्चे प्रेम के गायक और सौंदर्य चेतना के महान साधक भी नहीं बच सके। वास्तव में आरोपित मानदंडों के आधार पर काव्योचित स्वारस्य और प्रकृत संवेदनात्मक बिम्बों का ठीक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। सत्य तो यह है कि शृंगार के नाम पर नाक-भौंह सिकोड़ने वाले महानुभावों ने ऐसी रचनाओं को बहुत पीछे ढकेल दिया और मधव्रती पाठक शनैःशनैः प्रेम और शृंगार के इन गायकों के नाम को भूलते चले गए। आज की नई पीढ़ी घनानंद, बोधा, आलम, ठाकुर और द्विजदेव जैसे कलाकारों से सर्वथा अनभिज्ञ प्रतीत होती है। क्योंकि इन रचनाकारों की रचनाओं के पठन-पाठन की परंपरा प्रायः समाप्त होती जा रही है। यह दूसरी बात है कि परीक्षाओं के भय से ऐसे कवियों के दो-चार नाम स्मरण हो जाएँ।

शृंगारिक काव्य की रूढ़ियों से मुक्त प्रेम और सौंदर्य के उन्मुक्त गायकों की श्रेणी में जिन कवियों की गणना की जाती है उनमें निश्चय ही घनानंद और द्विजदेव का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। किंतु रसज्ञ मानस में जिनके छंदों ने अपनी सहजता, सरलता और सरसता के कारण अपना विशेष स्थान बनाया है उनमें केवल एक नाम लिया जा सकता है—और वह नाम महाराज मानसिंह द्विजदेव का है। और स्पष्ट शब्दों में यह कथन अनुचित न होगा कि घनानंद की लाक्षणिक शब्दावली और भावों की अभिव्यक्तिगत जटिलता का ग्रहण सब के लिए संभव नहीं और बोधा और आलम की रचनाओं का स्तर तो निश्चय ही घनानंद और द्विजदेव से कहीं न्यून है। जहाँ तक ठाकुर कवि की रचना की विशेषता का प्रश्न है वह केवल लोकोक्तियों के आधार पर टिकी है, तीखी व्यंजना की दृष्टि से उसके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता पर हृदय के उन्मुक्त भावों के सहज प्रवाह को वहन करने की क्षमता कदाचित् उनमें नहीं मिलेगी। रसखान और बक्सी हंसराज की रचनाओं का आधार भक्तितत्त्व है पर द्विजदेव ने लौकिक धरातल पर प्रेम तत्त्व के सूक्ष्म और गहरे स्वरूप का तथा

1. हिंदी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 399, सं. 2003 का संस्करण

सौंदर्य बोध के अंतर्हित वैशिष्ट्य का जैसा मार्मिक उद्घाटन किया है, वह अन्यत्र विरल है। यही नहीं मनस्तत्व की कसौटी पर उनके छंदों का यदि परीक्षण किया जाए तो निस्संदेह उनका प्रायः प्रत्येक छंद सर्वथा सफल प्रतीत होता है। इस संबंध में डॉ. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने यत्किंचित् प्रयास अपने शोध प्रबंध में किया भी है। लेकिन अभी भी उनकी रचनाओं को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की अपेक्षा बनी हुई है, केवल भाव या रस चक्र के बाह्य धरातल का संस्पर्शन रचना की महत्ता और सांद्रता का सच्चा प्रमाण कथमपि प्रस्तुत नहीं कर सकता।

भाव बिंबों की पकड़ और संवेदना के अनूठे चित्रों के रेखांकन की जैसी कला द्विजदेव में थी, वह 'न भूतो न भविष्यति' कथन को यदि यह अतिशयोक्ति न हो तो, पूर्णतया चरितार्थ करती है। मुझे स्मरण हैं कि आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राचीन काव्य के मान्य विद्वान डॉ. रामशंकर शुक्ल द्विजदेव के इस छंद को जिस तन्मयता और भावनिष्ठा के साथ वाचन करते थे और अपनी विशिष्ट आंगिक चेष्टाओं के माध्यम से एक-एक शब्द में अंतर्हित भाव-व्यंजना के उत्कर्ष को इस ढंग से निरूपित करते थे कि रस-प्रमाता ही नहीं सामान्य पाठक भी मुग्ध हो जाता था—

अब मति दैरी कान कान्ह की बसीठिनि पै,
झूंठे झूंठे प्रेम के पतौवन को फेरि दै।
उरझि रही ती जो अनेक पुरुषा तैं,
सोऊ नाते की गिरह मूंदि नैननि निबेरि दै,
मरन चहत काहू छैल पैं छबीली कोऊ,
हाथन उचाय ब्रज बीथिन में टेरि दै।
नेहरी-कहाँ को जरि खेहरी भई तो,
मेरी-देहरी उठाय वाकी देहरी पै गेरि दै।
—शृंगार चालीसी, छं.सं. 40

यद्यपि द्विजदेव जी शब्द मैत्री या वर्ण मैत्री के चक्कर में नहीं पड़े पर ऐसा नहीं है कि भावों की तरलता और अनुभूति की गहनता के मध्य प्रवाहित शब्द या वर्ण पुष्पों जैसी छटा न प्रदर्शित करते हों। 'नेह' और 'स्नेह' के साथ ही देहरी का युग्मक प्रयोग यमक की कृत्रिम छटा नहीं बिखेरती अपितु भावानुभूतियों की प्रगाढ़ता और सांद्रता में सम्यक रूपेण योग देती प्रतीत होती है।

कहा जाता है कि घनानंद और बोधा की रचनाओं पर फारसी काव्य परंपरा का प्रभाव विशेषकर प्रेमोत्कर्ष की व्यंजना के संदर्भ में यत्र-तत्र देखा जा सकता है, पर यही बात द्विजदेव के संबंध में नहीं कही जा सकती। वे वस्तुतः प्रेम तत्त्व के निरूपण में विशुद्ध भारतीय दृष्टि का विनियोग करते हुए देखे जा सकते हैं। उपरोक्त छंद में प्रयुक्त 'पतौवन', 'गिरह' और 'उचाय' शब्द अपनी सहजता के कारण ब्रज की मिठास का एक ज्वलंत नमूना है। ऐसे प्रयोग रीति मुक्त काव्यधारा के अंतर्गत द्विजदेव और ठाकुर में ही देखे जा सकते हैं, पर ठाकुर के प्रयोग बुंदेलखंडी मिठास लिए हुए हैं, उनमें ब्रज का मार्दव गुण अधिक नहीं आ सका है।

भाव राशि का अवगाहन करने के साथ ही द्विजदेव की वाणी वक्रता के विधान में भी पूर्ण सक्षम थी, पर यह वक्रता मात्र चमत्कारमूलक न होकर भाव प्रेरित और हृदय की संवेदना से संबद्ध थी। इस संबंध में द्विजदेव का यह छंद द्रष्टव्य है।

आजु सुभाइन ही गई बाग बिलोक प्रसून की पाँति रही पगि।
ताही समै तहँ आए गुपाल तिन्हैं लखि औरों गयो हियरो ठगि।
पै द्विजदेव न जानि पर्‌यौ धौं कहा तिहि काल परे अँसुवा जगि।[1]
तू जो कहै सखि लौनो स्वरूप सो मो अँखियान मैं लोनो गयो लगि।

इस छंद की अंतिम पंक्ति की उक्ति गत सुंदरता पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल मुग्ध थे। और इसकी उन्होंने भूरि-भूरि श्लाघा की है। वस्तुतः 'लोना' अपने विशिष्ट अर्थ के कारण अपूर्व चमत्कार के साथ ही भावातिरेक की अवस्था को भी द्योतित करने में पूर्ण सक्षम है। संस्कृत में 'लावण्य' सौंदर्य अर्थ का बोधक है। हिंदी में 'लोना' 'लवण' के अतिरिक्त दीवाल में लगने वाले लोने के अर्थ में भी गृहीत होता है। प्रायः देखा जाता है कि जिस दीवाल में लोना लग जाता है वह धीरे-धीरे कट-कट कर गिरने लगती है और लवण तत्त्व की अधिकता के कारण उसकी ईंटें शनैः-शनैः गल जाती हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण का लोना अर्थात लावण्य (लवण युक्त) स्वरूप आँखों में छा गया है इस कारण निरंतर अश्रुपात होता रहता है। वस्तुतः समस्त छंद में उक्ति की रमणीयता केवल आँखों में 'लोना लगना' के कारण आ सकी है, काव्य रूढ़ियों और कवि समय संबद्ध व्यापारों का प्रयोग इन्होंने इस कैंड़े के

1. शृंगार लतिका सौरभ—द्विजदेव, सं.पं.जवाहर लाल चतुर्वेदी, छं. सं. 92, पृ. 25।

साथ किया है कि यह प्रतीत ही नहीं होता कि द्विजदेव जी परंपरावादी कवि थे। इस तथ्य की स्पष्टता के लिए शृंगार लतिका आदि ग्रंथों के बहुत से छंद उद्धृत किए जा सकते हैं। यद्यपि इन्होंने नायिका भेद के आभोग में बहुत छंदों की रचना की है, पर गहराई से विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनमें न तो ज्ञात यौवना से भेंटें होती हैं और न लक्षिता से प्रौढ़ाधीराधीस का दर्शन होता है और न खंडिता का। इस समस्त शृंगारिक रूढ़ियों को पचाकर अपनी काव्य धारा को एक नया मोड़ दे देना सबके लिए सहज नहीं था। यह गुण और यह शैल्पिक चेष्टा द्विजदेव जैसे मौलिक दृष्टि संपन्न कलाकारों में ही लक्षित की जा सकती है। वास्तव में इनकी वाणी का स्फुरण काव्य के जिस धरातल पर होता है, वह धरातल अन्यों को प्राप्त न था।

इनकी एक दूसरी विशेषता यह थी कि रीति बद्ध कवियों की भाँति ये दूरारूढ़ कल्पना (Far-fetched imagination) के पीछे दौड़ लगाने वाले कवि-कलाकार न थे बल्कि सहजता का भावन इनकी काव्य दृष्टि का सच्चा प्रमाण है। शृंगारिक क्षेत्र में उर्दू कवियों ने यद्यपि बड़े-बड़े मज़मून बाँधे हैं, पर उनका वैचित्र्य विधान सहृदय संवेद्य न होकर खेलवाड़ का रूप धारण कर लेता था, यथा, 'गुले रग से बुलबुल के पर बाँधता हूँ।' विचार किया जाया तो ऐसी उक्तियों में–दरबारी वाह-वाह का स्वर ही मुखरित मिलेगा, हृदय को रमाने वाली भाव व्यंजना का यहाँ अभाव सहृदयों को पूरी तरह से खटकेगा। सत्य तो यह है कि काव्य में वैचित्र्य विधान भाव-व्यंजना में सहायक होता है और वर्ण्यों का रूप निखारने में पूर्ण सक्षम। उन्हें ढकने के लिए नहीं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने एक स्थल पर लिखा है कि बोधा को छोड़कर प्रेम के इन स्वच्छंद गायकों ने हिंदी की लक्षक या व्यंजक शक्तियों को पूर्णतया प्रमाणित कर दिया है। इसमें संदेह नहीं कि द्विजदेव जी की उक्तियों में जो रमणीयता या प्रभविष्णुता आई है, वह बहुत कुछ व्यंजना के अनूठे और अद्भुत विधान के कारण। यह कलात्मक दृष्टि रीति मुक्त काव्य धारा में सबको नहीं मिली। घनानंद जी इस कला के धनी अवश्य थे, पर गूढ़ और क्लिष्ट व्यापारों से उनकी काया दब गई है।

यह कहा जा चुका है कि द्विजदेव जी सौंदर्य और प्रेम के कवि माने जाते हैं, अतः अपनी सौंदर्यानुभूति को रूपायित करने और प्रेम की अनेक वीथियों में अपनी भावनाओं को प्रवाहित करने में इन्हें भाषा को स्थल-स्थल पर सँवारना पड़ा है–पूरब में रहकर भी पूरबीपन के प्रभाव से ये प्रायः बचते रहे। किन्तु रत्नाकर जी बनारस की पूरबी से अपने को बचा नहीं पाए। ब्रजभाषा के प्रयोग के संबंध में प्रायः यह कहा जाता है कि जो ब्रज प्रदेश से दूर बसते हैं, वे ब्रजभाषा का शुद्ध प्रयोग नहीं कर पाते, पर ऐसी बात नहीं है। द्विजदेव जी की भाषा अवध प्रदेश में रची गई है, पर क्या मजाल कि उसमें स्थानीयता का रंग चढ़ा हो। शायद ऐसे कवियों के भाषा-प्रयोग को लक्ष्य करके ही आचार्य भिखारीदास ने बहुत स्पष्ट शब्दों में स्वकाव्य निर्णय ग्रंथ में कहा था–

ब्रजभाषा हेतु ब्रजबास ही न अनुमानौ,
ऐसे ऐसे कबिन की बानी हू सों जानियै।

द्विजदेव जी की भाषिक संरचना पर जब हम विचार करते हैं तो हमारे समक्ष पं. सुमित्रानंदन पंत कृत पल्लव की भूमिका का कथन साकार हो जाता है। पंत जी ने अपनी बात किस ढब से दोहराई है, इसे देखें–

'जिस प्रकार बड़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथकर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचे में ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप में गलाकर कोमल करुण, सरस, प्रांजल कर लेना पड़ता है।'[1] पुनः काव्यभाषा (Poetic diction) में अच्छे शब्दों का चयन और उनका कलात्मक विन्यास इस प्रकार होना चाहिए जिससे सौंदर्यमयी कल्पना का सहज रूप व्यक्त हो सके।[2]

द्विजदेव जी की भाषा का साँचा अपना था और वह पूर्ववर्ती या परवर्ती किसी भी कलाकार द्वारा पुनः गढ़ा न जा सका। उनकी भाषा जैसी सफाई अन्यत्र प्रायः नहीं दिखाई पड़ी और यदि उसकी किंचित् झलक कहीं मिली तो आगे चल कर हरिश्चंद्र जैसे समर्थ कवियों में द्विजदेव ने अपनी भाषिक संरचना में काफी सजगता बरती है; यथा प्राकृत और अपभ्रंश के पुराने और खुरदुरे शब्दों को अपनी भाषा में घुसने नहीं दिया। उन्होंने ध्यानपूर्वक दीठि, लोयन नीठि, मरू, सायर आदि पुराने शब्दों को हटा कर नए चलते शब्दों को रखने का पूर्ण प्रयास किया। उनकी प्रवाहमयी भाषा

1. पल्लव, भूमिका भाग, पृ. 51
2. When words are selected and arranged in such a way that their meaning either arouses, or is obviously intended to arouse, aesthetic imagination the result may be described as poetic diction—Own Barfield, Poetic Diction, p. 13

और कलात्मक शब्द विन्यास विषयक कुछ पंक्तियाँ दी जा रही हैं—

साँझई समय ते दुरि बैठि परदान दै के,
शंक मोहिं एकै या कलानिधि कसाई की।•
कंत की कहानी सुनि श्रवन सुहानी रैनि
रंचक बिहानी या बसंत अंत घाई की।
कलकैन आली नैक पलकैं लगन पाईं
ढरि कित गई नींद नैनन धौं आई की।
कुहू कहै कोकिल कुमति मैं उघारे नैन
जलि है जु देखौं ज्वाल जलित जुन्हाई की।।[1]

इस छंद की पंक्तियों से स्पष्ट आभास मिल जाता है कि द्विजदेव की भाषा में पद्माकर जैसे कवियों की न नाद झंकृति है और न घनानंद की गूढ़ लाक्षणिकता।

द्विजदेव की रचनाओं की अन्य विशेषता उनके ऋतु वर्णनों के मध्य झलकती है। उन्होंने परंपरावादी कवियों की भाँति शास्त्र में गिनी-गिनाई सामग्री के आधार पर ऋतु वर्णन नहीं किया अपितु अपनी आँखों से भी काम लिया है। अर्थात् ऋतुओं के अनुकूल विभिन्न समयों के पक्षियों, वृक्षों और लताओं आदि के निरूपण में उन्होंने अपना हृदय लगा दिया है। ऐसा वर्णन हिंदी काव्य परंपरा में सेनापति और बिहारी के अतिरिक्त अन्यत्र विरल है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का तो यहाँ तक कहना है कि ऋतु वर्णनों में इनके हृदय का उल्लास उमड़ा पड़ता है। बहुत से कवियों का ऋतु वर्णन हृदय की सच्ची उमंग का पता नहीं देते, रस्म सी अदा करते जान पड़ते हैं पर इनके चकोरों की चहक के भीतर इनके मन की चहक भी साफ झलकती है। एक ऋतु के उपरांत दूसरी ऋतु के आगमन पर इनका हृदय अगवानी के लिए मानों आप आगे बढ़ता था।[2]

वास्तव में रचनाकार का जादू रचना के सिर पर बोलता है। द्विजदेव जी के ऋतु विषयक कोई छंद उठाकर देख लीजिए, उसमें स्पष्टतया रचनाकार के मानस का उल्लास मानो घुल-मिल गया है। बसंतागमन का एक चित्र लें और देखें कि कवि किस प्रकार वसंत का स्वागत सत्कार करने में तन्मय है—

मिलि माधवी आदिक फूल के ब्याज विनोद लवा बरसायो करैं।
रचि नाच लतागन तान वितान सबै विधि चित्त चुरायो करैं।।
द्विजदेव जू देखि अनोखी प्रभा अलिचारन कीरति गायो करैं।
चिरजीवो बसंत ! सदा द्विजदेव प्रसूनन की झरि लायो करैं।।

—शृंगारलतिका सौ., पृ. 80।।35

इस छंद में समासोक्ति अलंकार के माध्यम से बसंत नृपति का स्वागत किया गया है और अंतिम पंक्ति में द्विजदेव—द्विज (ब्राह्मण) और देव (देवता) नाम की सार्थकता के कारण छंद की सरसता और चमत्कार दोनों ही बढ़ गया है। यद्यपि समस्त रीति काव्य में बसंत, वर्षा और शरद के चित्र अधिक भड़कीले और आकर्षक रूप में प्रदर्शित किए गए हैं, पर इनमें भी बसंत ऋतु के छंद अपने गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से अधिक महत्त्व रखते हैं। ऋतु सौंदर्य निरूपण में द्विजदेव की दृष्टि वहाँ अधिक निखरी और विकसित मिलती है जहाँ उन्होंने आलम्बनगत चित्रों की उद्भावना में अधिक रुचि ली है। कभी-कभी तो ऋतु-सौंदर्य के रेखांकन में कवि दृष्टि इतनी गहराई में पहुँच जाती है कि सारा का सारा ऋतु विषयक चित्र भावों की तरलता से आर्द्र हो उठता है और चित्र की समस्त रेखाएँ एक विचित्र आभा से दीप्तिमान हो जाती हैं। बसंतागमन के मादक प्रभाव का क्या परिणाम होता है, इसे निम्न छंद में देखें—

सुरही के भार सूधे सबद सुकीरन के।
मंदिरन त्यागि करैं अनत कहूँ न गौन।।
द्विजदेव त्यों ही मधुभारन अपारन सों,
नेकु झुकि झूमि रहै मोगरे मरुअ दौन।
खोल इन नैनन निहारौं तौ निहारौं कहा।
सुषमा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन।।
चाँदनी के भारन दिखात उनयो सो चंद
गंध ही के भारन बहत मंद-मंद पौन।।

—शृंगारलतिका सौरभ, पृ. 32

स्वर के भार से शुक गृहों का परित्याग करने में असमर्थ हैं, मकरंद के भार से मोगरे, मरुआ और दमनक (दौना) झुक गए हैं। उन्मत्त होकर झूम रहे हैं, चंद्र चाँदनी के भार से झुका दिखाई पड़ता है (प्रातःकालीन, चंद्र-बिम्ब पश्चिम दिशा में अस्तोन्मुख है) दक्षिण पवन मंद गति से बह रहा है। इस छंद का समस्त चमत्कार वस्तु से हेतूत्प्रेक्षा अलंकार ध्वनि के कारण दृष्टिगत होता है। कवि ने

1. शृंगार बत्तीसी, छं.सं. 35, पृ. 12
2. हिंदी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 399-400, सं. 2003

अपनी कल्पना की सहायता से उक्त समस्त कारणों का संधान किया है।

विरह के अंतर्गत ऋतु सुलभ व्यापारों की सरस कल्पना में द्विजदेव जी पीछे नहीं रहे। हाँ, यह अवश्य है कि ऐसे छंद परंपरा से बँधकर भी मौलिक हैं। तद्विषयक एक छंद लें—

भूले-भूले भौंर बन भाँवरै भौंगे चहूँ,
फूलि फूलि किंसुक जके से रहि जाय हैं।
'द्विजदेव' की सौं वह कूजन बिसारि कूर,
कोकिल कलंकी ठौर-ठौर पछिताय हैं।।

आवत बसंत के न ऐहें जौ पै स्याम तौ पै
बावरी ! बलाय सों हमारेऊँ उपाय हैं।
पीहै पहिलेई तें हलाहल मँगाय या
कलानिधि को एकौ कलाचलन न पायहैं।।

—शृंगारलतिका सौ., पृ. 506

इस विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि द्विजदेव जी की काव्य-साधना का आयाम परम्परामुक्त और सर्वथा नूतन था।

□

समुझै कविता घनआनंद की

रामदेव शुक्ल

कवि-कर्म में प्रवृत्त होता हुआ व्यक्ति अपने को रचनाकार मानकर ही प्रस्थान करता है। उसके मन में यह बात स्पष्ट सी रहती है कि जैसा चाहेगा, वैसी ही रचना करेगा। आनंदघन मध्यकाल के एक ऐसे कवि हैं जो इस (रचना और रचयिता के) संबंध को अस्वीकार करते हुए कहते हैं—

लोग हैं लागि कवित्त बनावत,
मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत।।

रचनाकार लोग 'लग कर' अर्थात् यत्न और युक्ति से कविता रचते हैं इस कवि का समर्पण इस कृतित्वबोध को नकारता हुआ कहता है कि मुझे तो मेरे कवित्त ही बनाते हैं। काव्य-भाषा के स्तर पर यह कथन कवि-कर्म को परिभाषित करने वाला है। जब तक कवि रचनाकार के रूप में अपनी पृथक् सत्ता के बोध से भरा रहता है तब तक उसकी रचना भी उससे अलग अपनी सत्ता में स्थित रहती है। जिस क्षण संपूर्ण रूप से अपनी पृथक् सत्ता को भूलकर वह समर्पित हो जाता है, उसी क्षण में रचना उसे रचने लगती है। उदाहरण के रूप में अज्ञेय की कविता 'असाध्यवीणा' को देखा जा सकता है। सभी कलावंत उसे असाध्य मानकर विरत हो जाते हैं। जब सच्चा आराधक अपने सब कुछ को उसी वीणा के प्रति समर्पित कर देता है। तब वह 'असाध्यवीणा' सहज साध्य हो जाती है। वीणा बजने लगती है, और जो संसार वह रचती है, उसमें तुच्छ से लेकर विराट् तक सबके सब अपने-अपने सपनों को साकार होता हुआ पाने लगते हैं।

रचनाकर्म के साथ रचनाकार की अभिन्नता को आनंद घन के इस छंद में देखा जा सकता—

तीछन ईछन बान बखान सों पैनी दसान लै सान चढ़ावत।
प्राननिप्यासे भरे अति पानिप, मायल घायल चोप बढ़ावत।।
यौं घनआनंद दावत भावत जान-सजीवन-ओर तें आवत।
लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत।।

देखने की तीक्ष्ण प्रक्रिया (केवल कटाक्ष मात्र नहीं) के वाण, सहज गुण कथन (बखान) के साथ पैनी दशाओं के सान पर चढ़ाते हैं अर्थात् जिनको झेल पाना कठिन हो, ऐसी मानसिक शारीरिक स्थितियों के सान पर देखने और बखानने—अनुभूति और अभिव्यक्ति—को प्रखरतर करते हैं पानिप (रूप का पानी, जैसे मोती का पानी अर्थात, कान्ति) की अतिशयता से भरे हुए हैं, तब भी प्राणों में प्यास भरते रहते हैं। विरोध का सौंदर्य यह कि एक ओर अतिशय 'पानी' से भरे रहना, दूसरी ओर 'प्यास' से भी। और यह प्यास की तड़प घायल की प्यास की तरह (पानी की ओर बढ़ने के) उत्साह को बढ़ाती ही जाती है। इस प्रकार ऐसे परस्पर विरोधी से दिखने वाले गुणों के साथ, संजीवन स्वरूप जो प्रिय है (जान-सजीवन) उसकी ओर से छाते हुए (उमड़ते-घुमड़ते हुए) प्राणों को भाते हुए आकर मेरे कवित्त मुझे बनाते हैं। आनंदघन की कविता में जो कुछ है—अपार अवर्ण्य रूप का तीव्रतम आकर्षण प्राणों की बढ़ती प्यास, सूक्ष्मनिरीक्षण, वर्णन सौंदर्य, वाणी की विरोध वक्रता सब कुछ को आप्लावित कर लेने वाली आनंद कादम्बिनी, असह्य विषम परिस्थितियाँ और उनमें तीव्रतर होती अचूक अभिव्यक्ति वह सब प्रिय की ओर से उमड़ती-घुमड़ती हुई कविता के रूप में आकर कवि को रचती है। इस 'रचना' के बाहर कवि कहीं नहीं होता। इसी बात को रेखांकित करते हुए

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा कि "इनके (आनंदघन) हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गतिविधि का अभ्यास हुआ।" (हि. सा.का इतिहास, पृ. 322) आचार्य शुक्ल के योग्य शिष्य और आनंदघन की रचनाओं के संपादक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा, "घनानंद ने तो ऐसे-ऐसे पथों से भावना को ले जाने का साहस किया है जिन पर पुराने कवि तो गए ही नहीं, नए कवि भी जाने का साहस कम करते हैं।" (घनआनंद कवित्त, प्रस्तावना, पृ. 9)

आनंदघन को कहना होता तो कहते 'मेरी कविता मुझे जहाँ-जहाँ ले गई...'

जिस 'जानसजीवन' की 'ओर से' आनंदघन की कविता उमड़ती-घुमड़ती आती है, वह कैसा है? 'रचना' जो कवि को बना रही है—'उसे' रचने वाली प्रिया का प्रभाव बताने वाले छंदों में से एक है—

पलकौ कलपै कलपौ पलकै सम होत सँजोग वियोग दुहूँ।
विपरीति भरी हितरीति खरी समझी न परै समझै कछु हूँ।
घन आनंद जान सजीवन सों कहियै तो समै लहियै न सुहूँ।
तिन हेरें अंधेरे ई दीखै सबै, बिन सूझ तै पून्यो अबूझ कुहू।।

उस 'जान सजीवन' से संयोग हो, तो कल्प भर समय ऐसे बीत जाता है जैसे पल भर का समय बीत गया, और उसका वियोग झेलना पड़े तो एक पल इतना लंबा लगता है जैसे 'कल्प' बिताना पड़ रहा हो। इस तरह उसके संयोग और वियोग दोनों में 'पल' और 'कल्प' एक समान हो जाते हैं। वह खरी हित रीति वाली है अर्थात् प्रेम की रीति के निर्वाह में खरी है लेकिन साथ ही विपरीत भरी भी है। स्वाभाविक है कि जो इतना सुखद है, उसका वियोग उतना ही दुखद होगा। और तरह की विपरीतताएँ भी होंगी। उसको एकांत में पूरी तरह अपने लिए पाकर अपने हृदय की बात कहना चाहें तो सुहू समै (शुद्ध समय) जो नितांत अपना हो, मिलता ही नहीं। हाल यह है कि उसे देख लेने पर अँधेरे में भी सब कुछ दिखने लगता है और जब वह सामने नहीं होती तो पूर्णिमा की रात भी अबूझ अमावस्या की रात हो जाती है। अर्थात् जो कुछ भी दिखता है, सुन पड़ता है, समझ में आता है, वह सब उसी 'जान सजीवन' के कारण। जिस प्रिया के रूप का जादू ऐसा है, वह वयःसंधि से ही आश्रय की दृष्टि को बाँधे हुई है—

सिसुताई-निसि सियराई बालख्यालन में जोवन विभाकर उदोत आभा है रली।
गमागम बस भयो रस को समागम है, आगे तें अधिक अब लागन लगी भली।
सकुच विकच दसा देखों मन आई मनो, चाहत कमल होन कोई रूप की कली।

रूप की कली कमल (पुष्प) होना चाहती है। खिल उठने पर—

रूप की उझलि आछे आनन पै नई नई
तैसी तरुनई तेह-ओपी अरुनई है।
उलटि अनंग-रंग की तरंग अंग-अंग
भूषन-बसन भरि आभा फैलि गई है।
महारस-भीर परे लोचन अधीर तरें
आछी ओक धरें प्यास-पीर सरसई है।
कैसे घनआनंद सुजान प्यारी छवि कहौं
दीठितौ चकित औ थकित मति भई है।

बालसुलभ क्रीड़ाओं में रौशन बीत गया। कली कमल बन गई। रूप की राशि (उझलि) उसके मुख पर नई-नई उमड़ने लगी। तरुणाई प्रकट होने लगी, दर्प की लालिमा (तेह ओपी अरुनई) के साथ मदन-महोत्सव देह में होने लगा। काम की तरंगें अंग-अंग से उमड़ने लगीं—यहाँ तक कि धारण किए गए वस्त्राभूषणों तक देहदीप्ति की आभा फैल गई। आश्रम की दशा यह हो गई कि इस सौंदर्य महोत्सव की महारस-भीड़ से लोचन आकुल व्याकुल हो उठे। प्यास की पीड़ा रूप-रस का पान करते-करते और बढ़ती गई। प्रिया की छवि का बखान करना चाहने वाली दृष्टि चकित और वाणी थक कर शिथिल हो गई।

प्रिया के 'तीछन ईछन' का रहस्य एक अन्य छंद में खुलता है—

नैनन मैं लागै जाय, जागै सु करेजे बीच,
या बस है जीव धीर होत लोट पोट है।
रोम-रोम पूरिपीर, व्याकुल सरीर महा,
घूमै मति गति-आसैं प्यास की न टोट है।
चलत सजीवन-सुजान-दृग-हाथन तें,
प्यारी अनियारी रुचि रखवारी ओट है।

जब-जब आवै तब-तब अति भावै ज्यावै,
अहा कहा विषम कटाच्छ-सर-चोट है।।

प्रिया के कटाक्ष आकर (आश्रम के) नेत्रों से लगते हैं और सीधे कलेजे तक जाकर जागते रहते हैं। इनके वश में होकर प्राणों का धैर्य धरती पर लोटने लगता है। रोम-रोम में प्रेम की पीर भरती जाती है, शरीर महाव्याकुल हो जाता है, बुद्धि (मिलन के उपाय की) आशा में घूमती रहती है और प्यास बढ़ती चली जाती है। संजीवनी स्वरूप सुजान के नेत्रों के हाथों से (कटाक्ष के) वाण प्रिया की अनोखी (अनियारी) रुचि की ओट से चलाए जाते हैं। जब-जब (आश्रम के पास) आते हैं, तब-तब प्राणों को प्रिय लगते हैं, पुनर्जीवन प्रदान करते हैं। ये विषम कटाक्ष वाण कैसे (अद्‌भुत) हैं।

प्रिया के रूप का नशा बढ़ता चला जाता है। उसके एक-एक अंग की शोभा आश्रय को अपनी पकड़ में कसती जाती है। हालत यह हो जाती है कि रूप लुब्ध मन प्रिया के पाँवों के नीचे से निकलना ही नहीं चाहता। आश्रय अनुभव करता है कि उसका अपना मन उसके हाथ से निकल गया—

रति साँचे ढरी अछवाई भरी विडुरीन गुराइए देखि पगै।
छवि धूमि धुरै न मुरै मुखान सों लोभी खरो रस झूमि खगै।
घन आनंद एड़िनि आनि भिरे तरवानि तरे तें भरै न डगै।
मन मेरो महावर चायनिच्वै तुवपायनि लागि न हाथ लगै।।

अपने मन का अपने हाथ न आना और उधर प्रिया की रूप-लता का लहराता आमंत्रण—

लाड़लसी लहकै महकै अंग रूपलता लगि दीठि-झकोरै।
हास-विलास भरे रसकंद सु आनन त्यौं चख होत चकोरै।
मौन भली कहि कौन सके घन आनंद जान सु नाक सकोरे।
रीझ बिलोएई डारति है हिय, मोहति टोहति प्यारी अकोरै।।

आश्रय की दृष्टि के झोंकों से वह रूप की लता लाड़ से भरकर लहक उठती है, अंग-अंग खिलकर महकने लगते हैं। हास-विलास से भरे प्रिया के रस की वर्षा करने वाले मुख की ओर आश्रय के नेत्र चकोर होकर टकटकी लगा लेते हैं। जब वह प्रिया नाक सिकोड़ती है तो जो भाव आश्रय के मन उठते हैं, उनका वर्णन करने के बदले मौन रह जाना ही वह उचित समझता है। इस प्रकार उस हाव भाव युक्त प्रिया के प्रति अनुरक्ति (रीझि) आश्रय के मन को मथ डालती है और आलिंगन की उत्कट इच्छा को तीव्रवर करती जाती है।

प्रिया की चेष्टाओं में हाव के अनूठे चित्र हैं। प्रेमी की दृष्टि के झकोरों पर लहक उठना, अंग-अंग का खिलना और महकने लगना, नाक सिकोड़ना और आलिंगन की आतुरता को बढ़ा देना अत्यंत स्वाभाविक मुद्राएँ हैं। बिहारी के प्रसिद्ध दोहे—

नाक चढ़ै सीबी करै, जितै छबीली छैल,
त्यौं-त्यौं भूलि वहै गहै, त्यौ कंकरीली गैल।।

—में जो नाक का चढ़ना है, वही आनंदघन में 'नाक सकोरै' होकर अपने अचूक प्रभाव को तीव्रतर कर रहा है।

ऐसी प्रिया के दुर्निवार आकर्षण में खिंचे प्रेमी के रोम-रोम में काम जाग्रत हो जाता है।—

कंठ-काँच-घटी तैं बचन चोखो आसव लै,
अधर पियालैं पूरि राखति सहेत है।
रूप मतवारी घनआनँद सुजान प्यारी
काननि ह्वै प्राननिपिवाय पीवै चेत है।
छकेई रहत रैनि द्यौस प्रेम-प्यास-आस
कीनी नेम धरम कहानी उपनेत है।
ऐसे रस-बस क्यों न सोवै और स्वाद कहौ,
रोम-रोम जाग्योई रहत मीनकेत है।

सांगरूपक का प्रयोग अद्वितीय है। प्रिया के एक बोल का नशा प्रेमी तक कैसे पहुँचता है और उसके साथ क्या करता है? शराब बड़े घड़े से सुराही में निकालकर रखी जाती है, फिर सुराही से प्यालों में भर-भर कर पिलाई जाती है। वचन रूपी तेज़ शराब अपने कंठ रूपी घड़े से लेकर अपने अधर रूपी प्याले में भरकर प्रेमपूर्वक (सहेत और अभिप्राय के साथ) रूप के नशे में मतवाली आनंद की वर्षा करने वाली प्यारी सुजान कानों के रास्ते से (प्रेमी को) पिलाती है, साथ ही उसकी चेतना को स्वयं पीती चलती है। राजस्थान में एक साँप पाया जाता है जो काटता नहीं है। सोए हुए आदमी की छाती पर बैठकर उसकी नाक से निकलती हुई साँस को पीता रहता है। इसीलिए उसे पीना साँप कहते हैं। साँस छोड़ने वाला सोया हुआ आदमी साँस खींचता है तो उसके साथ साँस का ज़हर उसके रक्त में मिलता जाता है। प्रिया बोलती है तो प्रेमी को आसव-पान का स्वाद मिलता है, साथ ही वह

उसकी चेतना को स्वयं पीती जाती है। प्रेमी की दशा यह हो जाती है कि रात-दिन प्रिया के वचन के नशे में और प्रेम की इच्छा पूर्ति की आशा में छका रहता है। नियम और धर्म (के अनुसार आचरण) की कहानी को उसने उठाकर एक ओर रख दिया है। उसे भूख प्यास नहीं, किसी अन्य इन्द्रिय के स्वाद का पता नहीं। जो ऐसे रस के वश में हो, उसके लिए और सारे स्वाद क्यों न सो जाएँ! स्वाद के सोने के साथ विरोध का चमत्कार यह कि जब उसके रोम-रोम में काम 'जगा' रहता है, तो और सारे स्वाद क्यों न सो जाएँ?

प्रतीक्षा समाप्त होती है। प्रिया को प्राप्त कर प्रेमी अपनी लालसाओं को किस तरह तृप्त करता है? उसके पाँवों पर बार-बार पड़ता हुआ कहता है—

सीस लाय, दृग छ्वाय, हियै पै बसाय राखौं
इतै मान मन आवै प्राननि मैं लै धरौं।
हेरि हेरि चूमि चूमि सोभा छकि घूमि-घूमि,
परसि कपोलनि सों मंजन कियौ करौं।
केलि-कला-कंदिर विलास-निधि मंदिर ये,
इन ही के बल हौं मनोज-सिंधु को तरौं।
यातैं घनआनंद सुजान प्यारी रीझि भीज़ि,
उमगि उमगि बेर बेर तेरे पॉ परौं।।

आनंद की वर्षा करने वाली प्यारी सुजान मैं बार-बार उमंग से भर-भर कर तेरे पाँव पड़ता हूँ (क्योंकि इनका महत्त्व जानता हूँ।) तुम्हारे पाँवों को अपने सिर से लगा लूँ, अपनी आँखों से छुआ लूँ, अपने वक्षस्थल पर (हृदय में) बसा लूँ, मन में इनके लिए इतना प्यार उमड़ता है कि चाहता हूँ, इन्हें अपने प्राणों में छिपाकर रख लूँ। इन्हें बार-बार देखकर बार-बार चूमकर, इनकी शोभा से छक कर घूम-घूम जाऊँ, तेरे पाँवों का स्पर्श अपने कपोलों से कराकर उनसे रगड़ता रहूँ। तुम्हारे ये पाँव काम-क्रीड़ा के माधुर्य से भरे हुए हैं (काम-कला के मूल हैं) विलास की निधि के ये घर हैं, इन्हीं के बल पर मैं मनोज-सिंधु का संतरण कर जाऊँ। काम क्रीड़ा में मनोज-सिंधु का संतरण अपनी कथा कहने में स्वयं समर्थ है।

कवि का कौशल दर्शनीय है कि 'लालसा' के रूप में इतने सघन केंद्रीय-व्यापार को चित्रित करता हुआ, रसिक के मन में उतारता हुआ भी स्थूल देह-वर्णन से बचा ले जाता है। यदि कवि का पहला कथन स्मरण करें तो इस रूप में देखना चाहिए कि वह कविता की रचना नहीं कर रहा है, प्रिया सुजान के पाँवों से लगी उसकी लालसा उसके व्यक्तित्व की रचना कर रही है।

जिस लालसा से लिप्त है, वह पूरी होती है। उस 'महासुख' का वर्णन करना तो संभव नहीं है, पर उसकी एक झलक—

मीत सुजान मिले को महासुख अंगनि भोय समोय रह्यो है।
स्वाद जगे रसरंग-पगे अति, जानत वेई न जात कह्यौ है।
द्वै उर एक भये घुरिके घनआनंद सुद्ध समीप लह्यौ है।
रूप-अनूप-तरंगनि-चाहि तऊ चित चाह-प्रवाह बह्यौ है।।

आकांक्षा फलवती हुई है। मीत सुजान मिल गया है। उस महासुख में भीगकर एक-दूसरे के अंग परस्पर मिल गए हैं। जो स्वाद वे पा रहे हैं, जिस रस के रंग में वे डूब रहे हैं, उस अनुभव को सिर्फ़ वे ही जान सकते हैं, उसे कहा नहीं जा सकता। दोनों के हृदय घुल कर एक हो गए हैं, शुद्ध सामीप्य की प्राप्ति हो गई है। इतना होने पर भी आश्रम की हालत यह है कि प्रिया के रूप की अनुपम तरंगों को देख-देखकर उसका चित्त चाह के प्रवाह में बहता रहता है।

प्रिया की तृप्त छवि को देखकर प्रिय का अनुराग और तीव्रतर होता चलता है—

हुलास भरी मुसकानि लसै, अधरानि तें आनि कपोलनि जागै।
छुटीं अलकै मृदु मंजु मिहीं स्रुतिमूल छलानि अनी मुरि लागै।
बड़ी अँखियानि मैं अंजन-रेख लजीली चितौनि हियो रस पागै।
सुहाग सों ओपित भाल दिपै घनआनंद जान पिया अनुरागै।।

हुलास से भरी मुस्कान अधरों पर उभर कर प्रिया के कपोलों में फैल जाती है। खुलकर बिखर पड़ी अलकें कानों के पास मुड़कर महीन छल्लों जैसी लग रही हैं। बड़ी-बड़ी आँखों में अंजन की रेखा और लाजभरी चितवन (देखने वाले के) हृदय को रस से भर देती है। सुहाग से दीप्त भाल प्रियतम को विशेष रूप से अनुराग में डुबोता है। सुहाग का अर्थ केवल रोली की बिंदी (वि.ना.प्र. मिश्र की टिप्पणी) करने से अर्थ संकुचित होता है। यहाँ तृप्त प्रिया के ललाट पर दीप्त होते हुए 'सुहाग' की कांति की ओर संकेत है।

ऐसी ही तृप्ति का एक अन्य चित्र है—

रस-रैनि जगी प्रिय प्रेम पगी अरसानि सो अंगनि मोरति है।
मुख-ओप अनूप बिराजि रही ससि कोरिक वारने को रति है।
अँखियानि मैं छाकनि की अरुनाई, हियौ अनुराग लै बोरति है।
घनआनंद प्यारी सुजान लखैं डरि डीठि हितू तिन तोरति है।

प्रिय के प्रेम में पगी हुई रस के रंग में रात भर जगी सुजान आलस से अंगों को मोड़ती है (अँगड़ाई लेती है) मुख की कांति अनुपम रूप में सुशोभित हो रही है। उसके सामने करोड़ों चंद्र न्योछावर कर दिए जायँ, रति उसके सामने क्या है। आँखों में छक कर रस-पान करने की लालिमा (देखने वालों के) हृदय को लेकर अनुराग में डुबो देती है। ऐसी प्यारी सुजान को देखने पर (प्रेमी की) दृष्टि डरकर (डीठि लग जाने की आशंका से) तृण तोरने लगती है। (नजर न लगने के लिए किया जाने वाला टोटका)।

आनंदघन और प्रिया सुजान की केलि में प्रकृति किस तरह पुलकित होकर सहायता कर रही है?

मंजुल बंजुल-पुंज-निकुंज अछेह छबीलो महारस-मेह तें।
द्यौस में रैन को चैन को ऐन, पै जोति जग्यौ जगि दंपति-देह तें।
हास-विकास, विलास-प्रकाश सुजान समान अदेह के तेह तें।
भीजि रहे घन आनंद स्वेद समीर डुलै बिजना भरि नेह तें।।

महारस की वर्षा में भीगते दोनों ऐसे सघन कुंज में हैं कि दिन में ही रात का अँधेरा और एकांत का चैन है, दोनों की देह द्युति से ही प्रकाश हो रहा है। अदेह (अनंग-काम) के आवेग से हास और विलास का प्रकाश बढ़ता जा रहा है। दोनों स्वेद कणों से भीग रहे हैं (इसे देखकर) पवन स्वयं बिजना (हाथ का पंखा) बना डोल रहा है।

उपर्युक्त चित्रों में ऐन्द्रियता अपने उत्कर्ष पर है, किंतु देह के स्थान पर मन और भावनाओं की भाषा अधिक मुखर है। मानसिक तृप्ति से घटने के बदले बढ़ती जा रही अतृप्ति की अभिव्यक्ति आनंदघन की निजी विशेषता है।

पौढ़े घनआनंद सुजान प्यारी परजंक
धरे धन अंक तऊ मन-रंक गति है।
भूषन उतारि अंग अंगहिं सम्हारि नाना
रुचि के विचार सों समोय सीझी मति है।
ठौर ठौर लै राखैं औरे औरे अभिलाषै,
बनत न भाखें तेई जानेदसा अति है।
मोद मद छाकैं घूमै रीझि भीजि रस झूमै
गहें चाहि रहें चूमें अहा कहा रति है।।

'धन' का श्लेष देखें। पर्यंक पर प्रिया सुजान रूपी अपूर्व धन (धन और धन्या) को आलिंगन में लेने पर भी प्रेमी के मन की गति रंक की है। एक-एक अंग से जुड़ी हुई इतनी-इतनी अभिलाषाओं से भरा हुआ है कि (किसी कवि के द्वारा) उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। आह्लाद के मद में छके बार-बार रीझ में भीग कर झूमते हैं, एक-दूसरे को बाँहों में लेते हैं, देखते रहते हैं और चूमते चले जाते हैं।

'महासुख' में मिली परम तृप्ति के भीतर की इस अतृप्ति का अनुभव अतिशय संवेदनशील चित्त की ही विशेषता है। विद्यापति के एक गीत में प्रेम के अनुभव की अवर्णनीयता की चर्चा है—

सखि कि पुछसि अनुभव मोय।
से हो पिरीत अनुराग बखानिए तिल तिल नूतन होय।
जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल।
सेहो मधुबोल स्रवनहिं सूनल स्रुतिपथ परस न भेल।
लाख-लाख जुग हिय हिय राखल तऊ हिय जुड़इ न गेल।
कत मधुजामिनि रसभरे गमाओल न जानों कइसन केल।
कत विदग्ध जन रस अनुमोदल अनुभव काहु न पेख।
विद्यापति कह प्रान जुड़ाएत, लाखों न मिलत एक।

जनम भर प्रिय का रूप निहारने के बाद भी नेत्र तृप्त नहीं हुए, उसके मधुर बोल जीवन सुनते रहने पर भी मानो श्रुतिपथ से उनका स्पर्श ही नहीं हुआ, लाख-लाख युग तक (कलपौ पलकै पलकौ कलपै के आधार पर समझना चाहिए)।

हृदय जुड़े हुए भी न जुड़े, कितनी मधुयामिनियाँ रभस के सुख में बीत गईं, पता ही नहीं लगा केलि क्या होती है। कैसे लोग उस रस के अनुभव का बखान कर लेते हैं? जो बखान कर लेते हैं, वे विदग्ध जन तो हैं, कलावन्त हैं किंतु अनुभव उन्होंने देखा नहीं है। ध्यातव्य है कि अनुभव करना नहीं कहा जा रहा है। अनुभव तो सभी कर लेते हैं। विद्यापति और आनंदघन जैसे कवि अनुभव को देखते भी हैं—भोगते भी हैं। 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया' के रूप में भोक्ता और साक्षी—एकसाथ सक्रिय हों, तब 'अनुभव' प्राणों को जुड़ाने की क्षमता के साथ वर्णित होगा। □

(शेष अगले अंक में)

इतिहास का अंत

कहानियाँ

श्रीलाल शुक्ल

नीत्शे के ज़माने में 'ईश्वर के अंत' की तरह बीसवीं शताब्दी में कुछ विचारकों ने 'इतिहास के अंत' की धमाकेदार अवधारणा पेश की। पर दुर्भाग्यवश वह इतनी दिलचस्प साबित हुई कि देखते-देखते 'इतिहास का अंत' एक घिसी-पटी उक्ति—एक 'क्लिशे' भर रह गया।

पर ऐसा मैंने सिर्फ़ पिछले महीने तक सोचा! तभी कुछ ऐसा हुआ जिससे मुझे लगा कि 'इतिहास का अंत' एक क्लिशे भर नहीं है। वह यथार्थ है, ऐसा यथार्थ है जो अपने अंत के बावजूद आक्रामक है। इस यथार्थ का सृजन समाज-वैज्ञानिकों या दूसरे गंभीर चिंतकों ने नहीं, कुछ सरकारी बुद्धिजीवियों, कुत्सित नेताओं, कुछ मूर्ख नारेबाज़ों ने, और इन सबका इस्तेमाल करने वाली उस बेपरवाह सत्ता ने किया है जो हमारे हाथों रची जाने के बावजूद हमारे ही सर पर चढ़ी हुई है, जो हमारे ही खिलाफ़ एक पराशक्ति बन गई है। वास्तव में, इस बीच एक घटना घटी है जिसके बारे में सुनकर और जिसका अंतिम दृश्य खुद देखकर मैं 'इतिहास के अंत' की अवधारणा को बड़ी संजीदगी और उससे भी ज़्यादा खौफ के साथ देखने लगा हूँ। यहाँ उसी घटना को मैं एक संक्षिप्त कहानी के रूप में पेश कर रहा हूँ।

दिलदारनगर अवध की एक रियासत है—वह नहीं जिसे देसी रियासत कहते आए हैं। यह एक बड़ी ज़मींदारी थी जिसे तअल्लुक़ेदारी कहा जाता है। उत्तर प्रदेश में, अवध का इलाका जिसका कि एक हिस्सा है, 1952 में एक क़ानून द्वारा ज़मींदारी की व्यवस्था समाप्त कर दी गई। उसमें दिलदारनगर की तअल्लुक़ेदारी भी गई। पर दूसरे तअल्लुक़ेदारों और बड़े ज़मींदारों की तरह दिलदारनगर के मालिक राजा स्वयंवर सिंह तब भी राजा साहब ही कहलाते रहे। ज़मींदारी-उन्मूलन से उनकी वह हैसियत तो खत्म हो गई जिससे वे बिचौलिए की तरह किसानों से ज़मीन का लगान वसूलते और उसका कुछ हिस्सा सरकार को मालगुज़ारी के रूप में देते; पर इस बिचौलियापन के ध्वंस के बावजूद उनकी निजी ज़मीन, जायदाद, क़ोठियाँ, शहर के बंगले और चीनी मिल आदि पर कोई आँच नहीं आई। उल्टे उनकी बढ़ोतरी हुई क्योंकि अब वे जमींदारी के झमेले से फुरसत पाकर अपनी निजी संपत्ति को बढ़ाने के लिए चौबीसों घंटे खाली रहने लगे।

फुरसत इतनी ज़्यादा थी कि, दूसरे राजा-महाराजाओं की तरह, वे भी राजनीति में खिसक आए और बिना किसी जद्दो-जहद के एम.एल.ए.बन गए, दूसरी बार एम.एल.ए. होते ही मिनिस्टर बन गए। मिनिस्टर वे सिंचाई विभाग के बने जो बहुत विराट् होते हुए भी भ्रष्टाचार के ठप्पे के कारण बहुत ज़लील (साथ ही बहुत दिलकश) माना जाता था। इसे संतुलित करने को उन्हें एक दूसरा विभाग भी दिया गया जो बहुत गौरवशाली और पवित्र होते हुए भी दयनीय रूप से क्षुद्र था। इस विभाग का नाम था : स्वतंत्रता-संग्राम-सेनानी-कल्याण विभाग। विभाग का काम देश के स्वतंत्रता आंदोलन में जिन लोगों ने त्याग-बलिदान किया, उनके या उनकी संतानों के कल्याण के लिए पेंशन से लेकर अनेक प्रकार की दूसरी कल्याणकारी योजनाएँ चलाना था।

कुछ मुतफ़र्रिक काम भी थे, जैसे शहरों के चौराहों पर स्वतंत्रता संग्राम के शहीदों या दूसरे त्यागी नेताओं की प्रतिमाएँ लगवाना। शुरू-शुरू में प्रतिमाओं का कोई ख़ास ज़ोर न था, पर जल्द ही राजनीति की एक बड़ी सशक्त शाखा विकसित हो गई जिसका नाम 'प्रतिमाओं की राजनीति' है। इसके पीछे राजनीति में जाति-भेद

की प्रतिष्ठा का सिद्धांत था जिसके अंतर्गत अब हर जाति के अंदर अपने-अपने प्रतिनिधि शहीदों और बलिदानियों की लम्बी सूची थी। उन्हें शहरों के चौराहों और नुक्कड़ों पर, प्रतिमा की हैसियत से, जगह देना अनिवार्य था। इसलिए जहाँ एक ओर शहरों के सार्वजनिक स्थलों पर प्रतिमाओं पर प्रतिमाएँ टूटी पड़ रही थीं, वहीं दूसरी ओर विभाग के बजट में भारी बढ़ोतरी और अभूतपूर्व सक्रियता दिखने लगी थी। यहाँ तक कि, भले ही यह क्षुद्र विभाग सिंचाई विभाग की लूट का कीर्तिमान नहीं तोड़ पाया हो, अब कोई यह नहीं कह सकता था कि देखो, इस विभाग में बेचारा भ्रष्टाचार अभी तक उपेक्षित पड़ा है।

बहरहाल, राज्य की राजधानी में एक चौराहा था जो कि सिविल लाइंस और छावनी क्षेत्र को अलग करता था (या, दूसरी तरह देखें तो, जोड़ता था।) चौराहा बहुत बड़ा था और उसके आसपास अब भी—पार्कों के नाम पर—बहुत सी ख़ाली ज़मीन थी। वहाँ हर जाति, धर्म और सम्प्रदाय के शहीदों के मूर्तिमान प्रतिनिधित्व के बावजूद दो-ढाई नई प्रतिमाओं के खड़े होने की अब भी गुंजाइश थी। अतः सरकार ने तय किया कि बची हुई जगह पर संगमर्मर की शानदार चौकी तैयार कराके उस पर 1857 के स्वतंत्रता-संग्रामी अमर शहीद बख़्तावर सिंह की आदमकद प्रतिमा मय घोड़े और तलवार के लगाई जाए। यह कुछ प्रभावशील पत्रकारों की माँग का नतीजा था। चार महीने में ही प्रतिमा लग गई पर उसे अपारदर्शी कनवास से ढँक दिया गया। होना यह था कि उसका उद्घाटन, लोकार्पण, अनावरण या निरावरण—इसे जो भी कहें—विभाग के मंत्री राजा स्वयंवर सिंह करेंगे। इत्तफ़ाक यह कि अमर शहीद बख्तावर सिंह दिलदारनगर के ही निवासी थे। वे राजा स्वयंवरसिंह के परदादा राजा उदयभान सिंह के समकालीन थे। स्थानीय इतिहास में लिखा था कि उदयभान सिंह को 'राजा' का ख़िताब अँग्रेजों द्वारा बख़्तावर सिंह को फाँसी दिए जाने के बाद मिला था। (फाँसी भी, इतिहास का ऐतबार किया जाय तो, बहुत अनौपचारिक थी; उन्हें मारकर सड़क किनारे एक इमली के पेड़ से लटका दिया गया) बहरहाल, स्थिति यह थी कि ख़ाली उदयभान सिंह बख़्तावर सिंह के समकालीन थे, पर 'राजा उदयभान सिंह' उनके परवर्ती थे।

प्रतिमा के अनावरण-समारोह के दो दिन पहले स्थानीय कमिश्नर ने किसी से सलाह लिए बिना एक सुझाव दिया जिसकी हैसियत हुक्म जैसी थी। उसने कहा कि बख़्तावर सिंह के नाती-पोतों में, या उसके ख़ानदान में अगर कोई ज़िंदा हो तो क्या यह वाजिब न होगा कि उसे विशेष अतिथि के रूप में इस आयोजन में निमंत्रित किया जाय। इससे अवसर की गरिमा बढ़ेगी। हुक्म होते ही बहुत से सहना-सिपाही चारों ओर बख़्तावर सिंह के वंशजों की तलाश में निकल पड़े। आयोजन के कुछ घंटे पहले कमिश्नर साहब को बताया गया कि उस ख़ानदान में बख़्तावर सिंह के एक पड़पोते को छोड़कर कोई नहीं है। पड़पोता बहत्तर साल का है, उसका बाप बहुत पहले गाँव में अपनी खेती पाती जो दो-ढाई बीघे रही होगी—बेचकर इसी शहर में आ गया था। पड़पोता दिलीप सिंह यहीं जैसे-तैसे गुज़र कर रहा है।

"करता क्या है?" कमिश्नर के सवाल का जवाब एक मातहत ने दिया, "यहीं बड़े डाकघर में काम करता है।"

कमिश्नर ने उस समय इस सूचना पर ध्यान नहीं दिया पर दूसरे दिन आयोजन के स्थल पर जब उसे दिलीप सिंह से मिलाया गया तो उसे झटका-सा लगा। बेतरतीब दाढ़ी और मोटे चश्मे वाला यह दुबला-पतला बूढ़ा, जिसके पाँव में धूल भरी घिसी-पिटी चप्पलें और जिस्म पर एक पुरानी कमीज़ और मटमैला पायजामा था। क्या यही उस परम प्रतापी योद्धा बख़्तावर सिंह का वंशज है जिसने सिर्फ तेईस साथियों की टुकड़ी के साथ अपनी तलवार के बूते उदयभान सिंह की मज़बूत हवेली पर कब्जा करके 1857 के स्वतंत्रता-संग्राम में अँग्रेजों के खिलाफ़ भयानक मोर्चेबंदी की थी, बाद में बाहर निकलकर न जाने कितने गोरे फौजियों को रणभूमि में गाजर-मूली की तरह काटकर फेंक दिया था और...।

कमिश्नर ने कहा, "मुझे बताया गया था कि आप डाकघर में काम करते हैं। पर आप सत्तर से ऊपर हो चले हैं। रिटायर कब हुए?"

दिलीप सिंह के हाथ में जूट का एक बड़ा झोला था—मैला और किसी भी क्षण फटने को तैयार। उसे खोलकर उसने कमिश्नर को दिखाया। वहाँ एक छोटा, पोर्टेबुल टाइपराइटर था, कुछ डाकघर के फार्म, सादे काग़ज और कार्बन पेपर भी। उसने कहा, "बाहर फाटक पर बैठकर लोगों की प्राइवेट टाइपिंग करता हूँ।"

"काम भर की आमदनी हो जाती है?"

"अब नहीं। मशीन ख़राब होती रहती है।" कहकर वह उत्तर की ओर वाली सड़क को ताकने लगा जिधर से पुलिस की सीटियों की आवाजें, फुटकर किस्म का प्रशासकीय हो-हल्ला और उसके पीछे मिनिस्टर की गाड़ियों का काफ़िला आ रहा था।

मिनिस्टर ने पहले नगर-प्रमुख से, फिर बख़्तावर सिंह के पड़पोते दिलीप सिंह का परिचय पाकर उससे हाथ मिलाया; औरों को हाथ जोड़कर नमस्कार किया और व्याख्यान, व्याख्यान, व्याख्यान के बाद, तालियों की गड़गड़ाहट के बीच प्रतिमा का अनावरण कर दिया, फिर उस पर फूलमालाओं, पुष्पांजलियों आदि की रस्में पूरी हुईं। अंत में मिनिस्टर का सारगर्भित पर संक्षिप्त भाषण-1857 का जो हमारा पहला स्वतंत्रता-संग्राम था उसका गुणगान, उसके बलिदानियों के लिए श्रद्धा-निवेदन।

मिनिस्टर के गाड़ी में बैठने के पहले उसे पत्रकारों ने घेर लिया। एक ने पूछा, ''क्या यह सच है कि जिस समय बख़्तावर सिंह अँग्रेजों के ख़िलाफ जूझ रहे थे तभी आपके परदादा श्री उदयभान सिंह अपनी हवेली छोड़कर ननिहाल के गाँव में कई अँग्रेज परिवारों की परवरिश कर रहे थे?''

मिनिस्टर ने कहा, ''सच है। वे हमारे शरणागत थे। शरणागत की रक्षा करना हमारा सनातन कर्तव्य है। अगर वे अँग्रेज़ महात्मा गाँधी की शरण में आते तो क्या वे उन्हें दुश्मनों के हाथ में मरने के लिए सौंप देते?''

''क्या यह सच नहीं कि बख़्तावर सिंह को पकड़वाने में आपके परदादा का हाथ था? डॉ. चटर्जी के इतिहास में...।''

''जो इतिहास मैंने पढ़ा है उसके अनुसार यह सरासर झूठ है।''

''क्या यह भी झूठ है कि बख़्तावर सिंह की फाँसी के बाद, अमन कायम होने पर, उसकी सारी ज़मीन-जायदाद को शामिल करते हुए दिलदारनगर का इलाका आपके परदादा को दिया गया और तभी उन्हें 'राजा' का ख़िताब भी मिला?''

''कैसा रहेगा यदि आप इस विषय पर स्वयं शोध करें और खुद अपना निष्कर्ष निकालें। हमारे विभाग से ऐसे शोध कार्यों के लिए फेलोशिप भी मिलती है।''

''आपका क्या निष्कर्ष है?''

मिनिस्टर ने कहा, ''हमारी रियासत का इतिहास कुछ जटिल है। हमारे परदादा 1857 में विद्रोही सिपाहियों के साथ थे। इसके बावजूद जब कुछ अँग्रेज़ परिवार उनकी शरण में आए तो इंसानियत के नाते उन्होंने उनकी रक्षा की, उन्हें मौत के मुँह में नहीं झोंका। आप इसे जो भी कहें, आज कोई भी मानवाधिकार आयोग इसे गद्दारी नहीं कहेगा। वह इसे मानवीयता का सर्वोच्च उदाहरण मानेगा।''

महात्मा गाँधी...मानवाधिकार आयोग...। यह सब मेरे सामने हो रहा था। फिर भी, जब वे गाड़ी में बैठ रहे थे, उनसे अंतिम प्रश्न किया गया, ''अमर शहीद बख़्तावर का यह वंशज दिलीप सिंह बहुत गरीब है। इसके पुरखों की सारी जायदाद आपकी रियासत में शामिल रही है। उससे दस-पाँच बीघा निकालकर क्या आप उसे देने की अनुकम्पा करेंगे?''

''क्यों नहीं? वैसे हमारी सारी जमींदारी, दिलदारनगर की पूरी रियासत खत्म हो चुकी है, सारी ज़मीन सरकार ने हमसे लेकर किसानों या गाँव पंचायत को दे दी है। फिर भी मैं अपनी जोत से उसे कुछ ज़मीन दे सकता हूँ।''

वे रुके, फिर नाक पर अपना चश्मा संतुलित करने के बाद बोले, ''पर क्या दिलीप सिंह जी गाँव जाकर इस उम्र में खेती कर सकेंगे? खेती के हाड़-तोड़ काम को आपने क्या समझ रक्खा है? पिकनिक? नहीं, यह सुझाव व्यवहारिक नहीं है। कुछ और सोचिए।''

गाड़ी में बैठकर उन्होंने कहा, ''मैं भी सोचूँगा।''

गाड़ी के चलते-चलते उन्होंने कमिश्नर से कहा, ''दिलीप सिंह जी के लिए मैंने कुछ सोचा है।''

इशारे से कमिश्नर को और नजदीक बुलाकर पर आवाज़ को उसी ऊँचाई पर टिकाए हुए उन्होंने कहा, ''दिलीप सिंह जी के लिए एक नया टाइपराइटर खरीद दीजिए।''

गाड़ी चल दी, उन्होंने हवा से कहा, ''मेरी निजी भेंट...।''

कमिश्नर ने भी हवा से कहा, ''ठीक है श्रीमन्।'' वह हैरत में था कि मिनिस्टर को दिलीप सिंह के टाइपराइटर का हाल कैसे मालूम हो गया। पर वह वरिष्ठ अफसर था, जानता था कि प्रशासन में हैरत अंगेज़ कुछ भी नहीं है।

यह महीना भर पहले की घटना है। इस बीच, डाकघर के फाटक के पास पान-सिगरेट-चाय-चाट आदि के जो ठेले थे, उन्हें नगर सौंदर्यीकरण की योजना में हटा दिया गया है। वहीं पटरी पर पेड़ों की छाँह में कुछ लोग टाइपराइटरों पर चिट्ठियाँ और दूसरे काग़ज़ात तैयार करते रहते थे। उन्हें भी मार भगाया गया है। डाकघर बख़्तावर सिंह की प्रतिमा से लगभग दो सौ मीटर पर है। उस क्षेत्र के सौंदर्यीकरण के बाद दिलीप सिंह अपना टाइपराइटर लेकर इसी प्रतिमा के चरणों के पास संगमर्मर की पीठिका पर बैठने लगा है। उसके जिस्म पर वही पुरानी कमीज़ और पायजामा है। देश की स्वतंत्रता का जलवा देखिए कि आज

यहाँ कोई कुछ भी बन जाने को स्वतंत्र है और जिनके परदादा अँग्रेजों को शरण देकर राजा बने थे, वही राजा स्वयंवर सिंह मिनिस्टर की हैसियत से आज स्वतंत्रता संग्राम के बलिदानियों और उनके वारिसों का कल्याण कर रहे हैं। इसके पीछे प्रायश्चित्त की भावना नहीं, सिर्फ़ उनका सौभाग्य है। वे खुश हैं। बख़्तावर सिंह का पड़पोता भी खुश है कि उसे अपने पड़दादा के चरणों में स्थान मिला हुआ है जहाँ से उसे भगाने के लिए कोई नहीं आएगा। यह उसकी खुशफ़हमी है, पर वह खुश है! □

उदयन की बीवियों के अंदेशे

कृष्ण बलदेव वैद

पुराने ज़माने की बात और एक दिन का ज़िक्र है कि सहस्रानिक और मृगवती के सुपुत्र उदयन की दोनों बीवियाँ—वासवदत्ता और पदमावती—बहुत ही उदास हो गईं, क्योंकि उनका घुमक्कड़ पति अपने उस रथ पर सवार हो शिकार को निकल गया था (या शिकार का बहाना बना कर कहीं और) जिसे सारथि की ज़रूरत पड़ती थी न घोड़ों की, जो अपनी ही किसी पोशीदा शक्ति से अपनी ही शर्तों पर चलता था, और जिस पर उदयन के सिवा और कोई व्यक्ति उदयन के अनुरोध के बावजूद सवार होने के लिए राज़ी नहीं होता था। उदयन की बीवियों की उदासी का मूल कारण तो यही था कि अब उन्हें न जाने कितने दिन और कितनी रातें उदयन के बग़ैर गुज़ारनी पड़ेंगी लेकिन उस उदासी में अनेक अंदेशे भी घुलेमिले हुए थे, और उन अंदेशों का मूल कारण वह विचित्र रथ था जिसे सारथि की ज़रूरत पड़ती थी न घोड़ों की और जो अपनी ही किसी पोशीदा शक्ति से अपनी ही शर्तों पर चला करता था। जब कभी उदयन उस रथ पर सवार हो कहीं जाता तो उसकी बीवियों की उदासी में कई अंदेशे घुलमिल जाते। सबसे बड़ा अंदेशा तो उन्हें यहीं होता कि वह विचित्र रथ पता नहीं उनके पति को किन-किन वर्जित इलाक़ों में ले जाएगा, उससे कैसे-कैसे वर्जित काम करवाएगा, उसे किन-किन वर्जनाओं का आनंदानुभव करवाएगा। वह जब इस सबसे बड़े अंदेशे के बारे में सोचतीं तो सर न उठा पातीं। सबसे छोटा अंदेशा उन्हें यही होता कि वह विचित्र रथ वैसे ही किसी दूसरे विचित्र रथ से टकरा न जाए। वह जब इस सबसे छोटे अंदेशे के बारे में सोचतीं तो फ़ौरन सर उठाकर मुस्कराना शुरू कर देतीं, क्योंकि उन्हें ख़याल आ जाता कि वैसा विचित्र रथ उदयन के अलावा और किसी के पास हो ही नहीं सकता। इन दो अंदेशों के अलावा और कई छोटे-बड़े अंदेशे भी उन दोनों को थे, लेकिन उनका वर्णन हम यहाँ नहीं करेंगे, कि उनके बारे में कमोबेश सही अनुमान आसानी से लगाए जा सकते हैं।

आम तौर पर उदयन की दोनों बीवियाँ एक साथ उदास नहीं होती थीं। जब वासवदत्ता उदास होती, पदमावती अपनी चहकमहक से उसकी उदासी दूर कर देती, और जब पदमावती उदास होती तो वासवदत्ता अपने स्वप्नों के सुनहरे किस्से सुना-सुना कर उसका मन बहला देती। कहने वाले कहते उदयन ने दो शादियाँ की ही इसीलिए थीं ताकि उसकी बीवियाँ एक दूसरी की उदासी को दूर करती रहें और वह निश्चिंत हो शिकार करता रहे। कहने वाले तो और भी बहुत कुछ कहते लेकिन हम इतना ही कहेंगे कि उदयन की दोनों बीवियाँ उदयन से प्यार तो बहुत करती थीं लेकिन उन्हें उस पर पूरा-पूरा भरोसा हरगिज़ नहीं था। वे जानती थीं कि उसे हर प्रकार के शिकार का शौक़ था, इसलिए जब कभी वह यह कह कर कहीं जाता कि वह शिकार करने जा रहा है तो उनमें से एक ज़रूर उदास हो जाती, सोचती, पता नहीं पति देव किस शिकार पर गए हैं, शिकार करने गए हैं या होने।

जिस दिन का हम ज़िक्र कर रहे हैं उस दिन उन दोनों के दिल में कोई ऐसी बात आ गई होगी कि दोनों एक साथ बहुत ही उदास हो गईं और जैसा कि हम कह चुके हैं उस उदासी में अनेक अंदेशे भी घुले-मिले हुए थे जिनका मूल कारण वह विचित्र रथ था। घण्टों गुमसुम बैठे रहने के बाद जब वे दोनों आख़िर अपनी उदासी से ऊब गईं तो वासवदत्ता बोली, यह मुई उदासी तो हमारा रंगरूप बिगाड़ कर रख देगी और फिर उदयन को काबू में रखना और मुश्किल हो जाएगा इसलिए क्यों न हम उस वाचाल वसंतक को बुला लें और कहें कि हमें कोई ऐसी कहानी सुनाए

जो उदयन के रथ से भी ज़्यादा विचित्र हो। सो उन्होंने उदयन के मंत्री वसंतक को बुलवा भेजा। वसंतक तो ऐसे अवसरों की ताक में ही बैठा रहता था क्योंकि उसे दूसरों की उदास बीवियों को बेसिरपैर की कहानियाँ सुनाने की बीमारी थी, और, फिर उदयन ने उसे हिदायत दे रखी थी कि वह वासवदत्ता और पदमावती के मनोरंजन के लिए हमेशा कुछ प्रेम कहानियाँ अपने पास तैयार रखे। सो उसने आते ही यह कहानी शुरू कर दी।

पाटलिपुत्र नाम की एक पावन नगरी में एक सौदागर रहता था जिसका नाम था धर्मगुप्त। उसके काम के बारे में कुछ न कहना ही ठीक रहेगा क्योंकि उसका काम उसके नाम के अनुकूल नहीं था। तो हुआ यह कि उसकी पत्नी चंद्रप्रभा गर्भवती हो गई। अब पत्नियाँ, वह चाहे सौदागरों की हों या गदागरों की यदा कदा बल्कि अक्सर गर्भवती होती ही रहती हैं, इसलिए पूछा जा सकता है कि मैं इस छोटी सी बात का बतंगड़ क्यों बना रहा हूँ। जवाब दिया जा सकता है कि यह बात इतनी छोटी नहीं जितनी नज़र आती है और मैं इसका बतंगड़ नहीं बना रहा, इसमें से एक कहानी पैदा करने का प्रयास कर रहा हूँ। हाँ, तो चंद्रप्रभा ने गर्भवती होने के दस महीने बाद एक बच्ची को जन्म दिया जिसे नाम दिया गया, सोमप्रभा। पैदा होते ही उस बच्ची सोमप्रभा ने प्रसवकक्ष को इस तरह आलोकित कर दिया कि उसकी माँ चंद्रप्रभा की आँखें चुँधिया गईं और वह चिन्तित हो उठी—यह बच्ची इतने तेज को सँभालेगी कैसे ! और फिर उसी क्षण जब उसने उस बच्ची को बड़ों की तरह बोलते सुना और उठते-बैठते देखा तो वह अवाक् रह गई, मूर्छित होते-होते बची। उसकी दाइयाँ पहले ही दहशत खाए खड़ी थीं। जब धर्मगुप्त ने दाइयों की हालत देखी तो वह सहमा-सहमा सा अपनी पत्नी के पलंग के पास जा खड़ा हुआ। चंद्रप्रभा साँस रोके लेटी हुई थी और नवजात सोमप्रभा उसे यूँ पुचकार रही थी जैसे उसकी बेटी न हो माँ हो। धर्मगुप्त चकित तो बहुत हुआ लेकिन अनुभवी आदमी था, समझ गया कि कुछ असाधारण घट गया है, हो न हो उसके घर किसी बच्ची ने नहीं, किसी अप्सरा या देवी ने जन्म ले लिया है। उसे खुश होना चाहिए था, और वह कुछ खुश हुआ भी, लेकिन वह जानता था कि अगर वह बच्ची सचमुच की अप्सरा या देवी है तो उनसे सँभाली नहीं जाएगी, इसलिए वह हाथ जोड़ और शीश झुका कर खड़ा हो गया बहुत ही विनम्र आवाज़ में बोला, हे देवी, सच-सच बता दे तू है कौन और मेरे घर में क्या करने अवतरित हुई है ?

बच्ची सोमप्रभा बोली, मेरा विवाह किसी से मत होने दीजिए, मैं और किसी भी काम के लिए अवतरित क्यों न हुई होऊँ, विवाह के लिए नहीं हुई, और मैं आपको यह भी बताए देती हूँ कि जब तक मैं इस घर में रहूँगी, यह घर फलता-फूलता रहेगा, किसी भी चीज़ की आपको कमी नहीं होगी, इससे अधिक जान कर आप क्या करेंगे ?

धर्मगुप्त का सौदागर यह बात सुन खुश हो गया, उसका पिता ख़ामोश और चिन्तित लेकिन सौदागर उसके पिता से अधिक पुष्ट था, इसलिए धर्मगुप्त ने सोचा, ठीक है, इस बेटी का विवाह हम किसी से नहीं करेंगे, वैसे भी इसके योग्य वर हमें मिलेगा कहाँ ! हो सकता है उसके मन में यह ख़याल भी आया हो कि विवाह का खर्च भी बच जाएगा, दहेज की चिन्ता भी नहीं करनी पड़ेगी। हो सकता है उसके मन में और भी कई ख़याल आए हों, लेकिन इतना ज़रूर है कि उस छोटी सी बच्ची के मुँह से इतनी बड़ी बात सुनकर वह डर भी बहुत गया था। एक ही घटना की हमारे मन में अनेक और परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाएँ होती हैं, धर्मगुप्त को भी ऐसा ही अनुभव हो रहा था। वह समझ नहीं पा रहा था कि वह अपनी मिलीजुली और उलझी हुई उत्तेजना से निबटे कैसे। गंभीर सोचविचार के बाद उसने बच्ची सोमप्रभा को अपनी हवेली के एक गुप्त कोने में छिपा दिया और घोषणा कर दी कि उसकी बेटी पैदा होते ही मर गयी थी। दाइयों का मुँह उसने उन्हें कुछ दे दिलाकर बंद कर दिया होगा।

अब हुआ यह कि सोमप्रभा समय पा कर बड़ी हो गयी। वैसे तो वह पैदा ही बड़ी हुई थी लेकिन अब बड़ी दिखने भी लगी। उसकी देह तो मानवीय ही थी, रूप दैवी था। यह अलग बात है कि वह लोगों को दिखाई कम ही देती थी, क्योंकि आम तौर पर वह सारा दिन हवेली के उस गुप्त कोने में ही गुज़ार देती। एक दिन क्या हुआ कि वह छत पर जा खड़ी हुई। शहर में वसंतोत्सव मनाया जा रहा था। उसने सोचा होगा सब उस उत्सव में मग्न होंगे, उसे कोई नहीं देखेगा। लेकिन हुआ यह कि एक अन्य सौदागर के बेटे ग्रहचंद्र ने उसे देख लिया और देखते ही वह उस पर फ़िदा हो गया। कहना न होगा कि उस ज़माने में भी नौजवानों को फ़िदा होने में ज़्यादा देर नहीं लगती थी। बेचारा बेहोश होते-होते बचा। शाम को अपने घर लौटा तो मुँह

सर लपेट कर अपने बिस्तर में पड़ रहा। और जब उसके माता-पिता ने उससे उसकी दुर्दशा का कारण बार-बार पूछा तो उसने अपने एक मित्र से कहा कि वह उन्हें सब कुछ बता दे।

ग्रहचंद्र के पिता ग्रहसेन अपने बेटे से बहुत प्यार करते थे। उनसे उसका विषाद देखा न गया। वह दौड़े-दौड़े धर्मगुप्त के घर पहुँचे और बोले, मेरे बेटे की जान ख़तरे में है, उसे आप ही बचा सकते हैं, मुझ पर दया कीजिए और उस सुंदरी का विवाह मेरे सुपुत्र से कर दीजिए, जो वसंतोत्सव के दिन आपकी छत पर खड़ी थी।

धर्मगुप्त काइयाँ आदमी था, सब समझ गया, और गंभीर मुद्रा बना कर बोला, ग्रहसेन भाई, वह सुंदरी तो पगली है, इसलिए छत पर खड़ी रहती है, उसका विवाह तो मैं किसी से नहीं करूँगा।

ग्रहसेन समझ गए कि धर्मगुप्त उन्हें टाल रहा था। सो वह निराशा की पोटली मन में बाँधे अपने घर लौट गए और सोचने लगे कि अगर वह उसी तरह घर बैठे रहे तो उनका बेटा उस छत वाली बाला के विछोह में मर जाएगा या पागल हो जाएगा। तब उन्हें याद आया कि राजा के लिए उन्होंने कई काम किए थे, कई संकटों में उनकी आर्थिक सहायता की थी, क्यों न जाकर राजा से याचना करें, संभव है राजा धर्मगुप्त पर दबाव डालने पर राज़ी हो जाएँ। तब उन्होंने एक बहुत ही दुर्लभ सा हीरा अपनी तिजोरी में से निकाला और उसे लेकर राजा के दरबार में जा पहुँचे। हीरे का उपहार देने के बाद उन्होंने राजा को अपनी विपदा सुना डाली। राजा हीरे की चमकदमक से भी प्रभावित हुआ, सौदागर की विपदा से भी। उसने उसी वक्त कोतवाल को बुलवाया और आदेश दिया, ग्रहसेन को अपने साथ ले जाओ और जैसे भी हो इनका काम करवा दो।

कोतवाल ने ग्रहसेन को तो साथ लिया ही, अपने बहुत से सिपाहियों को भी साथ ले लिया और धर्मगुप्त की हवेली को चारों तरफ़ से घेर लिया। धर्मगुप्त ने जब यह देखा तो उसका खून ख़ुश्क हो गया। उसने सोचा, अब तो मेरा सब कुछ तबाह हो कर रहेगा, सोमप्रभा को तो मैं विवाह के लिए कहूँगा नहीं, और राजा के सिपाही मेरी हवेली को आग लगा देंगे। वह बेचारा सर पकड़ कर बैठ गया।

सोमप्रभा ने जब पिता को रोते देखा तो उसे भी रोना आ गया। उसने धर्मगुप्त से कहा, पिताजी घबराहए नहीं, विवाह का प्रस्ताव स्वीकार कर लीजिए, लेकिन अपनी स्वीकृति के साथ एक शर्त ज़रूर जोड़ दीजिए कि मैं अपने पति से सम्भोग नहीं करूँगी, और अगर उसने ज़ोर-जबरदस्ती की तो मैं उसे भस्म कर दूँगी।

धर्मगुप्त अपनी विलक्षण बेटी की बात सुन मारे शर्म के लालपीले हो गए, सोचने लगे, अपनी बेटी के मुँह से इस तरह की बात भी सुननी पड़ेगी, मैंने कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था। लेकिन बेटी की शर्त उन्होंने ग्रहसेन को सुना दी। ग्रहसेन ने शर्त को मंजूर कर लिया, और मन ही मन उन्हें उस पर हँसी भी आयी। वे आश्वस्त थे कि विवाह के बाद दुनिया की कोई ताक़त उनके लाडले को उसके अधिकार से वंचित नहीं रख सकेगी। ज़ाहिर है कि पत्नी को भोगना वह पति का अधिकार मानते थे।

तो हुआ यह कि विवाह हो गया, बहुत धूमधाम से तो नहीं लेकिन हो गया। बहू ससुराल पहुँच गई। ग्रहसेन ने अपने बेटे ग्रहचंद्र से कहा, बेटा, अब उस बेहूदा शर्त को भूल कर अपनी सुहाग रात का आनंद लो कि अपनी पत्नी को भोगने का तुम्हें पूरा-पूरा अधिकार है। सोमप्रभा वहीं कहीं छिपी खड़ी या बैठी होगी, उसने ससुर की यह बात सुन ली, और सुनते ही वह सामने आ गई। उसने एक अँगुली ग्रहसेन की तरफ़ ऐसे उठाई जैसे उसे दाग़ रही हो। उस अँगुली को देखते ही ग्रहसेन के प्राण निकल गए और ग्रहचंद्र को विश्वास हो गया कि उसकी बीवी ज़रूर कोई विनाशकारी देवी होगी। ग्रहसेन के घर कुहराम तो मच गया लेकिन विवाह तो हो ही चुका था, उसे तो तोड़ना असंभव था, सो ग्रहसेन के दाहसंस्कार के बाद सोमप्रभा ससुराल की हवेली की मालकिन बन रहने लगी। अब सारे लोग उसी के इशारों पर नाचते, सारे काम उसी के आदेश पर होते।

अजीब बात है कि अपने पिता को अपनी आँखों के सामने समाप्त होते देख लेने के बाद भी ग्रहचंद्र के मन से सोमप्रभा की प्रतिमा हटी नहीं, बल्कि हुआ यह कि सोमप्रभा को लेकर उसकी दीवानगी दिन-ब-दिन बढ़ती ही गई, मगर अब उस ख़तरनाक पत्नी की तरफ़ आँख उठा कर देखने की भी उसकी हिम्मत न होती। बेचारा किस्मत का मारा जबरन ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा था और सोच रहा था, यह सूखा तो मुझे सुखा कर रख देगा। कभी-कभी उसे महसूस होता—जैसे उसे तलवार की धार पर लगातार चलते रहने की सज़ा दे दी गई हो। वह तरह तरह के व्रत रखता, तरह-तरह के ब्राह्मणों को भोजन खिलाता, तरह-तरह

की मन्नतें मानता लेकिन सोमप्रभा पर कोई प्रभाव पड़ता दिखाई न देता। वह सब कुछ तटस्थ भाव से देखती रहती, ब्राह्मणों को दान वग़ैरह देना भी न भूलती, लेकिन अपनी शर्त पर अडिग दिखाई देती।

आख़िर एक दिन क्या हुआ कि एक बूढ़ा लेकिन बहुत ही तेजस्वी ब्राह्मण भोजन के लिए हवेली में आया। सोमप्रभा का सौंदर्य देख वह इतना विस्मित हुआ कि ग्रहचंद्र से बोला, बेटा, तुम्हारी पत्नी तो हमें कोई अप्सरा नज़र आती है, इसके साथ तुम्हारा विवाह हो कैसे गया ? ग्रहचंद्र बेचारे को यूँ महसूस हुआ जैसे किसी ने अनजाने में उसके घाव को खरोंच डाला हो। सजल नेत्रों से और आर्द्र आवाज़ में उसने ब्राह्मण को अपनी व्यथा-कथा कह सुनाई। ब्राह्मण को उस पर बड़ा तरस आया। वह बोला, बेटा, तू चिन्ता न कर, सब ठीक हो जाएगा ! फिर ब्राह्मण ने उसे एक मंत्र दिया और कहा, इसके जाप से अग्निदेवता तुमसे प्रसन्न हो जाएँगे और तुम्हारी सारी मनोकामनाएँ पूरी कर देंगे। यह कह कर वह तो चले गये, ग्रहचंद्र ने एक गुप्त स्थान पर बैठ उस मंत्र का जाप शुरू कर दिया। कुछ देर बाद अग्नि में से एक ब्राह्मण प्रकट हुआ। वैसे ब्राह्मण के भेष में वह स्वयं अग्निदेवता ही थे। ग्रहचंद्र ने उनका चरणस्पर्श किया तो वह बोले, आज हम भोजन भी यहीं करेंगे और कुछ विश्राम भी, और फिर आधी रात के बाद हम तुम्हें दिखाएँगे कि तुम्हारी पत्नी असल में है कौन ?

ग्रहचंद्र ब्राह्मण को अपनी हवेली में ले गया। भोजन के बाद ब्राह्मण ग्रहचंद्र के कक्ष में ही लेट गए। आधी रात हुई तो उन्होंने ग्रहचंद्र को जगाया। उधर सोमप्रभा सब को सोया हुआ जान चुपके से बाहर खिसक जाने के लिए तैयार हो रही थी, इधर ब्राह्मण, जो वास्तव में अग्नि देवता ही थे, ने अपने आपको और ग्रहचंद्र को दो मधुमक्खियों का रूप दे डाला था। सोमप्रभा जैसे ही हवेली से बाहर निकली, दोनों मधुमक्खियाँ उसके पीछे-पीछे हो लीं। उसे उनकी धीमी-धीमी आवाज सुनाई तो देती रही लेकिन यह संदेह न हुआ कि उसका पीछा किया जा रहा था।

जब वे तीनों शहर से दूर निकल गए तो ग्रहचंद्र को एक विशाल न्यागरोध वृक्ष दिखाई दिया। वृक्ष के नीचे से उठे आ रहे संगीत ने, वीणा के मधुर स्वरों ने, और बांसुरी की भीनी धुनों ने उसे मस्त कर दिया, इतना कि कुछ देर के लिए वह सब कुछ भूल गया। फिर उसने अपनी पत्नी जैसी ही एक जानलेवा सुंदरी को वृक्ष के तने के पास एक ऊँचे तख़्त पर बैठे देखा। कुछ सेविकाएँ उसके सर पर सफ़ेद चौरियाँ झुला रही थीं। ग्रहचंद्र का मन हुआ कि वह भी उसके सर पर कोई चीज़ झुलाना शुरू कर दे। एक क्षण के लिए वह अपनी पत्नी को भूल उस दूसरी अप्सरा में ही विलीन हो रहा। फिर उसे ख़याल आया, पहले एक को तो पा लूँ, फिर दूसरी की सोचूँगा। कहना न होगा कि ग्रहचंद्र दिलफेंक किस्म का प्रेमी था, कुछ-कुछ हमारे राजा जी की ही तरह। तभी उसने देखा कि सोमप्रभा भी उसी तख़्त पर जा बैठी थी। अब उन दोनों को निहारते हुए उसे लगा जैसे तीन चाँद धरती पर उतर आए हों। मैं उन अप्सराओं की सुंदरता के प्रभाव को और प्रखर कर सकता हूँ लेकिन डर रहा हूँ कि आप चिन्ता में पड़ जाएँगी, कुछ ईर्ष्या के कारण, कुछ इस अंदेशे के कारण कि अगर राजा उदयन को कभी ऐसी अप्सराओं का दीदार हो गया तो आपका क्या होगा। इसलिए मैं इतना ही कहूँगा कि ग्रहचंद्र को अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हो रहा था। कभी वह सोचता यह सब किसी माया लोक में हो रहा है, कभी सोचता किसी स्वप्न लोक में, लेकिन फिर यह सोच कर स्तब्ध रह जाता कि माया लोक और स्वप्न लोक एक ही तो हैं।

इस बीच उन दोनों अप्सराओं ने अमृत भी पी लिया था, भोजन भी कर लिया था, और शायद और कुछ भी कर लिया हो जो ग्रहचंद्र को दिखाई न दिया हो। वे तृप्त दिखाई दे रही थीं। अब सोमप्रभा ने दूसरी से कहा, बहना, आज हमारे घर में एक देवता स्वरूप ब्राह्मण ठहरा हुआ है, इसलिए आज मैं और नहीं रुक सकती।

ग्रहचंद्र और ब्राह्मण, जो अभी तक मधुमक्खियों के आकार में ही थे, तेज़ उड़ान भर सोमप्रभा से पहले ही घर पहुँच गए। रास्ते में ब्राह्मण ने, जो असल में अग्निदेवता था, ग्रहचंद्र को बता दिया था कि दूसरी अप्सरा उसकी पत्नी की बहन थी। घर पहुँच कर उन्होंने उससे कहा, अब तुम खुद ही सोच लो कि कोई अप्सरा क्यों किसी मामूली मर्द के साथ सम्भोग करने को राज़ी होगी, लेकिन तुम चिंता मत करो, मैं हूँ ना; मैं तुम्हें एक मंत्र दूँगा जिसे तुम किसी तरह सोमप्रभा के शयनकक्ष के दरवाज़े पर अंकित कर देना; साथ ही मैं तुम्हें एक तरकीब भी बता दूँगा, जिस पर अमल करोगे तो मंत्र का प्रभाव बढ़ जाएगा—आग तो जलेगी

ही लेकिन अगर उसे हवा मिल जाए तो वह भड़क उठती है, इसी तरह मेरे मंत्र को समुचित तरकीब की सहायता से और प्रबल बनाया जा सकता है।

अब हुआ यह कि ग्रहचंद्र ने वह मंत्र सोमप्रभा के शयनकक्ष के दरवाज़े पर अंकित कर दिया। फिर शाम होते ही ब्राह्मण की बताई हुई तरकीब के अनुसार उसने अपने सुंदरतम वस्त्र निकाले और उन्हें पहन कर शहर की एक सुंदरतम गणिका की बग़ल में जा खड़ा हुआ। कुछ देर खड़ा रहने के बाद उसने उस गणिका को अपनी बग़ल में ले लिया और टहलक़दमी शुरू कर दी। जब उसकी पत्नी सोमप्रभा ने यह दृश्य देखा तो वह दहक उठी। ज़ाहिर है कि मंत्र ने अपना प्रभाव डालना शुरू कर दिया था और तरकीब ने उसे हवा देना, सो सोमप्रभा ने पति को बुला कर पूछा, वह बेहया है कौन और तुम उसके साथ टहलक़दमी क्यों कर रहे हो ?

ग्रहचंद्र ने कहा, वह इस शहर की मशहूर गणिका है और एक अर्से से मुझ पर फ़िदा है, लेकिन मैं तुम्हारी ख़ातिर उसे अब तक दुत्कारता रहा, लेकिन आख़िर मर्द हूँ, मेरी भी कुछ ख़्वाहिशें हैं, ज़रूरतें हैं, जिन्हें तुम पूरा कर नहीं रहीं, इसलिए मैंने फ़ैसला कर लिया है कि आज की रात मैं उस गणिका के साथ ही गुज़ारूँगा, कि अकेला सो सो कर तो मैं सूख ही गया हूँ।

यह सुनते ही सोमप्रभा के माथे पर सैकड़ों त्यूरियाँ उभर आईं और वह बोली, तुम कहीं नहीं जाओगे, किसी दूसरी के साथ कहीं कोई रात नहीं बिताओगे, तुम्हारी जगह मेरे बिस्तर में है, मेरे बदन में है, मैं तुम्हारी पत्नी हूँ, मैं तुम्हें गणिका बन कर दिखाऊँगी, मैं...।

सोमप्रभा बोलती चली गई, ग्रहचंद्र फूलता चला गया। वह भीतर से तो गद्‌गद हुआ जा रहा था, हैरान हुआ जा रहा था कि क्या यही वह सोमप्रभा है जिसने मेरे पिता की जान सिर्फ़ इसलिए ले ली थी कि उन्होंने मुझे सुहाग रात मनाने के लिए कहा था, लेकिन बाहर से वह अभी भी उदासीनता का नाटक कर रहा था। आखिर जब सोमप्रभा कुछ सँभली तो वह बोला, मुझे यक़ीन नहीं आता कि यह सब तुम कह रही हो, तुम जिसने मुझे सुहाग रात के आनंद से भी वंचित रखा, तुम जिसने मेरे पिता की जान सिर्फ़ इसलिए ले ली कि वह मुझे प्रोत्साहित कर रहे थे कि मैं अपनी सुहाग रात को ख़ाली न जाने दूँ, तुम जिसने अब तक मुझे स्पर्श सुख तो एक तरफ नयनसुख तक नहीं दिया, मुझे यकीन नहीं आता कि...।

ग्रहचंद्र यह सब कह तो गया लेकिन कहते समय उसके प्राण खुश्क हुए जा रहे थे यह सोच-सोच कर कि सोमप्रभा अपनी वह विनाशकारी अँगुली उठा कर उसे वहीं ढेर कर देगी। लेकिन सोमप्रभा अग्निदेवता के दिए हुए मंत्र से प्रभावित तो थी ही, ईर्ष्या की अग्नि में भी जल रही थी। अँगुली उठाने के बजाए उसने ग्रहचंद्र को अपने आलिंगन में कस लिया और कहा, बीती बेवकूफ़ियों को भूल जाओ और भावी रातों की कल्पना करो।

ग्रहचंद्र कुछ और अकड़ गया और बोला, मुझे यक़ीन नहीं आता कि...।

अबकी बार सोमप्रभा ने उसका मुँह अपने मुँह से बंद कर दिया।

कहना न होगा कि सोमप्रभा कामवासना के अतिरेक से पागल हुई जा रही थी और महसूस कर रही थी कि अगर ग्रहचंद्र ने उसी क्षण उसे तृप्त नहीं किया तो वह अतृप्ति की आग में जल कर राख हो जाएगी।

आख़िर हुआ यह कि ग्रहचंद्र उस गणिका को भूल अपनी मदन विह्वला पत्नी के पीछे-पीछे हो लिया। शयनकक्ष में पहुँचते ही सोमप्रभा ने जो जलवे दिखाए, जो नक्शे बनाए, जो मज़े दिए और लिए, उनका बयान मैं नहीं करूँगा, ताकि उनकी कल्पना आप दोनों रानियाँ स्वयं कर सकें—सच तो यह है कि मैं राजा उदयन से भी डरता हूँ, आप दोनों से भी, और अपने आप से भी। नहीं, उन दृश्यों के विस्तार में मैं नहीं जाऊँगा। संक्षेप में यही कि वह रात उन दोनों ने एक दूसरे के शरीर के सम्पूर्ण शोध और बोध में ही बिताई, बेकार बातों में नहीं।

और उस रात के बाद सोमप्रभा अपनी अलौकिकता को भूल अपने उस नश्वर पति के संग एक साधारण संगिनी की तरह रहने लगी।

शायद आप पूछना चाहती हों कि सोमप्रभा की कोई संतान हुई या नहीं, हुई तो उनमें कोई सुपुत्री भी थी या नहीं, अगर थी तो उसमें भी अलौकिकता का कोई विकार था या नहीं। मैं इस विषय के बारे में कुछ नहीं जानता। शायद आप यह पूछना चाहती हैं कि इस कहानी में यह क्यों नहीं साफ़ किया गया कि सोमप्रभा चंद्रप्रभा के गर्भ में आ कहाँ से गई और कैसे ? मैं इस प्रश्न का उत्तर दे कर आप दोनों रानियों के मन में कोई

कुबीज नहीं बोना चाहता। इतना ही कह देना काफ़ी है कि कहानियों में सब कुछ संभव तो होता है, साफ़ नहीं।

इस कहानी से निष्कर्ष यही निकलता है कि अप्सराएँ भी कभी-कभी भले पुरुषों के बाहुपाश में आ ही जाती हैं—पर्याप्त मंत्रों और तरकीबों के प्रताप से, उन भले पुरुषों को पर्याप्त यातनाएँ दे देने के बाद।

× × × ×

वसंतक ने वासवदत्ता और पदमावती को उसी बैठक में शायद कुछ और कहानियाँ भी सुनाई होंगी—उसे दूसरों की उदास बीवियों को प्रेम कहानियाँ सुनाने की बीमारी जो थी—लेकिन हमारा अनुमान है कि उदयन की बीवियों ने दूसरी कहानियों को ध्यान से नहीं सुना होगा क्योंकि उन्हें कई अंदेशों ने कचोटना शुरू कर दिया होगा—अगर हमारा घुमक्कड़ उदयन भी शिकार करता करता किसी शाम किसी वर्जित क्षेत्र में जा भटका और किसी वर्जित अप्सरा का शिकार हो गया या उसने किसी वर्जित अप्सरा का शिकार कर लिया तो हम क्या करेंगी ? क्या वह वर्जिता हमें स्वीकार कर लेगी, क्या हम उसे स्वीकार कर लेंगी, क्या हमारा उदयन उस वर्जिता के बावजूद हमारा बना रहेगा, या क्या हमें भी किसी मंत्र और तरकीब का सहारा लेना पड़ेगा। □

नोट : *इतना तो ज़ाहिर हो ही गया होगा कि* ***कथासरितसागर*** *में सुनाई गई इस कथा में हमने कुछ शरारती परिवर्तन कर दिए हैं—कथाकारों के ईश्वर हमारी यह ख़ता मुआफ़ करें।*

वक्त और मकाम

नजीब महफ़ूज़
अनुवाद : मनोहर श्याम जोशी

वह वाकया है पुराने मकान में मेरी आखिरी रात का या यूँ कहूँ कि उस रात का जिसका आखिरी होना तय हुआ था। बेहद पुराना और मौजूदा नज़रिए से खासा बेतुका होने के बावजूद वह मकान एक निराली शख्सियत रखता था। वह गोया एक कदीमी यादगार की हैसियत रखने लगा था। यह अहसास इसलिए कुछ और भी बढ़ जाता था कि उसमें से वह चौक नज़र आता था जिसकी पैदाइश काहिरा शहर के साथ ही हुई थी। विरासत में मिला था हमें वो मकान लिहाजा उसी में हमारी परवरिश हुई थी। बाद में पुरानी और नई पीढ़ी के आपसी झगड़े की वजह से हमारे और उस मकान के बीच एक किस्म की बेरुखी-सी आ चली थी और हम तंग गलियों के दुतरफा खड़ी उन पत्थर की दीवारों से कहीं दूर किसी खुली-खुली चमचमाती नई कॉलोनी में जा बसने की तमन्ना करने लगे थे।

उस मकान की बड़ी-सी बैठक में पतझड़ के मौसम की तुनक मिजाजी से बचने के लिए कसकर बंद किए गए रोशनदान के ठीक नीचे मैं उस खस्ताहाल सोफे पर बैठा था जिसे कबाड़ी को बेच देने का फैसला हो चुका था। मैं दालचीनी वाली चाय की चुस्कियाँ ले रहा था और मेरी निगाह सामने मेज पर रखे पीतल के धूपदान पर टिकी हुई थी। उसमें जलती हुई जावा की लोबान-बत्ती खुशबूदार धुएँ का धागा कात रही थी जो रुख्सत की खामोशी के आलम में लैम्प की रोशनी तले चक्कर खाकर आप अपने से ही लिपटता जा रहा था। मेरी राजी-खुशी पर न जाने क्यों मुर्दानगी हावी हो गई और मुझे एक अजीब-सी बेचैनी ने धर दबोचा। उससे लड़ने के लिए कमर कस रहा था कि खला की रफ्तार से फेंकी गई किसी रोशन गेंद की तरह तमाम जिंदगी मेरी आँखों के आगे से कौंधती हुई गुजर गई। पलक झपकाते ही वह रोशनी बुझ गई, बिला गई, उसमें जिसे न जाना जा सकता है और न जिसकी थाह ली जा सकती है।

मैंने अपने से कहा कि इस तरह के छलावे मेरे लिए अनजान नहीं हैं। इस घर से कल ही रुख्सत ले लेने की बात का मनमाने ढंग से तय कर लिया जाना मुझे उस आखिरी रुख्सत की याद दिला रहा है जिसमें फीलवान कतई आखिरी नगमा पेश करने के लिए अपनी आवाज बुलन्द करता है। रुख्सत होने की उदासी से अपना ध्यान बँटाने की खातिर मैं एक चौड़ी सड़क पर लेब्बेक के छुईमुई पेड़ों की घनी डालों तले बने अपने नए बसेरे के बारे में और उस नई जिंदगी के बारे में सोचने लगा जो हमें अनगिनत शायस्ता लुत्फ देने का वायदा कर रही थी। दालचीनी की चाय का पूरा प्याला मेरे हलक तले उतरा कि मैं बेहद लंबी छलाँग लगाते हुए एक हकीकत से दूसरी में जा पहुँचा। मेरे भीतर कहीं गहरे से एक पुकार उठी जिसने पूरे यकीन के साथ मुझे न्यौता दिया कि जा दरवाजे खोल, परदा सरका, खला पर हमला बोल और लोबान में डूबे हुए खुशबू के माहौल से अपने लिए मुआफी और ताईद झटक ले। सारी परेशानियाँ, सारी फ़िक्र नेस्तनाबूद हो जाने के तमाम खयालात फना हो गए। जादू, जिंदादिली और जोशो-खरोश के उजड़ते सैलाब में। मेरा दिल एक अजीबोगरीब ताल पर थिरकने लगा जो जोशे जुनून से पैदा हुई थी।

मेरे भीतर एक रोशनी कौंधी और उसने एक इंसान की शक्ल ले ली। शराब से लबालब एक जाम मुझे थमाते हुए उसने दोस्ताना अंदाज से कहा, "करामात का तोहफा कबूल फरमाएँ।" मुझे लगा कि अब कुछ होगा और हुआ भी। हमारी बैठक न जाने कहाँ

बिला गई और उसकी जगह एक लम्बे-चौड़े दालान ने ले ली जिसका दूसरा सिरा जा पहुँचा चौक की मोटी सफेद दीवार तक। इस दालान में कहीं गोल-गोल और कहीं दूज के चाँद की शक्ल में घास उगी हुई थी और बीचोंबीच एक कुआँ था। और कुएँ से कुछ दूरी पर खजूर का एक ऊँचा दरख्त था। मैं दो अहसासों के बीच झूलने लगा। कभी लगता कि कुछ ऐसा देख रहा हूँ जो पहले कभी नहीं देखा। कभी लगता कि इसमें कुछ भी मेरे लिए अनदेखा-अनजाना नहीं है। न सिर्फ मैं इसे पहले देख चुका हूँ बल्कि पुरानी यादें भी ताज़ा कर रहा हूँ। मैंने अपने सिर को जोरदार झटका दिया कि अगर मेरा दिमाग भटक गया हो तो फिर मौजूदा असलियत पर लौट आए। मगर उससे नजारा कुछ और साफ, कुछ और पुरअसर हो चला और इस बीच ताड़ के दरख्त और कुएँ के बीच एक इंसान भी नमूदार हो गया। काले जिब्बे और ऊँचे हरे साफे से बहुत हद तक ढका हुआ यह शख्स मैं ही था। लहलहाती दाढ़ी के बावजूद उसका चेहरा मेरा ही था। मैंने फिर अपने सिर को झटका दिया मगर इससे नज़ारा कुछ और साफ कुछ और तीखा ही हुआ। मरियल होती हुई रोशनी सूरज के डूबने का इशारा करने लगी और इसके साथ ही कुएँ और ताड़ के बीच एक अधेड़ आदमी भी आन खड़ा हुआ जो कतई मेरी-सी पोशाक पहने हुए था। मैंने देखा कि बूढ़ा मुझ अधेड़ को एक छोटी-सी संदूकची दे रहा है और कह रहा है, ''इस जमाने में कुछ भी महफूज नहीं है। इसे जमीन में गहरा गाड़कर छिपा दे। सही वक्त आने पर निकालना।''

''क्या यह बेहतर न हो,'' मैंने उससे पूछा,'' कि इसे जमींदोज करने से पहले एक बार खोलकर देख लूँ?''

''नहीं, नहीं,'' उसने डपटकर कहा, ''इसे देख लेगा तो जल्दबाजी में वह काम कर बैठेगा जो सालभर से पहले हरगिज नहीं करना है। जल्दबाजी जानलेवा साबित होगी।''

''गोया मुझे सालभर इंतजार करना पड़ेगा?''

''कम से कम। उसके बाद इसमें जो कहा गया हो सो करना।'' वह थोड़ी देर खामोश रहा, फिर मुझे खबरदार करता हुआ बोला, ''जमाना जालिमाना है। वो लोग तलाशी लेने आ सकते हैं। लिहाजा इसे फौरन गहरे गाड़ दे।'' फिर वे दोनों खजूर के दरख्त के करीब ही गड्ढा खोदने लगे। संदूकची को उसमें दफन करके उन्होंने ऊपर से मिट्टी भर दी और फिर सतह को बहुत होशियारी से हमवार कर दिया। फिर वह अधेड़ आदमी मुझसे बोला, ''खुदा हाफिज़! जरा होशियार रहना जमाना जालिमाना है और कोई भी महफूज नहीं है।''

इसके साथ ही वह नजारा कुछ इस तरह गायब हो गया जैसे कभी था ही नहीं। पुराने मकान की बैठक लौट आई और धूपदान में काफी जल चुकी बत्ती का ठूँठ नजर आने लगा। मुझपर तारी जुनून फौरन उतरने लगा और मैं ठोस और ठस हकीकत की ओर लौट चला। फिर भी काफी अरसे तक मेरे भीतर हलचल बनी रही। यकीनन वह नजारा मेरे तख़य्युल का पैदा किया हुआ रहा होगा। और क्या हो सकता था भला? अपने को इस तरह समझाने के बावजूद मैं उस नजारे को भुला नहीं पा रहा था जिसने निहायत ठोस शक्ल इख्तयार की थी और जो हर तरह से ऐसा था कि उसके असली होने पर शुबहा करना नामुमकिन था। मैं किसी ऐसी गुजिश्ता हकीकत के बीच था जो मौजूदा हकीकत जितनी ही ठोस थी। मैंने अपनी या अपने ही किसी पुरखे की और किसी गुजिश्ता दौर की झलक पाई थी इस बात पर शक करना खुद अपने आँख-कान और दिमाग पर शक करना था। जाहिर है मैं समझ नहीं पा रहा था कि आखिर जो हुआ सो क्यों हुआ ? मगर हुआ वह जरूर। एक सवाल मुझे कुरेदने लगा मैंने जो देखा सो क्यों देखा और तो भी आज इस पुराने मकान में मेरी आखिरी रात को ही क्यों? यकबयक मुझे लगा कि मुझसे कुछ करने को कह गया है। कुछ ऐसा जिससे बचा नहीं जा सकता।

अगर उस दूसरे ने एक साल की मियाद बीत जाने पर उस संदूकची को निकालकर जो कुछ करना था सो कर दिया होता तो क्या यह नजारा मुझे दिखाया जाता ? कहीं ऐसा तो नहीं कि उस बेसब्रे से रहा नहीं गया और जल्दबाजी जानलेवा साबित हुई ? क्या उस जालिमाना जमाने में उसका मनसूबा ही उसका हत्यारा साबित हुआ? मैं तड़प उठा असलियत जानने के लिए। मुझपर यह फितूर सवार हो गया कि गुजिश्ता दौर का अपना फर्ज पूरा करूँ। यह नजारा मुझे दिखाया ही इसलिए गया है कि वह दूसरा संदूकची निकालने से पहले ही धर लिया गया। मुझसे कहा जा रहा है कि संदूकची खोदकर निकालूँ और उस काम को कर डालूँ जो एक बहुत लम्बे अरसे से अनकिया पड़ा है। मुझे हिदायत दी जा रही है कि मैं पुश्तैनी मकान न छोड़ूँ और पुरखों के किसी ऐसे अनजाने हुक्म की तामील करूँ जिसे लागू करने का वक्त अभी तक नहीं आया था। यह सारा मुआमला समझ से परे था। मेरे बुजुर्ग ख्वाबों के बने हुए लिबास में लिपटे हुए मेरे सामने

आए थे लेकिन इसके बावजूद उनकी बातों ने मुझे तानाशाही सख्ती से अपनी गिरफ्त में ले लिया था। मेरा दिल कुछ होने की उम्मीद में जीने की खुशियों और गमों से भर उठा।

उस रात एक पल भी मेरी आँख न लगी। मेरे खयालात बीत चुके, बीत रहे और बीतने वाले वक्त के बगैर ओर-छोर फैलाव में भटकने लगे और उस नशे में डूब गए जो पूरी आजादी मिलने पर चढ़ता है। अब रुख्सत होने का कोई सवाल ही न रहा। मुझ पर यह भूत सवार होने लगा कि मैं अनजाने गुजिश्ता जमाने को खोद डालूँ और उस हुक्म को खोज निकालूँ जो न जाने कब से मेरे इंतजार में दबा पड़ा है। लेकिन इस उम्मीद को पूरा करूँ तो कैसे? जो नजारा मैंने देखा था और अब जो नजारा मेरे सामने था दोनों का मिलान करने पर मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि वह खजूर का दरख्त वहीं रहा होगा जहाँ अब बैठक की ओर जाने वाली छोटी सीढ़ियाँ हैं। लिहाजा उनसे थोड़ी दूरी पर बैठक की खिड़की के ठीक नीचे की जमीन खोदी जानी चाहिए।

अब मेरे सामने एक उलझन यह पेश हुई कि अपने भाई-बहन को कैसे बताऊँ कि पुराना मकान छोड़ देने के फैसले का साझीदार होने के बावजूद अब मैं उसी में रहना चाहता हूँ। हम तीनों ही यूनिवर्सिटी में पढ़ रहे थे। मेरा वकालत का आखिरी साल था। मुझसे एक साल छोटा भाई इंजीनियरी और दो साल छोटी बहन डाक्टरी पढ़ रहे थे। उन्हें मेरा फैसला बदलना बहुत अजीब लगा। और मैंने जो भी बहाने बनाए उन्हें बेतुके लगे। वे मकान बदलने के फैसले पर कायम रहे और उन्होंने उम्मीद जाहिर की कि भाईजान आप भी जल्दी ही वहाँ आ जाएँगे। रुख्सत होते हुए उन्होंने मुझे याद दिलाया कि जमीन-जायदाद की कीमतों में आई तेजी से मुनाफा उठाने के लिए पुराने मकान को बेचने का फैसला हम तीनों ने मिलकर किया था। मैंने कोई हील-हुज्जत न की। इस तरह हम भाई-बहन जिंदगी में पहली बार अलग हुए। गो हम अब तक यही कहते आए थे कि शादी या मौत ही हमें जुदा कर पाएगी।

अब खुदाई करने के रास्ते में कोई रुकावट न थी। आपसे सच कहूँ तो मैं यह सोच-सोच कर डर रहा था कि खुदाई करने से कुछ न मिला तो? मगर मैं तो किसी ऐसी ताकत के बस में था जो मुझे इस डर से फैसला बदलने ही नहीं दे रही थी। खैर मैंने तय पाया कि रात को खुफिया तौर से काम शुरू करूँगा। तो मैं फावड़ा-कुदाल और टोकरा लेकर उस रात शुरू हो गया और देखते ही देखते मेरे कपड़े और फेफड़े धूल से भर गए और मेरे नथुनों में गुजिश्ता दौर की सोंधी गंध बस गई। फकत इस यकीन के सहारे कि सच्चाई अब सामने आने ही वाली है मैं खोदता चला गया, खोदता चला गया। होते-होते मैं उस गड्ढे में पूरा का पूरा समा गया। तभी कुदाल की एक चोट से अनपहचानी-सी आवाज निकली। यकीनन कुदाल किसी अनजानी चीज से टकराई थी। मेरा दिल बुरी तरह धड़कने लगा और हाथ-पाँव काँपने लगे। मोमबत्ती उठाकर देखा तो संदूकची का धूल से सना मगर जानदार चेहरा नजर आया जो गोया इतनी देर कर देने के लिए मुझे कोस रहा था और इस बात पर नाराज हो रहा था कि मैंने सैकड़ों साल बरबाद कर दिए और जिस लफ्ज को जाहिर करना जरूरी था उसे इस बीच दफन ही रहने दिया। इसके साथ ही वह मुझे अपनी हकीकत एक ऐसी ठोस शक्ल में पेश कर रहा था जो झुठलाई नहीं जा सकती थी। वक्त पर जीत हासिल करने वाली एक ठोस करामात थी वो संदूकची।

मैंने संदूकची को उस गड्ढे से बाहर निकाला और उसे लेकर बैठक की ओर लपका। मेरे हाथ में इस बात का सबूत था कि मेरा ख्वाब हकीकत में बदल चुका है और मेरे तमाम दुनियावी ऐतराज बेबुनियाद साबित हुए हैं। ढक्कन से धूल झाड़कर मैंने संदूकची खोली और उसके भीतर तार-तार हो चुके कपड़े में लिपटा हुआ एक खत पाया। मैंने बहुत होशियारी से उसकी तहें खोलीं और उसे पढ़ने लगा।

"अय मेरे बेटे, अल्लाह तुझे सलामती बख्शे।

साल बीत चुका है और हर कोई अपनी राह जान गया है।

अपना मकान मत छोड़ क्योंकि यह काहिरा में सबसे खूबसूरत है। और फिर अहलेदीन के लिए तो बस यही एक मकान है, यही एक महफूज मकाम है।

अब वक्त आ गया है कि तू हाफिजे हरम और हमारे पीर आरिफ अल-बक़लानी से मिले। तो उनके मकान में जा। आराम गूर गली में घुसने के बाद दाहिनी तरफ का तीसरा मकान उनका है। वहाँ जाकर कहना कि न होता हूँ मैं तो वो हो जाता है नुमाया और अगर वो होता है नुमाया तो मुझे कर देता है नदारद। यह सुनते ही तेरे लिए दरवाजे खुल जाएँगे।

इस तरह तू अपना फर्ज अदा कर लेगा, किस्मत तुझ पर मेहरबान होगी और तुझे वह सब मिलेगा जो अहलेदीन चाहते हैं कि तुझे मिले और वह भी जो तू खुद चाहता है अपने लिए।"

मैंने यह खत इतनी बार पढ़ा कि लगा मशीनी ढंग से पढ़ रहा हूँ और बेमतलब पढ़ रहा हूँ। वह जो भी मेरा जोड़ीदार था उस पर क्या बीती यह तो मैं नहीं जानता था। मगर इतना मैं जरूर जानता था कि यह मकान न अब काहिरा में सबसे खूबसूरत था और न अहलेदीन ने इसे पनाहगाह का दर्जा दे रखा था। और उन हाफिजे हरम आरिफ अल-बक़लानी का वजूद मिट चुका था। तो फिर मुझे वह नजारा क्यों दिखाया गया, क्यों इतनी मेहनत-मशक्कत कराई गई? क्या यह मुमकिन है कि इतना बड़ा करिश्मा खामूहखाँ किया गया? ऐसा क्यों न समझा जाए कि मुझे हुक्म दिया गया है कि आराम गूर गली के दाहिनी तरफ के तीसरे मकान में जा पहुँचूँ ताकि मुझे कुछ ऐसा दिया जा सके जिसकी मुझे कोई खबर नहीं है? मैं चाहूँ तो भी क्या अपने को वहाँ जाने से रोक सकता हूँ। नजरंदाज कर सकता हूँ अपनी कुछ जानने और कुछ पाने की ख़्वाहिश की उस कशिश को जो मेरे चश्मदीद करिश्मे को एक बेहूदा मजाक मानने से इनकार कर रही थी। तो अँधेरे की ओट में उसी रात सैकड़ों साल की देरी से सही मैं मंजिले मक्सूद की ओर निकल पड़ा। मैंने पाया कि सारी गली अँधेरे से मुँह ढाँपे सोयी पड़ी है और उसके भीतर दूर कहीं एक रोशनी टिमटिमा रही है। इक्का-दुक्का लोग तेज कदम बढ़ाते हुए बड़ी सड़क की ओर जाते दिखे बाकी कहीं कोई नज़र न आया। मैंने पहला मकान पार किया फिर दूसरा। तीसरे पर पहुँचकर मैं रुक गया। उसकी तरफ मुड़ते हुए कुछ ऐसे बढ़ा जैसे नींद में चल रहा होऊँ। मैंने देखा कि उसमें एक नीची दीवार के उस पार छोटा-सा दालान है जिसमें कुछ धुँधले-से इंसानी ख़ाके नज़र आ रहे हैं। मैं वापस लौटता इससे पहले ही दरवाजा खुल गया और विलायती लिबास पहने दो लम्बे-तड़ंगे मर्द बाहर निकले। उन्होंने फुर्ती से आगे बढ़कर मुझे पीछे से धर लिया और फिर उनमें से एक बोला, "भीतर जाकर उस शख़्स से मिलो जिससे मिलने आए हो।"

मैं हड़बड़ा गया और मैंने कहा, "मैं किसी से मिलने नहीं आया था। यों अगर आप यहाँ रहने वाले का नाम बता दें तो बड़ी मेहरबानी।"

"अच्छा! मगर क्यों भला?"

अपने भीतर उठती हुई घबराहट को दबाते हुए मैंने कहा, "दरअस्ल मैं यह जानना चाहता था कि क्या यहाँ रहने वाला अल-बक़लानी खानदान से वाबस्ता है?"

"ये खानदान-पानदान तो छोड़ो और अपने सफर की मंजिल की ओर बढ़ो।"

मुझे लगा ये लोग खुफिया पुलिस से हैं। मारे घबराहट के समझ में नहीं आया कि क्या कहूँ। सफाई दी, "न मैं किसी सफर पर निकला हूँ, न मुझे किसी से मिलना है।"

"वो तो अभी पता चल जाएगा।" उन दोनों ने मेरी एक-एक बाँह कसके पकड़ी और मेरी अपने को छुड़ाने की कोशिशों को अनदेखा करते हुए मुझे भीतर घसीट ले गए। मुझे ख़्वाबे खुशनुमा से तोड़कर ख़्वाबे परीक्षा में झोंक दिया गया। वे मुझे एक कमरे में ले गए जिसमें बिजली की रोशनी सफेद जलेबियाँ और हथकड़ियाँ पहने एक नौजवान पर पड़ रही थी। मुझ भीतर लाने वाले उन दो शख़्सों जैसे ही कई और इंसान उस कमरे में खड़े हुए थे। मुझे भीतर लाने वालों में से एक बोला, "अपने दोस्त से मिलने आ रहा था।"

एक शख़्स जो मेरे ख़्याल से उन लोगों का सरगना था, गिरफ्तार नौजवान से मुखातिब होकर बोला, "ये तुम्हारा साथी है?"

"मैंने इसे पहले कभी नहीं देखा।" उसने रुखाई से जवाब दिया।

तब उस सरगना ने मुझसे मुखातिब होकर पूछा, "क्यों भाई तुम भी यही झूठ दोहराओगे या अपना और हमारा वक्त बचाने के लिए सीधे-सीधे कबूल कर लोगे।"

मैंने पुरजोर ढंग से कहा, "मैं अल्लाह ताला की कसम खाकर कहता हूँ कि आप जिस भी चीज़ से मेरे जुड़े होने का शुबहा कर रहे हों उससे मेरा कोई वास्ता नहीं है।"

उसने अपना हाथ आगे बढ़ाते हुए कहा, "अपना शिनाख़्ती कार्ड दिखाओ।"

मैंने यूनिवर्सिटी का कार्ड दिया। उसे देखने के बाद उसने पूछा, "तो तुम यहाँ आए क्यों?"

उन दो लोगों की ओर इशारा करते हुए मैंने शिकायती अंदाज में कहा, "ये मुझे जबरदस्ती पकड़कर ले आए।"

"कहीं बाहर सड़क से पकड़ लाए, ऐं ?"

"जी मैं अल-बक़लानी खानदान के बारे में पूछने इस गली में आया था।"

"तुम्हें उस खानदान के बारे में पूछने की ऐसी क्या जरूरत पड़ गई?"

मेरी घिग्घी बँधने लगी। मैंने जाना कि जिरह में इंसान को अपना हर लफ्ज़ अपने लिए खतरनाक मालूम होने लगता है। अटकते हुए मैंने कहा, "मैंने उसके बारे तवारीख में पढ़ा था कि वह इस गली में घुसने के बाद दाहिनी ओर पड़ने वाले तीसरे मकान में रहा करता था।"

"किसकी लिखी तवारीख में तुमने पढ़ा था यह ?"

अब तो मैं और भी घबड़ा गया। इसलिए खामोश हो गया।

"झूठ बोलकर तुम्हारा कोई फायदा न होगा। उल्टे नुकसान ही होगा।"

"आप लोग मुझसे क्या चाहते हैं?" मैंने तकरीबन रुआँसा होकर पूछा।

"अपने चंद सवालात के सच्चे जवाब।" वह मुस्कराया।

मैं चीख उठा, "मुसीबत यह है कि मैं सच बोलूँगा तो आप मुझपर यकीन नहीं कीजिएगा।"

"अरे जरा बताकर तो देखो वह सच।"

मैंने ओठों पर जुबान फेरी और अपने थूक में मिट्टी पायी। फिर मैंने बोलना शुरू किया, "मैं अपने मकान की बैठक में अकेला बैठा हुआ था..." मेरा मखौल करती उनकी सख्त निगाहों का सामना करते हुए किसी तरह मैंने अपना राज उनपर जाहिर कर दिया। जब मैंने अपनी बात पूरी कर ली तब उस शख्स ने बेरुखी से कहा, "पागल बनने की कोशिश करने से भी तुम्हें कोई फायदा न होगा।"

अपनी जेब से वह खत निकालते हुए मैंने चहकते हुए कहा, "यह देखिए मेरे पागल न होने का सबूत।"

उसने कागज का मुआयना किया और फिर बुदबुदाया, "एक निहायत अजीबो-गरीब क़िस्म का कागज जिसका राज हम जल्द ही पता कर लेंगे।" फिर उसने इबारत पर निगाह दौड़ानी शुरू की। उसके ओठों पर हिकारत-भरी मुस्कान खेल गई। "जाहिर है यह कोई कोड है!" वह बुदबुदाया फिर उसने गिरफ्तार किए गए नौजवान से जो मकान का मालिक था, मुखातिब होकर पूछा, "क्या तुम ही आरिफ अल-बक़लानी हो? ये तुम्हारा कोड नाम है?"

"मेरा कोई कोड नाम नहीं है।" उस नौजवान ने भी हिकारत से कहा, "यह अजनबी भी आप ही का कोई गुर्गा है जिसे आपने ही इस खत के साथ यहाँ बुलवाया है ताकि मुझपर झूठा इल्जाम लगाया जा सके। मैं इस तरह की चालबाजियों को बखूबी समझता हूँ।"

तभी मुझे पकड़ने वालों में से एक ने अपने सरगना से कहा, "हुजूर शायद बेहतर यही हो कि हम यहीं डटे रहें, यकीनन इसके और संगी-साथी भी किसी तयशुदा मीटिंग के लिए अब पहुँचते ही होंगे।"

"हम पौ फटने तक ठहरेंगे।" सरगना ने फरमाया और फिर मेरी ओर इशारा किया। जिसे देखते ही मुझे पकड़ने वालों ने मेरी मुखालफत अनसुनी करके मेरे हथकड़ियाँ डाल दीं। मुझे यकीन नहीं आ रहा था कि मामला सचमुच ऐसा खतरनाक मोड़ ले रहा है। आखिर वो किसी मामले को एक हैरत-अंगेज करिश्मे से शुरू करके फिर उसमें ऐसा नाकाबिलेबरदाश्त उलटफेर कैसे कर सकते हैं? मेरा मन न इस हकीकत को हकीकत मानने को तैयार हुआ और न उम्मीद छोड़ने को। बेशक मुसीबत का सैलाब मेरे गले-गले तक आ चुका था मगर यह तो हो ही नहीं सकता था कि वह नजारा महज एक बेहूदा मजाक करने के लिए मुझे दिखाया गया हो। मुझे अपनी बचकाना गलती माननी होगी। दुबारा गौर करना होगा चीज़ों पर। यकीन करना होगा वक्त पर।

भारी-सी खामोशी हम पर छा गई। मैंने नए मकान में बैठे हुए अपने भाई-बहन का तसव्वुर किया और पुराने मकान में मुँह-बाए उस गड्ढे का भी। सारी चीज़ मेरे आगे इस तरह से पेश हुई जैसे मैं उसके भीतर होते हुए भी उसको बाहर से देख रहा होऊँ। मुझे बेसाख्ता हँसी आ गई। मगर कोई मेरी ओर नहीं घूमा। किसी ने खामोशी नहीं तोड़ी।

□

नजीब महफूज–अरबी भाषा के नोबेल पुरस्कार प्राप्त लेखक। जन्म–1911, काहिरा। इनकी एक विशेषता ये है कि इनका लगभग सारा साहित्य काहिरा और वो भी अपने आस-पास के गली-कूचों को लेकर है। यह उनकी एक प्रसिद्ध कहानी है।

मिट्टी

चित्रा मुद्गल

कानों में निरंतर पेंचकस-सी घूमती झींगुरों की झिंया में चढ़ती रात की निस्तब्धता दरक रही थी...

बाईं खमसार में पड़ी थी अम्माँ की खटिया। छत की धन्नी से लटकाए तार में लटक रही थी धुँआई मरियल-सी उजास फेंक रहीं लालटेन ! लग रहा था, साँझ किसी को फुरसत ही नहीं जुटी कि लालटेन जलाने से पहले काँच राख से मल लेता।...

घर की बड़की बहू का स्वर झल्लाया हुआ था।

सूखी लकड़ी-सी चिरी देह के माथे को लगभग झिंझोड़ा उसने।

''सुन रही हो अम्माँ छूंछी-छूंछी आँखों से का ताक रही हो, लाल लटके है का धन्नी से...''

''ठीक-ठीक सोच के बताओ अम्माँ, कहाँ गाड़ रखा है, चाँदी के रुपयों से भरा कलसा अऊर जेवरों वाला लोटा ?''

''ध्यान करो अम्माँऽऽऽ...ध्यान करो...''

''जांत उखाड़ दो-दो हाथ नीचे खोद डाला सूरजवाने, ओखली के नीचे भी कुछ नहीं मिला...है तो कहाँ है ? बोलो ? अई बोलो न !''

''तुम तो कहती रहीं अम्माँ, सूरजवा के बियाह में तुम अपना जेवर चढ़ाए में चढ़ैहौ...पतोहू को बुंदा, करधनी, कंठा देहौ...मुँह देखाई में मटरमाला...अई मिलेगा तब तो चढ़ाए में चढ़ेगा !''

''बिस्वाश करो अम्माँ, गाजे-बाजे के संग तुम्हारी मिट्टी उठेगी ...रांड हुई तो क्या हुआ, नाती-पोते वाली ठहरीं...फूले फले कुटुंब वाली ठहरीं...''

छूंछी सूखी आँखें सोता फूटे सी झलझला आईं। बहू पर जा टिकीं—''दुलहिऽऽन...तनी रामायऽऽण बाँच के सु...ना दे...ओ...''

बहू ने चिरौरी झटकी।

''सुना देंगे, सुना देंगे, अपनी रामायण तो पहले पूरी करो ? चार ठिकाने तो तुम संझा बेरिया से खुदवा चुकीं—पूरा घर ढहवाओगी का !''

''दिनेश औ...रमेश को खबर...''

''तार गए...अब तुमको छोड़ के तो सुरजवा के बप्पा बुलाने दौड़े नहीं जाएँगे...आएँगे सबै, अपने सुभीते से...उनकी खात्तिर कबै तक प्राण अटकाए रहोगी...विश्वास नहीं का हम पे जो असल ठियाँ न बता के इहाँ-उहाँ भटका रही हो बूढ़ा !''

झल्लाई आँखों की कोरें चूने लगीं। लंबी कराह के साथ सिर हिला उन्होंने तोहमत को ढुरकाया।

''सुध नहींऽ ऽ आ रही दुलहिनऽऽ''

''और सब बातों की सुध तो है...गहने गुरिया याद नहीं... सब समझ बूझ रहें, जिनकी खातिर तुम बहला फुसला रही हो न...पूछो, खटिया पर पड़ी पोंक रही थीं तो कोई आया गाड़ धोने ? गूँ मूत उठाने को हम, हमार मंसवा, हमार बेटवा अऊर ले दे की बेरिया...''

आँखें मूँद लीं उन्होंने। जैसे किसी सोच में डूब गई हों। कुछ याद कर रही हों। टटोल रही हों। समृतियों की धूल-जाले हटा।

''सरलिया के बियाह में...पाँव पूजने कोऽ...लच्छे निकाले थे ...बस्स् ...तब से...''

''चौके से लगी...कोठरिइया म...दुधहड़ी के नीचे...बड़कऊ के बप्पाऽऽ तुम काहे आए होऽऽ तनि गंगाजल...डाल देओ मुहिंमा ...दुलहिन ...सुंदर कांड सुना दियो ऽ ऽ ऽ बड़कऊ रेऽ ऽ सुरजवाऽ ऽ...गंगाजल ...रेऽ ऽ...ऽ''

उनके प्राण छूट गए।

कोई नहीं आया पास। बेटा, बहू, पोता दुधहड़ी के नीचे की जमीन में फावड़ा चला रहे थे...

दुधहड़ी, जांत, ओखली और तुलसी के चौरे के नीचे की जमीन एक कर उन्हें यथास्थान रख बहू दरवाजे से गोबर उठा लाई और आँगन, कोठरी, चौका लीप उनकी निर्जीव देह के सिरहाने रामायण और गंगाजल से भरा लोटा रख आर्तनाद करने लगीं...

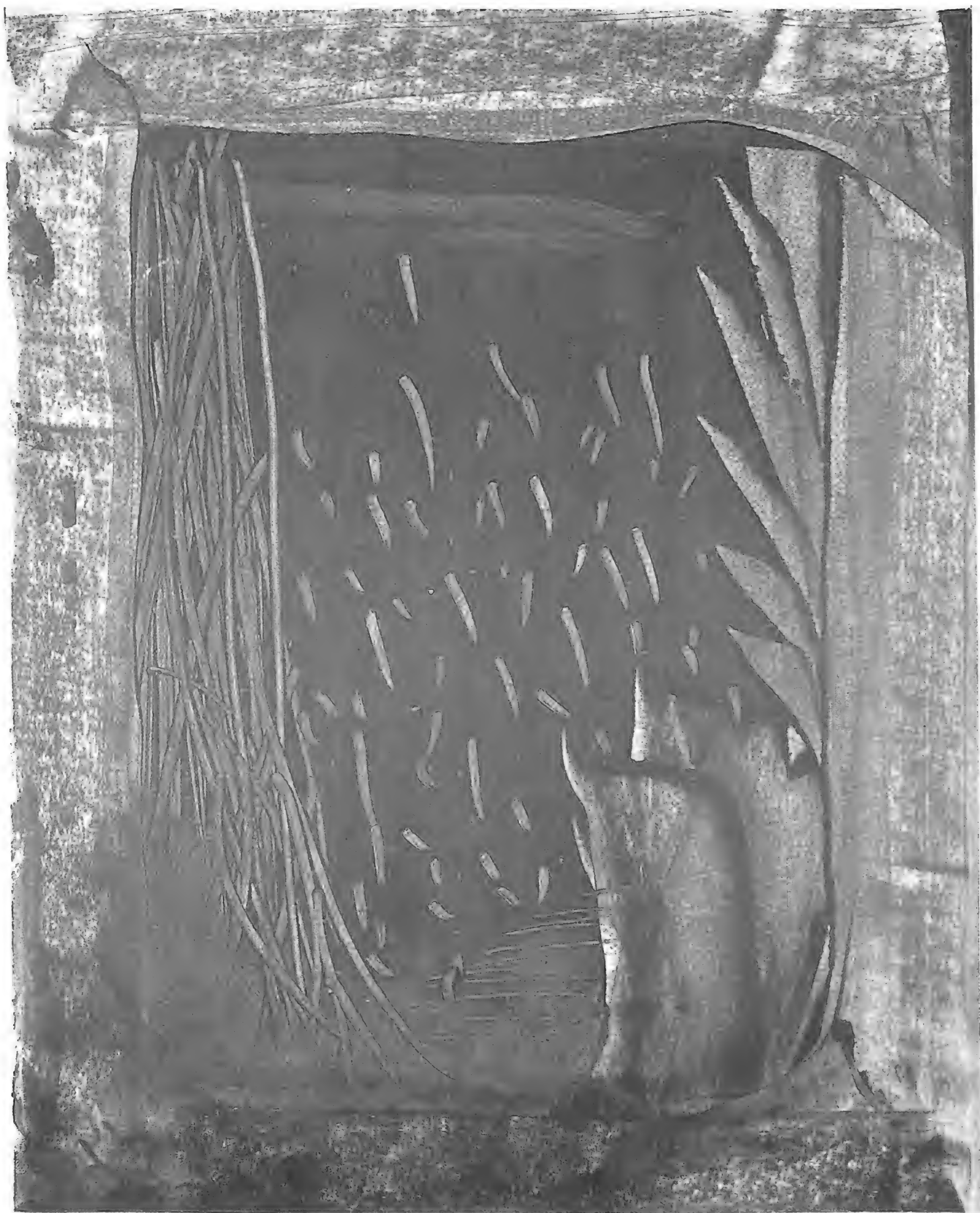
रोते-रोते बहू ने बेटे को पुनः चेतावनी दी।

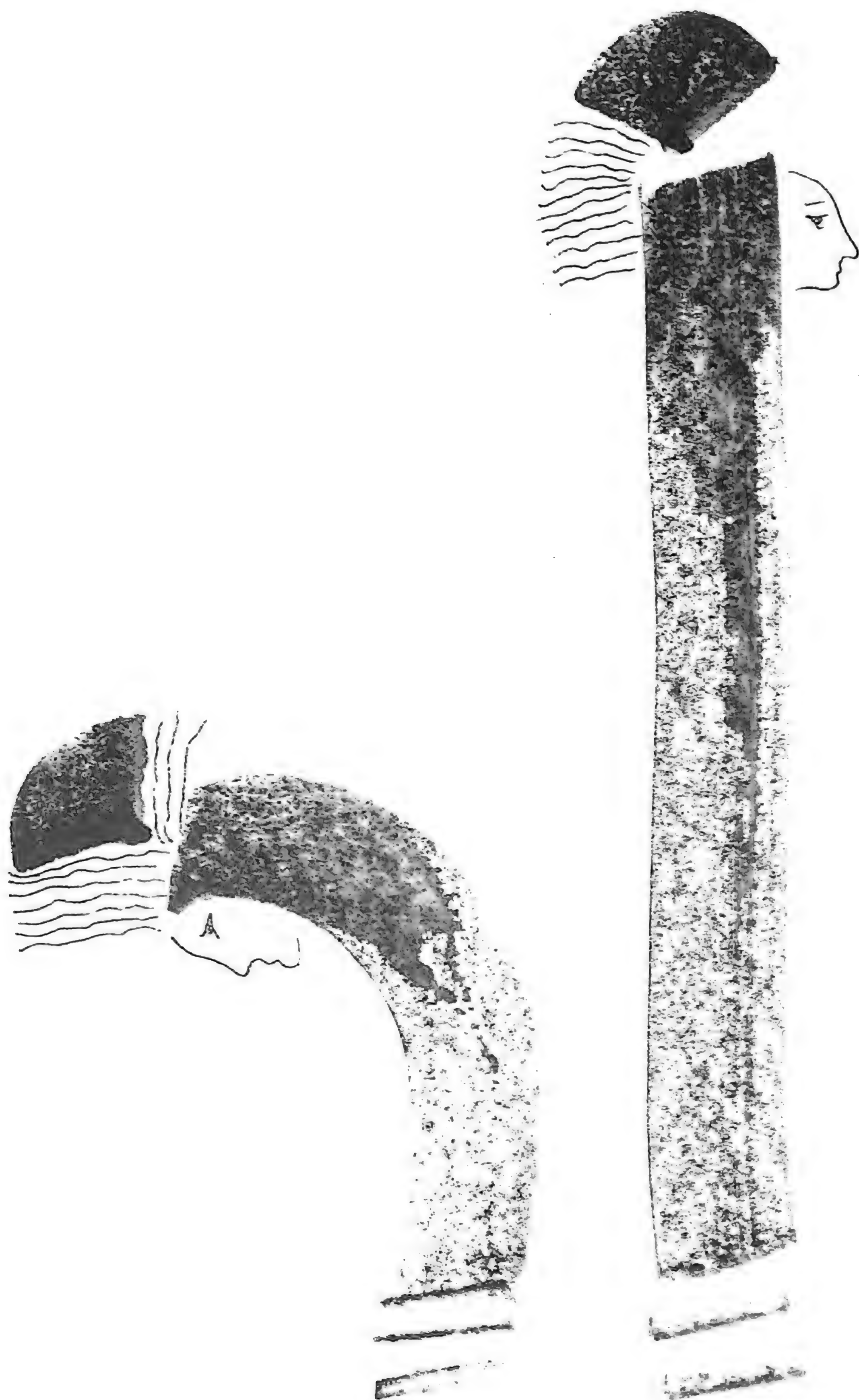
'चाहे कोई महादेवन पर हाथ रखवावे...महतारी-बाप की कसम धरावे—खबरदार जो मुँह खोला...' □

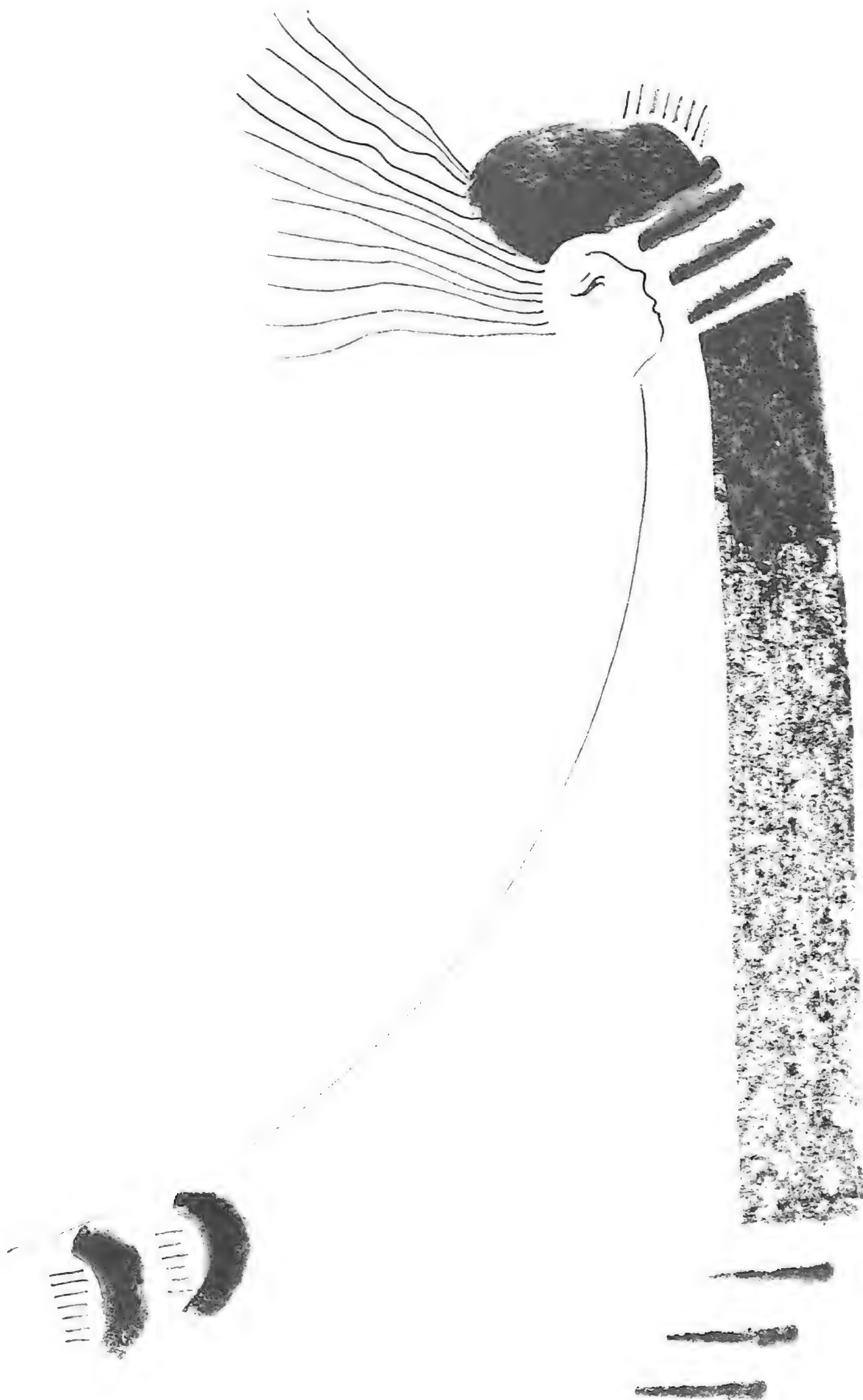
राजुला शाह

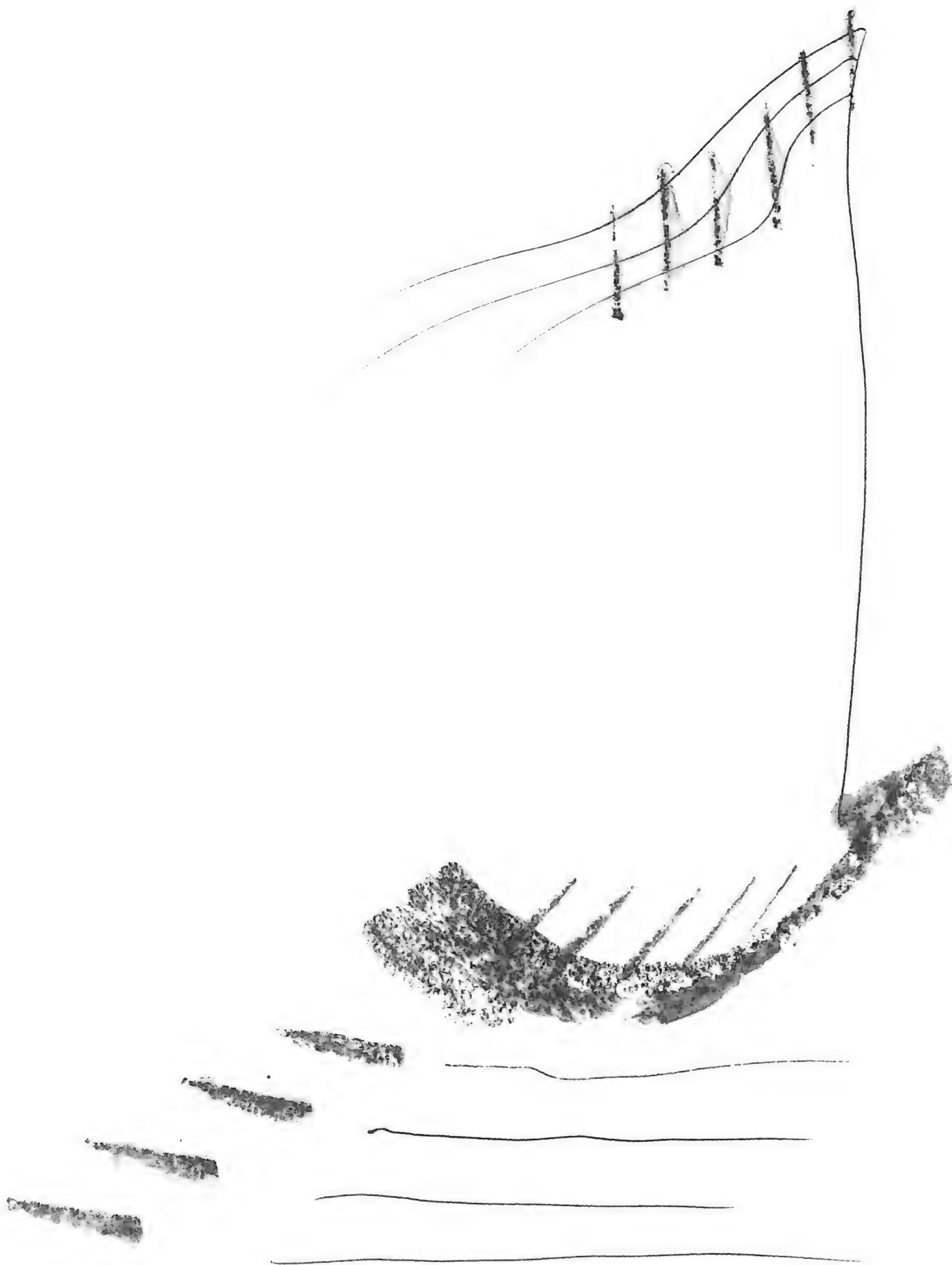
के

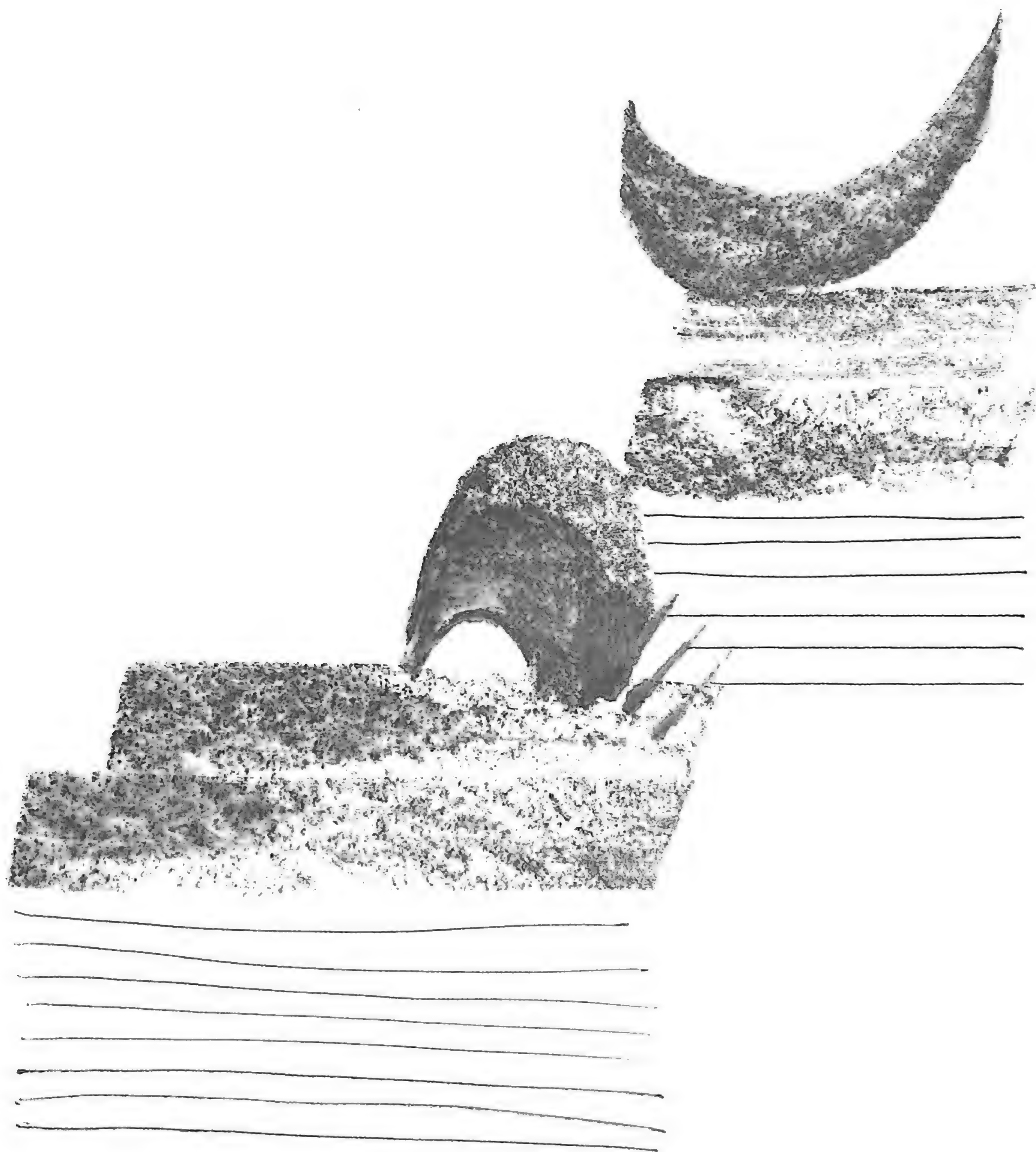
रेखांकन











कुँवरनारायण

अमीर ख़ुसरो

हाँ ग़यास, दिल्ली के इसी डगमगाते तख़्त पर
एक नहीं ग्यारह बादशाहों को
बनते और उजड़ते देखा है।
ऊब गया हूँ इस शाही खेल तमाशे से
यह 'तुग़लकनामा'–बस, अब, और नहीं।
बाकी ज़िंदगी मुझे जीने दो
सुल्तानों के हुक़्म की तरह नहीं–
एक कवि के ख़यालात की तरह आज़ाद,
एक पद्‌मिनी के सौंदर्य की तरह स्वाभिमानी,
एक देवलरानी के प्यार की तरह मासूम,
एक गोपालनायक के संगीत की तरह उदात्त,
और एक निज़ामुद्दीन औलिया की तरह पाक।

ग़यास एक स्वप्न देखता है, "अब्बा जान
उस संगीत में तो आपकी जीत हुई थी?"
"नहीं बेटा, हम दोनों हार गए थे।
दरबार जीता था!
मैंने बनाए थे जो कानून
उसमें सिर्फ़ मेरी ही जीत की गुंजाइश थी।
मैं ही जीतूँ
यह मेरी नहीं आलमपनाह की ख़्वाहिश थी...
ख़ुसरो जानता है अपने दिल में
उस दिन भी सुल्तानी आतंक ही जीता था
अपनी महफ़िल में...!"

भूल जाना मेरे बच्चे कि ख़ुसरो दरबारी था।

वह एक ख्वाब था–
जो कभी संगीत,
कभी कविता,
कभी भाषा,
कभी दर्शन से बनता था।
वह एक नृशंस युग की सबसे जटिल पहेली था
जिसे सात बादशाहों ने बूझने की कोशिश की!

खुसरो एक रहस्य था
जो एक छोटा सा गीत गुनगुनाते हुए
इतिहास की एक बहुत कठिन डगर से गुजर गया था।

छोटी-सी दुनिया

छोटी-सी दुनिया
बड़े-बड़े इलाके
हर इलाके के
बड़े-बड़े लड़ाके
हर लड़ाके की
बड़ी-बड़ी बंदूकें
हर बंदूक के बड़े-बड़े धड़ाके

सबको दुनिया की चिंता
सब से दुनिया को चिंता

समय संगतराश

हम यहाँ तक पहुँचे–कहते हैं मील के पत्थर।
हम यहाँ तक पहुँचे–कहती हैं स्मृति-शिलाएँ।
हम यहाँ तक पहुँचे–कहते हैं शिलालेख।
हम यहाँ तक पहुँचे–कहतीं देव-प्रतिमाएँ।

क़िलों में गढ़े
मक़बरों में चुने
महलों में ढले
मंदिरों में सजे
मस्जिदों में जड़े
कारागृहों में क़ैद

हम पीछे मुड़ कर देखते
पत्थर हो गईं रहस्य-कथाएँ।

हम आगे बढ़कर देखते समय की मेज़ पर
रखी हुई अनगढ़ शिलाएँ.....

किसी पुराकथा के मद्धिम उजाले में

कभी-कभी एक फूल के खिलते ही
उस पर मुग्ध हो जाता है पूरा जंगल
देखते-देखते फूल-ही-फूल हो जाता है
उसका तन-मन, उसका जल थल, उसका प्रति पल...

यह जिस आरण्यक का दूसरा हिस्सा है
उसके पहले हिस्से में फूल नहीं था
न उस पर कोई विमर्श,
केवल एक प्रश्न था
कि जिस बीज में निबद्ध है
पूरे वृक्ष की वंशावली
उसके विकास की तमाम शाखाओं प्रशाखाओं,
जातियों प्रजातियों, चक्रों कुचक्रों, क्रमों उपक्रमों से
होते हुए कैसे उसके सर्वोच्च शिखर तक पहुँच कर
बची रह पाती है
एक विनम्र सुंदरता!

किसी दिन
कुम्हलाती-सी आवाज़ में
उसने कहा होगा—अब मुझे जाना है...
विदा कहते ही
अंग-अंग अनेक उपमानों में बदल गई होगी
उसके जाने की एक-एक भंगिमा...
पहले वह गई होगी जैसे सुगंध,
फिर जैसे रूप,
जैसे रस, जैसे रंग,
फिर पंखुरी-पंखुरी बिखर गई होगी
जैसे एक साम्राज्य...

लेकिन जाते-जाते एक बार
उसने पीछे मुड़कर देखा होगा
किसी की कल्पनाओं में छूट गई
अपनी ही एक अलौकिक छवि,
और अपने से भी अधिक सुंदर कुछ देखकर
ठगी-सी खड़ी रह गई होगी
कहीं धरती और आकाश के बीच
एक अस्तव्यस्त छाया-चित्र
किसी पुराकथा के मद्धिम उजाले में...।

एक अधूरी रचना
लौटती है पृथ्वी पर बार-बार
खोजती हुई उन्हीं अनमनी आँखों को—
जो देखती हैं जीवन को जैसे एक मिटता सपना,
और सपनों में रख जाती हैं एक अमिट जीवन।

□

रमेशचंद्र शाह

लौ

बहुत भटका
देश और विदेश—पर, अब
गाँठ ज्यों खुद पर सवारी
आप ही अपना पितर बन
चार धामों सा
निरंतर
नप रहा हूँ।

लौ लगी सचमुच
तभी तो
पड़े हैं पीछे पवन उनचास
जिनकी आड़ लेकर
मैं उन्हीं को मुँह चिढ़ाता
कँप रहा हूँ।

साँझ है मेरे लिए अब
एक नन्ही आग का तप
राग का तप।
साँझ में ही दोपहर सा
खप रहा हूँ।

साक्षी हों देव, मानव
साक्षी हों लाख चौरासी
गगन-जल-थल विहारी
मैं—किया जो नहीं
जीवन भर
वही कर
अब रहा हूँ।

और, अब

दोपहर मेरी नहीं थी।
सुबह, जो मैंने बिताई नहीं, बीती
पुण्य सी किसके न जाने

और...अब
यह साँझ है।

धुन रही कबसे निरंतर
गाढ़ अंतस्तम, अलौकिक
दूर...फिर भी
हृदय के भी हृदय में
बजती हुई
यह झाँझ है।

ठौर है अब भी कहीं मेरे लिए ज्यों।
और...यह संचित व्यथा भी
कई जन्मों की
नहीं अब
बाँझ है।

हम

हम
सतत
आक्रांत
तट

हम
क्षुब्ध
विस्मृत
सार...!

तम-विवश
आलोक
हम

अभिशप्त
अ प रम्पार...!

द्वार

नहीं हो तुम
कुछ नहीं

यह शून्य ही
सत्ता
तुम्हारी

शून्य हो तुम
तेज हो तुम

तप्त
कण-कण की
अभीप्सा
दीप्त
संशय
द्वार!!!

एक दोपहर

हरी देहरी
हरा घर-बाहर...

क्या हुआ? ठिठका अचानक
पाँव
देहरी पर...तुम्हारे ?

धूप का झरना अचानक
गया नहला मुझे
घर-बाहर...।

नहीं सुनने की तरह मैं
सुन रहा तुमको
नहीं, घर को
नहीं...इस...चराचर को।
नहीं बोलूँगा अभी मैं
मैं नहीं,
यह हरा नभ हूँ।
हरा मस्तक
वृक्ष...।

चींटियाँ
चढ़तीं-उतरतीं...
भीत यह घर की
पुरानी पीठ पुरखों की...।

जुड़ गईं आँखें
जुड़ा मेला।
यही तो

लोक का परलोक का
आवागमन... खेला!

क्या हुआ?—कैसे अचानक
झर गई ज्यों धूल बरसों की
अचानक
धुल गए सब पाप।

खुल गया पिंजड़ा अचानक
आप अपने-आप।

नहीं दीखा था कभी
इतनी जगह, इतनी तरह मैं
नहीं दीखे थे कभी
इतनी जगह, इतनी तरह तुम
आज से पहले...।

धूप का झरना तुम्हारे शब्द भी
निःशब्द इस पल

झरो...झरते रहो
भरते रहो केवल

मौन में
मेरे।

□

चम्पा वैद

जुगनू सा चमकता प्रेम

जीवन की जगमगाती रोशनी में
देखे अनेक आलोक
जुगनू सा चमकता प्रेम
बिच्छू बूटी के घाव
पास उगी पालक से राहत पाते रहे
पगडण्डी पर चलते देखा
नीचे का पहाड़ पेडों से घिरा
नदी पर झुका
सड़कों पर चलते वाहन
आकाश में घूमते बादल
केले की प्रसन्नता
नीबू की शरारती आँखें
चिड़ियों की खाँसी
बच्चे स्कूलों से घर जाते
रोमांचित शरीर सुन रहा होता शहनाई
धूप का टुकड़ा धो रहा होता फ़र्श

संवाद में अँधेरा

गटर में लाल चोंच मार रहा है
एक हरा पक्षी
इसे यहाँ पहले कभी नहीं देखा
नीली चिड़िया दो दीवारों की मुँडेरों पर बैठी
फड़फड़ा चिल्ला रही है
अँधेरे में संवाद
संवाद में अन्धेरा
आँखें खोल रहा है।

एक हाँफती चिड़िया सी

भाषा के शीशे में अनुभव को देखती
बहती नदी में शब्दों को खोजती
हर स्वप्न में घर बदलती
हर रात
दिन की व्यर्थता को जीती
एक हाँफती चिड़िया सी
हर क्षण फड़फड़ाती हूँ

क्या प्रेम भी एक पंक्ति है

प्रेम कल का हो या आज का
प्रेम सरीखा बना रहता है
एक अमर पीड़ा सा
सूर्य की तरह उदित होते ही
पकड़ने पर फिसल फिसल जात्ता है
क्या प्रेम भी एक पंक्ति है या
पंक्ति के बीच की पीड़ा
जो खींचे जा रही है
क को ख की ओर
ख को क से दूर

□

लीलाधर जगूड़ी

सात गलियों वाला बाज़ार

पहली गली

कुछ मेरे मित्र प्रतिभाशाली 'मूड' उपजाने वाले पेशों में चले गए थे
कुछ सांस्कृतिक पत्रकारिता में
कुछ अपराध पत्रकारिता से जुड़ गए थे
यही वजह थी कि खबरों में लोग मरे पड़े थे
और विज्ञापन में जूता भी साँस ले रहा था

कुछ दोस्त बेचने वाले कुछ खरीदने वाले बनकर
अंतरराष्ट्रीय सौदा करवाने में जुटे थे
जो दिखते कभी न थे
पर रोज उनसे वेबसाइट पर बात हो सकती थी

तुरत कोई सुख पैदा कर तुरत उसे बेच देने में उन्हें महारत हासिल थी
सुख भी बासी किसी को उन्होंने पसंद न रहने दिया था
वे सारी आत्माओं को यक्ष-यक्षिणी में बदल डालना चाहते थे
आनंद में भी वे मजे के पक्षधर थे
उन्होंने लोकभाषाओं से हिंदी में आने वाले सारे सीत्कार-चीत्कार लेकर
अँग्रेजी में एक दूसरे के विरुद्ध चला दिया था
हिंदी बोलते ही एक बड़ा समाज बन जाता था
जो हिंदी में ही विज्ञापन गढ़वाता था
वह भी अंत में हिन्दियाना अँग्रेजी का गीत बन जाता था

मित्रों का मन्तव्य स्थापित हो गया और गन्तव्य सरल

उन्होंने जता दिया कि विज्ञापनों के लिए ख़बरें
और ख़बरों के लिए विज्ञापन पढ़ना ज़रूरी है
बता दिया कि शोक-संदेशों के लिए कार्टून का कॉलम चल निकला है
उपदेशों के लिए संपादकीय
ज़िलों से आने वाली विभागीय ख़बरों में
स्वरोजगार डाल दिया गया है
लपर-झपर को उन्होंने क्रांति और गड्डमड्ड को
परिवर्तन का नाम दे दिया

और अंत में यह सामाजिक बोध
कि पूरे अख़बार को सिर्फ़ कागज़ों के रूप में देखें
दैनिक इतिहास के रूप में नहीं।

दूसरी गली

विज्ञापन बनाने वाली टीम में कुल पाँच लोग थे
एक बाज़ार अनुसंधानक यानि लक्ष्य-खोजक संदर्भदाता, कॉपीराइटर, आर्टिस्ट कम विजुअलाइज़र
और एक कैमरामैन
इनकी अपनी-अपनी योग्यताएँ थीं
सूखे समाज में लहरें पैदा करने की

'मूढ़ों' को समझाना कि अपने मूड को समझो
मनःस्थितियों में वे कोई स्वाद बो देते
'मूड' उपजाने के लिए
आगे चलकर उस 'मूड' की याद दिलाने के लिए
वे केवल पुनरावृत्ति बो देते थे

उनका लक्ष्य सुदृढ़, आत्मनिर्भर, सुंदर स्त्री बनाना नहीं था
वे छंद, लय, संगीत और चित्रकला को कम्प्यूटर के हवाले करते हुए
किसी कन्या को कामिनी बना देते थे
उनका लक्ष्य सौंदर्य से सामान बेचवाना था
वे स्त्री की नहीं किसी 'ब्रांड' की पहचान बना रहे थे
पूरे ब्रह्मांड में
शरीर को दरी की तरह बिछाते हुए जिसे विश्वसुंदरी बेचती थी

ग़रीब खरीददार के मन में महँगी खरीददारी की
खुंदक पैदा करने के लिए
गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध वे कई आकर्षण लिए हाज़िर थे
उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि
वस्तु विनिमय ही विचार विनिमय है

वे चुपचाप हर चीज़ में घुस गए
पहाड़ में, रेत में, खेत में और अभिप्रेत में
वे घास और काई की तरह स्वाभाविक लगने के बजाय
जंग की तरह स्वाभाविक लग रहे थे
भारी पैसा लगाकर भी वे हर चीज़ में दिख जाते थे
सेंत-मेंत में

अपना पूरा दिमाग खपाकर
बिना दिमाग का वे एक बड़ा सा धड़कता हुआ दिल बना लाए
जो केक जैसा दिखता था
ये मेरे मित्र हैं इनसे सावधान रहने की ज़रूरत है।

तीसरी गली

पहले उन्होंने स्वस्थ लोगों को सूचना दी
फिर दुबले-पतले और मोटे-मस्त लोगों को सूचना दी
सूचना दी कि आपको कोई जानकारी नहीं है
लोग घबड़ाये यह जानकर कि उनको कोई जानकारी नहीं है
जो जानकार बहुत था वह यह जानकर घबड़ाया
कि उसको सही जानकारी नहीं है
जो निहंग था
बताया गया कि जानकारी उसका भी अधिकार है
जब उसे जानकारियाँ होने लगीं तो वह ज़्यादा दुखी रहने लगा
यह सब इस तरह हुआ कि हज़ारों साल की जानकारी को
जैसे शिकस्त दे दी गई हो

फिर बीच में एक अमूर्त्त शिल्प घूमता हुआ आया
जैसे शिल्प के साथ सूचना हो
या कि जैसे सूचना के शिल्प में कोई पारदर्शिता हो

और सावधानी इतनी गज़ब की कहीं भी
नहीं आने दी ख़बर के शिल्प में हुनर के शिल्प की बात

चमत्कार का अवतार टाइप की भाषा में एक खेत दिखाया गया
उसे जलउद्यान के नाम से पुकारते ही उसमें लहरें उठने लगीं
चवन्नी भर ढकी लड़कियाँ उसमें 'मूड' बोने लगीं
जो लहरों पर खेती करने के लिए पैदा की गई लगती थीं
पारदर्शिता के साथ-साथ उसमें कुछ नए स्नान बो दिए गए
कुछ मछलियों के, कुछ घोड़ों के, कुछ साँड़ों के, कुछ शेरों के स्नान भी
हाथियों की जल-क्रीड़ा के साथ बो दिए गए

बावजूद इन सबके पता नहीं कहाँ से
सारे अनुबंध और प्रतिबंध तोड़कर कुछ सिंघाड़े फूट आए
जलकुम्भी निकल आई
असावधानी के सिंघाड़ों की
और रुकावट के लिए खेद की तरह निकल आई जलकुम्भी की
जानकारी किसी को न थी

यह एक आकस्मिक सूचना थी जो सूचना के नहीं
प्रदूषण के शिल्प में थी
यह दृश्य वह था जिसे छिपाने के लिए सारे दृश्य बनाए गए थे
ठहरे सड़ते पानी को धक्के की, पतन की और ठोकर की ज़रूरत थी
नए का धक्का ही पुराने को बदलता है
ठोकर ही लहरें पैदा करती हैं
पतन ही झरना बन पाता है
पर इस समय जितना पतन है उतने झरने नहीं हैं आस-पास।

चौथी गली

एक दोस्त ने इंटरनेट पर कहा—स्त्रियाँ नहीं
साड़ियाँ सुंदर होती हैं
इतनी सुंदर साड़ियाँ जिनके पास हों वे भला
आत्महत्या की क्यों सोचेंगी
(महासागर से रत्न की तरह उछलकर एक नाम चमक उठता है झम्म से)
इस कंपनी की साड़ियाँ स्त्रियों को आत्महत्या से बचाती हैं

कीमत भी ज़िंदगी से महँगी नहीं
(और फिर अंतिम संदेश) :
ज़िंदगी से बहुत कम कीमत पर आप बहुत कुछ पा सकते हैं

मैं भूल जाता हूँ ब्रह्मकमल की तरह खिली हुई नाभियों को
जिनके कारण साड़ियाँ सुंदर लगती हैं।

पाँचवीं गली

एक विश्वसुंदरी रह चुकी का बयान आता है
—हमसे बेहतर मीडिया वाले जानते हैं
कि हम किस-किस मतलब के विज्ञापन हैं...

विज्ञापन वाले भाँप गए कि यह किस मतलब का सिंघाड़ा है
ठहराव छिपाने के लिए यह किस तरह की जलकुम्भी है।

छठी गली

फिर एक टीम ने हज़ार लोगों से पूछकर करोड़ों लोगों को बताया
कि आपकी जानकारी के लिए बता दें कि आपको कोई जानकारी नहीं है
फिर एक ज़रूरी सूचना के लिए
एक मूर्ति शिल्प के साथ दिमाग़ का भीतरी दृश्य घूमा
और बताया कि विश्व बाज़ार के लिए
एक नई 'सेल्सगर्ल' चुनी गई जो भारतीय है
आज उसी को पहनाया उन्होंने विश्वसुंदरी का ताज़

सातवीं गली

अंत में ऐसा लगा किसी भूतपूर्व खेत में
तालाब की काई लपेटे हुए किसी प्रेत सा निकला
'मूडी' का 'मूड'

पाँच आदमियों की टीम ने उसे समुद्र में डुबकी लगवाई

फिर उसे एक सनसनाती ताज़गी में बदल दिया
आलू जैसा दिमाग़ हेलमेट पहने हुए
नारियल जैसा बचा रहा थोड़ी देर
फिर रेत उछालता हुआ वह प्रेत
हरे जंगल के किसी पेड़ में बदल गया
पृथ्वी उसके कंधे पर तौलिए की तरह पड़ी थी
एक लड़की जलकुम्भी का फूल लिए हुए बगल में खड़ी थी
कभी वह लड़की, लड़का बनकर नहाती थी
कभी वह लड़का, लड़की बनकर नहाता था
इस तरह लिंगभेद को मिटाने का खेल जनाना-मर्दाना था
अर्धनारीश्वर का ऐसा तन बन जाना
वास्तविक यथार्थ का सेकेण्डों में दिख जाना...

ख़बर वाले जानते हैं यह किस मतलब का विज्ञापन है
विज्ञापन वाले जानते हैं यह किस मतलब की ख़बर है।

□

उदय प्रकाश

एक भाषा हुआ करती है

एक भाषा हुआ करती है
जिसमें जितनी बार मैं लिखना चाहता हूँ 'आँसू' से मिलता-जुलता कोई शब्द
हर बार बहने लगती है रक्त की धार

एक भाषा है जिसे बोलते वैज्ञानिक और समाजविद् और तीसरे दर्जे के जोकर
और हमारे समय की सम्मानित वेश्याएँ और क्रांतिकारी सब शर्माते हैं
जिसके व्याकरण और हिज्जों की भयावह भूलें ही
कुलशील, वर्ग और नस्ल की श्रेष्ठता प्रमाणित करती है

बहुत अधिक बोली-लिखी, सुनी-पढ़ी जाती,
गाती बजाती एक बहुत कमाऊ और बिकाऊ बड़ी भाषा
दुनिया के सबसे बदहाल और सबसे असाक्षर, सबसे गरीब और सबसे खूँखार,
सबसे काहिल और सबसे थके-लुटे लोगों की भाषा,
अस्सी करोड़ या नब्बे करोड़ या एक अरब भुक्खड़ों, नंगों और ग़रीब लफंगों की जनसंख्या की भाषा,
वह भाषा जिसे वक्त ज़रूरत तस्कर, हत्यारे, नेता, दलाल, अफसर, भंडुएँ, रंडियाँ और कुछ नौजवान भी बोला करते हैं

वह भाषा जिसमें लिखता हुआ हर ईमानदार कवि पागल हो जाता है
आत्मघात करती हैं प्रतिभाएँ
'ईश्वर' कहते ही आने लगती हैं अक्सर बारूद की गंध

जिसमें पान की पीक है, बीड़ी का धुआँ, तंबाकू का झार,
जिसमें सबसे ज्यादा छपते हैं दो कौड़ी के महँगे लेकिन सबसे ज्यादा लोकप्रिय अखबार
सिफत मगर यह कि इसी में चलता है कैडबरीज, सांडे का तेल, सुजूकी, पिजा, आटा-दाल और स्वामी जी और
हाई साहित्य और सिनेमा और राजनीति का सारा बाज़ार

एक हौलनाक विभाजक रेखा के नीचे जीने वाले सत्तर करोड़ से ज्यादा लोगों के
आँसू और पसीने और खून में लिथड़ी एक भाषा
पिछली सदी का चिथड़ा हो चुका डाकिया अभी भी जिसमें बाँटता है
सभ्यता के इतिहास की सबसे असभ्य और सबसे दर्दनाक चिट्ठियाँ

वह भाषा जिसमें नौकरी की तलाश में भटकते हैं भूखे दरवेश
और एक किसी दिन चोरी या दंगे के जुर्म में गिरफ़्तार कर लिए जाते हैं
जिसकी लिपियाँ स्वीकार करने से इंकार करता है इस दुनिया का समूचा सूचना संजाल
आत्मा के सबसे उत्पीड़ित और विकल हिस्से में जहाँ जन्म लेते हैं शब्द
और किसी मलिन बस्ती के अथाह गूँगे कुएँ में डूब जाते हैं चुपचाप
अतीत की किसी कंदरा से एक अज्ञात सूक्ति को अपनी व्याकुल थरथराहट में थामे लौटता है कोई जीनियस
और घोषित हो जाता है सार्वजनिक तौर पर पागल
नष्ट हो जाती है किसी विलक्षण गणितज्ञ की स्मृति
नक्षत्रों कीं शताब्दियों से निहारता कोई महान खगोलविद भविष्य भर के लिएं अन्धा हो जाता है
सिर्फ हमारी नींद में सुनाई देती रहती है उसकी अनंत बड़बड़ाहट...मंगल...शुक्र...बृहस्पति...
सप्तर्षि...अरुंधति...ध्रुव...
हम स्वप्न में डरे हुए देखते हैं टूटते उल्का पिंडों की तरह
उस भाषा के अंतरिक्ष से
लुप्त होते चले जाते हैं एक-एक कर सारे नक्षत्र

अपने ही लोगों से अपनी मुंडी बचाने के डर से
शैतान की माँद में छिपा हुआ एक गद्दार कहता है—
पिछले पचास सालों से इस भाषा में नहीं लिखी गई एक भी कविता
नहीं रचा गया कोई साहित्य

भाषा जिसमें सिर्फ कूल्हे मटकाने और स्त्रियों को
अपनी छाती हिलाने की छूट है
जिसमें दंडनीय है विज्ञान और अर्थशास्त्र और शासन से संबंधित विमर्श
प्रतिबंधित है जिसमें ज्ञान और सूचना की प्रणालियाँ
वर्जित हैं विचार

वह भाषा जिसमें की गई प्रार्थना तक
घोषित कर दी जाती है सांप्रदायिक
वही भाषा जिसमें किसी जिद में अब भी करता है तप कभी-कभी कोई शम्बूक
और उसे निशाने की जद में ले आती है हर तरह की सत्ता की ब्राह्मण बंदूक

भाषा जिसमें उड़ते हैं वायुयानों में चापलूस
शाल ओढ़ते हैं मसखरे, चाकर टाँगते हैं तमगे
जिस भाषा के अन्धकार में चमकते हैं किसी अफसर या हुक्काम या किसी पंडे के सफेद दाँत और
तमाम मठों पर नियुक्त होते जाते हैं बर्बर बुलडॉग
अपनी देह और आत्मा के घावों को और तो और अपने बच्चों और पत्नी तक से छुपाता
राजधानी में कोई कवि जिस भाषा के अन्धकार में
दिन भर के अपमान और थोड़े से अचार के साथ
खाता है पिछले रोज की बची हुई रोटियाँ
और मृत्यु के बाद पारिश्रमिक भेजनेवाले किसी राष्ट्रीय अखबार या मुनाफाखोर प्रकाशक के लिए
तैयार करता है एक और नई पांडुलिपि

यह वही भाषा है जिसको इस मुल्क में हर बार कोई शरणार्थी, कोई तिजारती, कोई फिरंग
अटपटे लहजे में बोलता और जिसके व्याकरण को रौंदता
तालियों की गड़गड़ाहट के साथ दाखिल होता है इतिहास में
और बाहर सुनाई देता है वर्षों तक आर्त्तनाद
सुनो दायोनीसियस, कान खोल कर सुनो
यह सच है कि तुम विजेता हो फिलहाल, एक अपराजेय हत्यारे
हर छठे मिनट पर तुम काट देते हो इस भाषा को बोलने वाली एक और जीभ
तुम फिलहाल मालिक हो कटी हुई जीभों, गूँगे गुलामों और दोगले एजेंटों के
विराट् संग्रहालय के
तुम स्वामी हो अंतरिक्ष में तैरते कृत्रिम उपग्रहों, ध्वनि तरंगों,
संस्कृतियों और सूचनाओं
हथियारों और सरकारों के

यह सच है

लेकिन देखो,
हर पाँचवें सेकंड पर इसी पृथ्वी पर जन्म लेता है एक और बच्चा
और इसी भाषा में भरता है किलकारी

और
कहता है—"माँ" !
□

ज्योत्स्ना मिलन

चिड़िया और जंगल

एक जंगल था
जंगल में एक चिड़िया थी
रोज़ रोज़
एक ही पेड़ पर बैठती थी
जबकि
सारा जंगल पड़ा था

कभी-कभी होता उसका घर
किसी पेड़ पर
या किसी टाँड पर
उसी पेड़ पर बैठी उसे
याद नहीं आता
कि कभी घर बनाया था
इसकी सबसे ऊँची डगाल पर
जितना होता
उससे अधिक नहीं होता उसका घर।

रात-दिन

अपने को
स्लेट की तरह थामे
खड़ी थी रात
सफेद लिखत की तरह
उड़ता
आ रहा था दिन
रात के अतल से।

छूटी हुई जगह

कढ़े हुए से
अधिक कढ़ी थी
छूटी हुई जगह।

सड़क

पता नहीं चला
गड्ढा सड़क में था
कि गड्ढे में थी सड़क
कूबड़ की तरह
उठी हुई।

वह

अपने केशों को
वस्त्र की तरह पहने
बैठी थी
घुटनों पर हाथ बाँधे
अपनी ही बाँहों से घिरी।

खेलते पेड़ की छाया

पेड़ के नीचे खड़ी हो रही हूँ
सोचकर
खड़ी नहीं हुई थी पेड़ के नीचे
चलते-चलते
जहाँ खड़ी हुई
वह जगह पेड़ की छाया थी
पृथ्वी पर खेलती
आसमान में खेलती पेड़ की छाया
पृथ्वी से पहले खेलती
उसकी देह पर
जैसे वह
फिसलपट्‌टी हो।

□

उदयन वाजपेयी

वह

1

वह अपने अभाव को डरते-डरते छूने की कोशिश कर रही है। वह न होने के अंतरिक्ष में मेरे स्पर्श को खोज रही है। वह मृत्यु की भूलभुलैया में मेरी आवाज़ के टुकड़े बीन रही है। वह अपने बच्चों की करुण आँखों में निःसंग तैर रही है। वह धूप की ओट में छिपी अँधेरे का इंतज़ार कर रही है। वह अँधेरे के पीछे चुपचाप खड़ी धूप की प्रतीक्षा कर रही है।

वह होने को इस तरह बुनने के बाद कि वह उसे विराम दे सके, न होने को इस तरह बुन रही है कि वह एक बार फिर हो सके।

2

वह आकाशगंगा में बहते-बहते मेरे स्वप्न के किनारे आ लगी है। मैं अपने प्रेम में बहता उसके अभाव में फैल गया हूँ चुपचाप। वह चमचमाती बालू पर लड़खड़ाकर चल रही है। अंतरिक्ष का सुनसान उसके पैरों की थापों से धीरे-धीरे काँप रहा है। उसके लंबे खुले बालों में सीपियाँ, शंख और घोंघे उलझ गए हैं।

□

हिमांशु जोशी

काला पानी : तीन चित्र

पहला चित्र

ये काल-कोठरियाँ
धुँधली धूलभरी,
अँधियारे के अलावा
जिनमें अब कोई नहीं रहता,
फिर ये चलते-फिरते साए
किनके हैं?

कोई स्वर नहीं यहाँ
वर्षों से वीरान पड़ी हैं ये,
फिर यह चीख कहाँ से
आ रही है?
कौन सिसक रहा है—
दीवारों के इन सायों में?
ये आहें, कराहें किनकी हैं?
अँधियारी रातों में
कौन तोड़ता है
दम यहाँ?
पाँवों पर झूलती
ये बेड़ियाँ किसकी हैं?

दूर—
गलियारे से दूर
बहुत दूर
काठ की उस
काली कोठरी में
नारियल की मोटी-मोटी
खुरदरी रस्सी के सहारे
कौन लटक रहा है?
यह झूलता शव किसका है?

तार-तार कपड़े,
सूखी खाल/बुझी आँखें/एक मानव देह,
नहीं, नहीं
अभी-अभी लटकाया गया
एक नर-कंकाल,
रात के अंधकार में जिसे
फटे चीथड़े की तरह
सागर की लहरों में चुपचाप
फेंक दिया जाएगा
मछलियों के जिबह होने के लिए

लाल मिट्टी से सनी
ये सफेद हड्डियाँ?
किसकी हैं ये हड्डियाँ ?
अभी तक भी
इन रीती काल-कोठरियों में
रहता है कोई
क्यों रहता है?
बुझी-बुझी कुछ आँखें
अभी भी क्यों झाँक रही हैं?

न जानें क्यों
क्यों?
जंग लगे
उन लौह-कपाटों को
छूता हूँ
उन दीवारों को सहलाता हूँ
जैसे कोई अपने ही
आत्मीय के शव को
अंतिम बार सहलाता है,
छूता है,
छू-छू कर देखता है।
उस मिट्टी को भी उठाता हूँ
जिसके कण-कण में
अभी तक भी
जीवन का स्पंदन है,
क्यों है?
इतने वर्षों बाद भी
ये चिंगारियाँ
अभी बुझी क्यों नहीं?
क्यों इनमें दाह है?
जी करता है,
मुट्ठी में भर कर,
बारूद की तरह छिड़क दूँ इन्हें,
उस शस्य-श्यामला
धरती पर,
जो अब बंजर हो गई है
जहाँ आदमियों के शिराओं में
अब रक्त नहीं बहता,
क्यों नहीं बहता?
कोई मरने के बाद भी
इन यातना-शिविरों में
जीवित कैसे है?
कैसे कोई
आँखें खोले भी अंधा,
साँस लेते हुए भी
शव मात्र है,
क्यों है?

दूसरा चित्र

माँ अब नहीं है,
तुम्हारी राहें देख-देखकर,
तुम्हें कोस-कोस कर
चल बसीं।

दादी उसी साल
गुजर गई थीं
जब तुम बेड़ियाँ पहन कर,
मुँह फेर कर,
चल दिए थे चुपचाप,
कभी न लौटने के लिए।

बावले से बूढ़े पिता
तुम्हारे पीछे-पीछे
अनाथ बच्चे की तरह दौड़ते,
हाँफते-काँपते
उसी क्षण मर गए थे,
जब तुम्हारी,
सजा का समाचार सुना था।

छोटे-छोटे असहाय बच्चे
गूँगे-से हो गए थे,
देहरी पर खड़े—
पत्थर की तरह,
चुपचाप
तुम्हें जाता देख रहे थे।

बँधी गठरी की तरह
जमीन पर धँसी
एक औरत को मरे,
अर्सा हो गया था।
पगली-सी
जिसे अपने विवेक की
तुला पर

कभी देश भारी लगता,
कभी
अपने अनाथ होते बच्चे।

अब चार—
नहीं, नहीं जैसे चालीस पीढ़ियाँ
गुजर गईं आज,
बच्चों के, बच्चों के बच्चे,
किसी किताब में जब
तुम्हारा नाम देखते हैं
तो सहसा उछल पड़ते हैं—
'मम्मी कभी हम भी
गए थे न कालापानी।
वहाँ हमें भी लगी थी न फाँसी!
वह रस्सी
हमारे गले के लिए थी न,
जो हमने
नारियल के रेशों को
कूट-कूटकर बनाई थी,
जेल की उमस भरी कोठरी में
अपने लिए।'

एक गहरा निःश्वास भरती
गूँगी माँ
ताजे फूलों की
एक पतली-सी माला,
प्रति वर्ष
एक धूमिल/धूलभरी
पुराने चित्र पर चढ़ा देती—
तुम्हारे मृत्युंजय
होने की स्मृति में!

तीसरा चित्र

जो गए
और
फिर वहीं रह गए,
उनके दुखों की थाह
कौन लेगा?

निर्जन द्वीप,
वीरान वातावरण,
विषैले जन्तु
दिन-रात गरजते काले बादल,
घनघोर वर्षा के बीच
सूरज जहाँ उगता तो है
पर उगता नहीं,
हवा बहती तो है,
पर बहती नहीं,
तट पर
टूट-टूट कर छटपटाती लहरें,
कुछ कहती तो हैं,
पर, कुछ कहती नहीं

दूर कहीं—
अपने घरौंदे-सा घर
अपने घर का कच्चा आँगन,
धूल भरी अपने खेतों की
कच्ची पगडंडियाँ,
घुटनों के बल चलते चहकते
अपने बच्चे,
शाम को घर लौटती
रम्भाती अपनी गाएँ
चहचहाती
अपने पेड़ों की चिड़िया
सब सपने में ही
दीखती हैं अब।

बच्चों की माँ,
आँगन पर खड़ी,
भीड़ भरी सड़कों पर
अपनी पनियाई आँखों से
क्या खोज रही है?

बच्चे,
अनंत प्रतीक्षा में हैं
उसकी
जो अब नहीं,
अब कभी नहीं
अब कभी भी नहीं
आ पाएगा उन निर्जन द्वीपों से,
जैसे मरने के बाद
कोई फिर लौट कर
घर नहीं आता।

□

अनामिका

प्रत्यभिज्ञा

क्या खुद मैं अपनी पड़ोसिन हूँ?
भीतर ताला खुलने की सी आवाज
आती है कभी-कभी,
कभी-कभी गलीचा उठाने की,
कभी-कभी गमले चले आते हैं धूप में
कभी-कभी अलगनी सिहरती है।
कुकर की सीटी बजती है कभी आधी रात को,
 प्लेटें खनकती हैं कभी
 घूँट-भरने तक की आवाज आती है
 लेकिन दिखाई नहीं देता कोई।
क्या जाने कितनी शताब्दियों से
 भूतों का डेरा है भीतर!
क्या खुद मैं अपनी पड़ोसिन हूँ?
क्या मैंने खुद से की है नमस्ते?
क्या मेरे दो हाथ जुड़े हैं कभी
अपने भीतर के उस 'मैं' की खातिर?
यही जाँचने के लिए मैंने भेजा
 एक बड़ी थाली में बैना
 (शकरपाड़े, नमकपाड़े, लड्डू और कुछ आदिम स्मृतियाँ)
बहुत देर बाद खुला दरवाजा,
 (होती रही 'खट्-खट्-खट्-खट्-खट्
 मेरे भीतर, मेरे बाहर)
काफी गहरी नींद से जगकर भक्खू-सी
 पूछने लगी कोई
 भर्रायी आवाज में–
 ''अरे, यह है क्या?
 अच्छा... ये संदेश...
 किस लोक का, किस सदी का और किसका?''

मेढ़की का जुकाम

पता नहीं–क्या बात है–एक छींक लगातार मेरा पीछा कर रही है।
सृष्टि का सबसे नक्कू आदमी
इसे एक दिन मेरे सबसे जतन से तहाए रूमाल की
तीसरी परत पर था छोड़ गया
चौथी कली के किनारे
जो काढ़ते-काढ़ते मेरा रेशम ही खत्म हो गया था,
चुभ गयी थी सुई चुट् से कानी उँगली में
और फ्रेम के बाहर उछल आया था
फूलों का टुइयाँ गुलदस्ता !
जब देखो तब मुझे सर्दी लगती रहती है।
कुछ तो है मेरे भीतर ऐसा
कि एक तिनके की गुदगुदी और धूल की एक छोटी कनी भी
हर लेती है मेरी सारी स्थितप्रज्ञता
और सच के संजीदा चेहरे के ऐन सामने ही
 अकबक् सी यों छींकती हूँ पटाक्
 कि हिल जाता है पुर्जा-पुर्जा!
यों तो मैं बहुत नेक हूँ–
नेक इतनी कि रोज पढ़कर इतनी हत्याओं का ब्योरा
धीरे से उठाती हूँ अखबार
और उसे चौके की शेल्फ पर बिछाकर

उस पर सजाती हूँ किचेनकिंग मसालों के डब्बे !
और नेक इतनी कि ऐन मेरे सामने के घर में
रोज पिटती है सतवंत और मुझे ऐन उसी वक्त याद आते हैं—
"दूसरे के गृह-कलह में मत पड़िए"...आदि आप्तवचन
और सुनहरे नुस्खे चमड़ी बचाने के!
सच पूछिए तो मेरी नेकी
पिण्ड छोड़ती है मेरा तभी
जब छींक पीछे पड़ती है और जाने किस बात पर अचकचाकर
मैं छींकती हूँ पटाक्।
इस अटपटे विश्व के गड़बड़झालों के खिलाफ
मेरी यह छींक ही तो है शायद मेरा एकलौता प्रतिरोध !
तब ही माँ इससे घबराती है;
जब छींकती हूँ तो कहती है—"ओहो, शतमजीव !"
सोचती है—छींक रही है बेटी—
क्या जाने कैसे बर्दाश्त करेगी दुनिया
क्या जाने इस पर क्या बीतेगी !

□

साहित्य और मानवीय स्थिति

चिन्तन

अशोक वाजपेयी

सबसे पहले तो इस पर ध्यान देना ज़रूरी है कि हम किस मुकाम पर साहित्य और मानवीय स्थिति पर विचार कर रहे हैं। एक तो बीसवीं शताब्दी का अंत हुआ या हो रहा है और एक नई शताब्दी की शुरुआत हो रही है : दो शताब्दियों के संधिस्थल पर हम खड़े हैं—एक से हमने पल्ला अभी झाड़ा नहीं है और दूसरी हमारी अभी पकड़ में आई नहीं है। बल्कि नई शताब्दी अभी आई ही कहाँ है कि हमारी समझ या पकड़ में आ जाए : हम अभी पिछली शताब्दी के विलम्बित उत्तरराग में ही मानों हैं। हमारी दृष्टि इस मुकाम पर एक प्रकार की उषा-दृष्टि ही हो सकती है—अधसोयी और अधजागी, आलोक के नए स्फुरण और आघात से पहले धुँधलके में, स्वप्नों के सचों में खुलने-ढलने के पहले के अनिश्चय में, अनेक स्मृतियों की ओस से ढँके प्रातः पुष्पों के स्थगित से प्रस्फुटन में हम न स्पष्ट याद कर सकते हैं, न स्पष्ट कुछ देख सकते हैं। हम न तो थके-हारे हैं और न ही किसी नई आशा से उद्वेलित ही हो पाए हैं।

दूसरे, बीसवीं शताब्दी में मनुष्य ने, संसार ने, उसमें सक्रिय शक्तियों ने जो किया है उसका कुछ बोझ की तरह और कुछ उपलब्धि की तरह हमारे साथ है। मनुष्य के इतिहास में शायद ही पहले कभी जाति, वर्ग और विचार के नाम पर इतने भयावह और बड़े नरसंहार हुए हैं जितने इस शताब्दी में हुए। स्वतंत्रता और समता के नाम पर इतना दमन भी शायद ही पहले हुआ हो। करोड़ों लोग संसार के विभिन्न भागों में शरणार्थी बनने और अपनी ज़मीन और परिसर, अपनी भाषाएँ छोड़ने पर मजबूर हुए। साथ ही अनेक साम्राज्यवादों और साम्राज्यों का अंत हुआ। स्वयं भारत ने, भले बँटकर, स्वतंत्रता पाई। मनुष्य के इतिहास में संभवतः सबसे अधिक देश स्वतंत्र हुए। सारे संसार में लोकशाही का विस्तार हुआ और सत्ता की जवाबदेही का भूगोल बढ़ा। अनेक आवाज़ों को, फिर वे पारंपरिक रूप से शोषित स्त्रियों, दलितों या अल्पसंख्यकों की हों, सुनने और उन पर ध्यान देने को अनेक समाज और अंतरराष्ट्रीय जगत् विवश हुए। विज्ञान और टैक्नालजी ने साधारण रोज़मर्रा की ज़िंदगी में अनेक सुगमताएँ सुलभ करा दीं : संचार, आदान-प्रदान, सूचना आदि की व्यवस्था इतनी विश्वव्यापी हो गई कि आज पहले की तुलना में सारे देश एक-दूसरे के पड़ोस में आ गए हैं। परिवर्तन की रफ़्तार इस शताब्दी में बहुत तेज़ हो गई और वह उसका लगभग केंद्रीय दर्शन बन गया। कई क्रांतियाँ हुईं लेकिन अगर बाद में या आगे जाकर वे परिवर्तन के मार्ग में रोड़ा बनीं तो उन्हें भी ध्वस्त और दरकिनार कर दिया गया। एक ओर हम विश्वग्राम के निवासी हो गए तो दूसरी ओर जीवन का हर आयाम विराट् हो गया है इतना कि रेलवे टाइमटेबिल हो या कि वैबासाइट पर प्रतिपल सुलभ जानकारी का प्रलय उसे समझ या सकेल पाना साधारण लोगों के बस की बात नहीं रही।

तीसरे, अगर साहित्य के संदर्भ में इस शताब्दी को देखें तो अनेक अंतर्विरोध दिखाई न देंगे। ग़नीमत है कि दुनिया और शताब्दियाँ इतनी साफ़-सुथरी और सुसंगत नहीं हो पाई हैं कि साहित्य के किसी काम की न रहें। ग़नीमत यह भी है कि बीसवीं शताब्दी भी साहित्य के लिए समरस-सुगठित समय नहीं रही। अगर एक ओर साहित्य को विचारधाराओं का उपनिवेश बनाने-मानने की कोशिश हुई तो दूसरी ओर उसकी अपने वैचारिक सत्ता और स्वायत्तता का आग्रह भी प्रबल हुआ। साहित्य को स्वतंत्रता, समता और न्याय की खोज की कारगर और विश्वसनीय विधा माना

गया और इसी कारण कई तानाशाहियों ने साहित्य पर सेंसर लगाकर उसका दमन करने की कुचेष्टा भी की। भाषा की अतिक्रांति साहित्य में हुई; विधाओं में और उनके बीच अनेक मौलिक प्रयोग हुए इस हद तक कि साहित्य निर्भाष और मौन होने तक पहुँच गया। आउशवित्स के नाज़ी यातनाशिविर की भयावह यंत्रणाओं के बाद कहा गया कि आउशवित्स के बाद कविता संभव नहीं और इस शताब्दी के एक प्रमुख चिंतक-लेखक का मत था कि साहित्य रचने के बजाय वियतनाम युद्ध में हिस्सा लेना अधिक मानवीय कर्तव्य है। लेकिन कविता आउशवित्स के बावजूद संभव हुई और अपने समय और समाज के अनेक वैचारिक संग्रामों में लेखकों ने अपने ढंग से शिरकत की—फिर वह रूस की समाजवादी क्रांति हो, भारत का स्वतंत्रता-संग्राम, यूरोप में फासीवाद के विरुद्ध संघर्ष आदि। साहित्य में संलग्नता के अनेक रूप उभरे : साहित्य गवाह है; साहित्य शामिल और हिस्सेदार है; साहित्य वैसा ही संघर्ष है जैसा अन्य कोई सामाजिक संघर्ष। यह धारणा भी इस दौरान कुछ अधिक स्पष्ट और दृश्य पर सक्रिय हुई कि साहित्य समानान्तर इतिहास है। यह दावा भी, अकाट्य साक्ष्य के आधार पर, किया गया कि बीसवीं शताब्दी में कई बार कुछ संस्कृतियाँ तक मनुष्य का साथ छोड़ गईं और विपथगामी हुईं लेकिन साहित्य मनुष्य का भरोसेमन्द साथी बना रहा है। साहित्य पर राजनीति और विज्ञान का इतना आतंक शायद पहले कभी नहीं रहा : उनके शोर-शराबे और आतंक के बीच साहित्य को अपनी अलग आवाज़ बनाए-बचाए रखने के लिए लगातार संघर्ष करना पड़ा। वह कभी चीख़ बना, कभी ललकार, कभी गाली, कभी प्रार्थना—पर हर हालत में उसने अपनी अद्वितीय आवाज़ और अपना, अनेक बोझों में लदा, सिर ऊपर उठाए रखा। यह शताब्दी शुरू हुई थी सार्वजनिक जीवन-व्यापार में साधारण की उठान से पर जल्दी ही हर वर्चस्वकारी क्षेत्र में साधारण हाशिए पर चला या ढकेल दिया गया। सिर्फ़ साहित्य ही वह क्षेत्र है जहाँ साधारण की महिमा बनी रही है बल्कि काफ़ी हद तक बढ़ी है।

चौथे, अगर हम हिंदी साहित्य के अपने प्रसंग में देखें तो बीसवीं शताब्दी खड़ी बोली के हिंदी का मुख्य माध्यम बनने और उसमें साहित्यरचना की पहली शताब्दी रही है। निरी इतिवृत्तात्मकता से शुरू कर हम उत्तर-आधुनिकता तक पहुँच गए हैं। संसार की शायद ही किसी भाषा ने सौ वर्षों के वक़्फ़े में अनुभव, विचार, अभिव्यक्ति और संवेदना का इतना बड़ा भूगोल पार और अर्जित किया हो। गद्य के असंख्य रूप विकसित हुए। बल्कि एक विशेष अर्थ में तो कविता के मुक़ाबले हिंदी गद्य की इतिहास में यह पहली ही शताब्दी है। अनेक नई विधाओं ने जन्म लिया जिनमें मुक्त छंद, गद्यगीत, गद्यकविता, रिपोर्ताज, डायरी, आलोचना आदि शामिल है। समय और समाज से सीधा संबंध साहित्य का केंद्रीय पूर्वग्रह इसी दौरान बना। हिंदी राजभाषा बनी बल्कि उसका छद्म किया गया। सत्ता में होने के अनुभव से विपन्न हिंदी का एक विचित्र रूप विकसित हो गया जो ऐसी खगभाषा है जो हिंदी के जन और उसके साहित्य दोनों से ही दूर है। एक अर्थ में हिंदी का 'राज' तो बढ़ा पर दूसरे अधिक क्षतिकारी अर्थ में उसका समाज संकुचित हो गया। हिंदी में पश्चिम-प्रेरित आधुनिकता का विकास हुआ पर साथ ही उसका प्रतिरोध करने वाली या कम से कम उसे संशोधित करने वाली भारतीय आधुनिकता ने भी रूपाकार लिया। अन्य अनेक भारतीय भाषाओं की ही तरह हिंदी विश्व भाषा और साहित्य परिवार में शामिल हुई और उसका पश्चिम से विशेषतः संवाद, भले ही इकतरफ़ा, इसी समय शुरू हुआ और आगे बढ़ा। साहित्य में भ्रष्ट और अवसरवादी राजनीति, विद्वेषकारी धर्मोन्माद, सर्वग्रासी बाज़ारियत आदि का प्रतिरोध कर पाने की शक्ति और हिम्मत भी आई। दुर्भाग्य से समाज में साहित्य की जगह और हैसियत सिकुड़ी भी। साक्षरता के प्रसार के बावजूद हिंदी समाज साहित्य और पुस्तकों से मुँहफेरा समाज बना रहा।

जिस धुँधली नज़र या कि उषादृष्टि से नई शताब्दी को देखने की बात शुरू में की गई है अगर उसी का सहारा लें तो नई शताब्दी की शुरुआत इस भयावह और बेराहत विचार से हो रही है कि मनुष्य अपनी राजनैतिक-सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति बदल सकता है पर स्वयं अपने को नहीं। मनुष्य की यह अपरिवर्तनीयता पिछली शताब्दी की अनेक महान् क्रांतियों के अंततः विफल हो जाने से प्रमाणित होती है। बीसवीं शताब्दी के मनुष्य ने अपना परिवेश, रहन-सहन, संचार-सम्प्रेषण, अभिव्यक्ति, जीवनपद्धतियाँ आदि सब बदल दीं पर अपनी आकांक्षाओं और दुःस्वप्नों से, अपनी तुच्छताओं और लालच से, अपनी घृणा और विद्वेष से मुक्त होकर वह नया मनुष्य नहीं बन सका जिसका आश्वासन कई क्रांतियों या विचारधाराओं ने दिया था। बल्कि इसी कारण इस समय संसार में एक तरह का वैचारिक सन्नाटा है। इस समय कोई विश्वव्यापी नया विचार नहीं है। कोई एक विचारधारा नहीं है जो अलग-अलग समाजों में नए स्वप्न पोस और संघर्ष के कोई अवसर खोज रही हो। अपनी दृष्टि या विचार को अपराजेय माननेवाले हैं और साहित्य-संसार को वैचारिक मित्रों और शत्रुओं में बाँटकर अपनी

अतर्कित युयुत्सा को पोसनेवाले भी हिंदी में कम नहीं हैं। पर बीसवीं शताब्दी के इस एक सबक को अब भूलना कठिन है कि संसार को समझने या बदलने के लिए कोई एक विचार नहीं हो सकता है। मनुष्य का अस्तित्व, उसकी भाषाएँ, धर्म और भूगोल, इतिहास और संस्कृतियाँ, उसकी जातीय स्मृतियाँ और आकांक्षाएँ बहुल हैं : यह बहुलता हमेशा से साहित्य का मूलाधार और एक तरह से उसका मूल आशय रही है। यह नहीं कि हर विचार सही है क्योंकि तब तो घृणा और उन्माद फैलाने वाले विचारों को भी वैधता मिल जाएगी। सौभाग्य से पिछली शताब्दी का एक और अनिवार्य पाठ यह भी है कि स्वतंत्रता, समता और न्याय मनुष्य के परम मूल्य हैं और जो भी इन मूल्यों के विन्यास, सत्यापन या कार्यान्वयन को आगे बढ़ाता है वह विचार मानवीय और स्वीकार्य है। ऐसा करना या कर पाना किसी विचारधारा की बपौती न है और न हो सकती है। साहित्य के आगे बढ़ने का यही अर्थ हो सकता है कि मनुष्य की स्वतंत्रता, समता और न्याय के बोध में, उसके प्रति सजगता और चौकन्नेपन में इज़ाफ़ा हो। इन मूल्यों को किसी कल्पित भविष्य के लिए स्थगित नहीं किया जा सकता। किसी अन्य उत्थान या प्रयत्न के लिए इन मूल्यों में किसी की बलि नहीं दी जा सकती यहाँ तक कि इस मूल्यत्रयी में से किसी एक की दूसरे या तीसरे या बाक़ी दो के लिए भी नहीं। बहुलता का मूलाधार भी इन मूल्यों के लिए अथक प्रयत्न ही हो सकता है : साहित्य न सिर्फ़ बहुलता के लिए बल्कि इन मूल्यों के लिए एक असमाप्य सत्याग्रह है। उसकी इस भूमिका में आगे भी कोई फ़र्क नहीं आने वाला है। यह साहित्य की मधुमती नहीं, मूलधर्मी भूमिका है।

बड़ी क्रांतियों के साथ संलग्न होकर या कई बार विचारधाराओं को अपने को उपनिवेश बनाने की इजाज़त देकर साहित्य ने बीसवीं शताब्दी में कई बार मुँह की खाई है और उसे क्रांति या विचारधाराओं ने बारहा हाशिए पर ठेल दिया है। इसलिए यह आशंका होना स्वाभाविक है कि शायद अब साहित्य कोई बड़ी सामाजिक-राजनैतिक भूमिका नहीं निभा सकता। तथाकथित इतिहास और विचारधारा का ही अंत नहीं हो गया है, यह भी कहा जा रहा है कि साहित्य की राजनैतिक-सामाजिक भूमिका का भी अंत हो गया है। अगर यह भूमिका किन्हीं पूर्वनिर्धारित महान् लक्ष्यों का अनुसरण करके ही निभाई जा सकती हो तो निश्चय ही ऐसी भूमिका का अंत होना ज़रूरी और वांछनीय भी है। राजनीति द्वारा दिग्भ्रमित किए जाने के बावजूद साहित्य ने राजनीति के बरक्स एक बड़ी भूमिका हमारे समय में निभाई है। वह भूमिका है प्रश्नांकन की। क्रांति, तानाशाही, धर्म, समाज, परंपरा, इतिहास आदि सभी पर साहित्य ने लगातार प्रश्न उठाए हैं और उनकी पर्याप्तता, सचाई, केन्द्रीयता आदि पर शंका व्यक्त की है। साहित्य ने यह किसी ऊँचाई से या रामझरोखे से सब कुछ को निरखकर उस पर फ़ैसला देने की सुरक्षित मानसिकता से नहीं किया है : उसने स्वयं को वेध्य रख-मानकर ही दूसरों पर उँगली उठाई है—उसकी प्रश्नवाचकता की आत्यन्तिक नैतिकता इस बात से निकलती है कि वह स्वयं अपने को उसके घेरे में लेने में नहीं हिचकता। इसीलिए इतालो काल्वीनो ने कहा था कि राजनीति को साहित्य से सिर्फ़ एक सबक सीखना चाहिए—अपने पर संदेह करना। साहित्य जीवन या साहित्य का सरलीकरण करने से बराबर इनकार और परहेज करता आया है। सचाई की जिस रंगारंग और जीवंत बहुलता से वह अपना जीवत्व पाता है किसी हद तक उसी में इस सरलीकरण का प्रत्याख्यान अंतर्निहित है। साहित्य की बुनियादी जटिलता शायद इसका आग्रह बारंबार करने में है कि चीज़ें, दुनिया और मनुष्य, संसार, जीवन और संबंध उतने सरल नहीं हैं जितना हम उन्हें, अपनी सुविधा से, समझते हैं। लेखक न तो इतिहासकार है और न ही कोई मसीहा—वह तो हमेशा अस्तित्व की खोज करने वाला है। यह खोज उसे अकसर सत्य के सुसंगत और सुगठित रूप तक नहीं सचाई के विसंगत, अंतर्विरोधग्रस्त और अराजक रूपों तक ले जाती है। साहित्य का एक संदेश हर समय यह भी है कि ''सत्य किसी के पास नहीं है और हरेक को समझे जाने का अधिकार है''। साहित्य का विवेक, 'विज़्डम', उसके अनिश्चय से निकलता है जैसा कि उपन्यासकार मिलान कुन्देरा ने कहा है।

साहित्य का सच सामान्यीकरणों में समाहित या उपसंहृत नहीं किया जा सकता क्योंकि वह ऐसा सच है जिसे उसके ब्यौरों और विशिष्ट रूपाकार में शामिल होकर ही पाया जा सकता है। उसके सारांश में प्रायः सार नहीं बच पाता। वह ऐसा सच भी है जिसे अपने सच होने पर निरंतर संदेह होता रहता है। कितने ही आत्मविश्वास और अहंकार से क्यों न बोले, हर सच्चा लेखक यह जानता है कि हालाँकि वह यथाशक्ति और यथासंभव जो बखान कर रहा या कह रहा है वह सच है, जैसा कि उसे दीखता और अनुभव होता है, पर कौन जाने वह अंततः सच है कि नहीं। अपने सच पर संदेह करते हुए भी वह उसका आग्रह करता है लेकिन उसे निर्विकल्प सच नहीं मानता। उसे पता है कि दुनिया में, साहित्य और भाषा में अनेक विकल्प हर समय संभव हैं।

विकल्पों की अनंत संभावना साहित्य का एक तरह से अध्यात्म ही है। जब राजनीति, व्यवस्था, धर्म, विज्ञान आदि विराट् विकल्प लोगों के सुख-दुख में काम नहीं आते तब साहित्य अँधेरे में मोमबत्ती की लौ की तरह कुछ रौशनी और कुछ गरमाहट देने का उद्यम करता है। साधारण और रोज़मर्रा के जीवन में भी गहरी सार्थकता, आध्यात्मिक आभा और मूल्यवत्ता संभव है यह विकल्प साहित्य ही समाज में सक्रिय रखता है। विराट् और लगभग अमानवीय लक्ष्यों के बरक़्स छोटे पर मानवीय लक्ष्यों का विकल्प। साधारण और रोज़मर्रा साहित्य में कभी पददलित नहीं होता और न ही रूढ़ि में बदलता है। पिछली शताब्दी से उपजी कई हताशाओं के कारण भले यह लगता हो कि मनुष्य के महान् स्वप्न साहित्य के भूगोल के बाहर हो गए हैं, पर सच तो यह है कि साहित्य ही वह मानवीय परिसर अभी भी है जहाँ सपने देखने और उम्मीद लगाने की ताब बची हुई है। साहित्य का प्रश्नांकन, विकल्प-संधान और आत्मसंदेह ही वे तत्व हैं जिनसे साहित्य अपनी मूल्यरचना करता है और निजी और अंतरंग को सामुदायिक और बहिरंग से अटूट जोड़कर अपनी अद्वितीयता अर्जित करता है। यह अद्वितीयता प्रथमतः और अंततः मनुष्य की अद्वितीयता की ही मार्मिक अभिव्यक्ति है।

यह बात याद रखने की है कि अन्य क्षेत्रों में कल्पना और यथार्थ का जो द्वैत और द्वन्द्व है वह किसी हद तक साहित्य में अतिक्रमित होता है। साहित्य मानवीय कल्पना की अब भी सबसे खुली और निर्बाध रंगभूमि है। वह अपने यथार्थ, अतियथार्थ, जादुई यथार्थ, अयथार्थ आदि को सब कुछ कल्पना से ही आकार देता है। साहित्य अपनी सचाई कल्पना से रचता है। यही कल्पनाशक्ति उसे मनुष्य की अतिजीविता का बराबर भरोसा दिलाती है। हम यह याद कर सकते हैं कि आजकल जिस 'वर्चुअल रीएल्टी' का बड़ा शोर और प्रभाव है, वह भी कल्पना की ही उपज है।

साहित्य भाषा की संरचना है और स्वयं भाषा मनुष्य का सबसे क्रांतिकारी आविष्कार है। पृथ्वी तो हो सकता है किसी विधाता या प्रकृति ने रची हो लेकिन उसे संसार में बदला है भाषा ने। संसार भाषा का परिणाम है। हमारे समय की यह विडंबना है कि भाषा पर सबसे गहरा संकट है बावजूद इसके कि जिस ज्ञान-विज्ञान का आज संसारव्यापी वर्चस्व है वह भाषा की ही उपज हैं। भाषा पर पहला संकट यह है कि उसके सर्जनात्मक रूपों को उसके सूचनात्मक रूप, शक्ति और प्रभाव में, विस्थापित कर रहे हैं। सर्जना में शब्द निरा तथ्य नहीं बल्कि स्मृति और अनुगूँजों से घिरी इकाई होता जिसकी ऐन्द्रिय उपस्थिति होती है जबकि सूचना में शब्द निरा तथ्य बनकर रह जाता है, अपनी ही स्मृतियों और अनुगूँजों से वंचित। सूचना आज अपनी विराट् और अत्यंत कुशल टैक्नालजी के माध्यम से जो विश्वग्राम बना रही है उसमें मानों देश और काल का लोप ही हो जाएगा : हम एक शाश्वत वर्तमान में रहने जा रहे हैं जिसे न तो अतीत की स्मृति होगी, न भविष्य का कोई आभास या आवश्यकता। भाषा पर दूसरा संकट उसमें बढ़ता शब्दसंकोच है। हिंदी में, और दुर्भाग्य से हर भारतीय भाषा में, ऐसे लोगों की संख्या बढ़ रही है जिनके लिए भाषा अब अस्मिता नहीं है और जो अपनी 'मातृभाषा' का प्रयोग 'अन्य भाषा' की तरह करते हैं। 'मातृ' का 'अन्य' में बदलना ही शब्दसंकोच का प्रधान कारण है। शब्दसंकोच निस्संदेह हमारी मानवीयता का भी संकोच है। भाषा की ऐन्द्रियता का क्षरण हो रहा है और हम बहुत तेज़ी से भाषा के रसिक नहीं उपभोक्ता बनते जा रहे हैं। भाषा में हमारी अकर्मकता अंततः हमारी नैतिक संवेदनहीनता, पहल के अभाव और परनिर्भरता का ही प्रमाण है। साहित्य का एक काम भाषा को सक्रिय रखना और उसे वहाँ ले जाना है जहाँ पहले वह न गई हो। एक ऐसे समय में जब मनुष्य अपने आध्यात्मिक निवास, अपने सामाजिक पड़ोस, अपने दार्शनिक परिसर आदि से लगभग बाहर कर दिया गया है, तब भाषा उसका घर है। कवि त्रिलोचन ने कहा है :

भाषा की लहरों में जीवन की हलचल है,
ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है।

इस बात को पहचानना ज़रूरी है कि भाषा की क्रिया और बल सबसे अधिक साहित्य में ही चरितार्थ होते हैं। अगर हम अपनी भाषा, अपनी पहचान और अंततः अपनी मानवीयता को बचाना चाहते हैं तो हमें एक समाज के रूप में साहित्य की ओर मुड़ना होगा। साहित्य हमारे लिए अब निरा मनोरंजन नहीं बल्कि सत्यापन का माध्यम है। हमारी जिजीविषा का वह सबसे ज्वलंत एसर्शन है। अगर हम अपनी मानवीय स्थिति के प्रति ज़िम्मेदार रहते हुए संसार में अपनी मानवीय उपस्थिति को दर्ज़ करना चाहते हैं तो साहित्य को उसकी उचित जगह देने के अलावा और कोई उपाय हमारे पास नहीं है। हमारी आत्मविश्वस्त छवि अपनी पूरी ऐन्द्रियता में साहित्य में ही उभर सकती है : दूसरों के लिए उतनी नहीं, जितनी स्वयं हमारे लिए।

मनुष्य सिर्फ़ समय में नहीं रहता है : वह समयातीत को छूने

और उसमें भी अपना घर बनाने की कोशिश करता है। मानवीय स्थिति और अस्तित्व एक साथ कालविद्ध और कालातीत हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि अगर साहित्य में राजनीति जैसी समय की पहचान है तो अध्यात्म की तरह समयातीत से जुड़ाव भी। मानवीय स्थिति में ऐसा कुछ भी नहीं है जो साहित्य के लिए तुच्छ या उपेक्षणीय हो जैसे कि उसमें ऐसा भी कुछ नहीं है जिससे आक्रांत होकर वह अपनी नैतिक वेध्यता और बहुलता की ज़मीन छोड़ दे। एक अर्थ में साहित्य मनुष्य की अदम्य नैतिक चेतना का ही उज्ज्वल आयाम है : वह हमें मानवीय स्थिति, संबंधों और संसार पर फ़ैसला देने से रोकता है। साहित्य हमेशा कहता है कि रुको, ठिठक कर सोचो कि तुम्हें फ़ैसला देने का क्या हक़ है क्योंकि हम सब अपने-अपने कीचड़ में सने हैं; कि हम सब मटमैले हैं; कि हमारी दुनिया मैला आँचल है; कि वह झीनी-बीनी चदरिया है जिसे हम सबने मैला किया है; कि "होता है शबोरोज़ तमाशा मेरे आगे।" साहित्य का एक स्थायी संदेश यह रहा है कि मनुष्य और उसके संसार, यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड की एक बड़ी बिरादरी है जिसमें कोई और ज़िम्मेदारी नहीं है "ज़िम्मेदारी है अपनी ही" और यह कि हम सब पड़ोसी हैं एक-दूसरे से बतियाते-झगड़ते हुए, फिर हम लोग हैं कि देवता, फ़रिश्ते कि लफंगे। मनुष्य की एकता का अर्थ है : 'किसी के लिए कहीं भी पलायन नहीं है।' साहित्य जब अपने स्वराज या जनपद का आग्रह करता है तो इसलिए नहीं कि उसे समय, समाज या इतिहास से कुछ लेना-देना नहीं है बल्कि इसलिए कि वह इनमें से किसी को भी अपने ऊपर बेजा कब्ज़ा नहीं करने देना चाहता। एक एकांतवास नहीं है—यह इन सबसे संवादरत रहते हुए अपनी ज़मीन पर अपनी शर्तों पर क़ायम रहने की ज़िद है। यह लोकतांत्रिक अपेक्षा है कि मानवीय स्थिति को देखने-समझने-बदलने की साहित्य, इतिहास, दर्शन, राजनीति, अध्यात्म आदि से अलग और अद्वितीय, विधा है और उसे अपनी स्वतंत्र इयत्ता मनवाने का अधिकार है। यह उल्लेखनीय है कि साहित्य एक ऐसा माध्यम है जिसने कभी किसी और की ज़मीन पर अनधिकार घुसपैठ नहीं की है, न किसी को अपना उपनिवेश बनाया है। आचरण की यह शुद्धता ही साहित्य को उसकी स्वायत्तता का मौलिक अधिकार देती है।

हमारे समय का यह एक केंद्रीय पूर्वग्रह रहा है कि हमारे समय में मानवीय स्थिति बेहद जटिल हो गई है और साहित्य-कर्म भी पहले की अपेक्षा कहीं जटिलतर। यह शंका करना वाजिब होगा कि हर समय अपने मनोबल को बनाए रखने के लिए दूसरे समयों से अपने को अधिक कठिन पाता-ठहराता है और इसलिए यह पूर्वग्रह उसी का एक आधुनिक संस्करण भर है। यह मानना कठिन है कि महाभारतकार व्यास के समय मानवीय स्थिति आज से कम जटिल थी या कि कबीर और तुलसी का मध्यकाल कुछ कम संकटापन्न था। यह दावा करना भी बेकार है कि व्यास, कबीर या तुलसी से, ग़ालिब या निराला से आज के लेखक का काम अधिक कठिन या दुर्धर्ष है। यह कहना शायद अधिक उचित और तथ्यसम्मत है कि साहित्य के लिए और मनुष्य के लिए कोई स्वर्णयुग नहीं होता और हर समय कुल मिलाकर कठिन और जटिल होता है। जिसे हम उपलब्धि की दृष्टि से स्वर्णयुग बाद में ठहराते हैं जब हो रहा होता है तो उसमें रहने वालों को उतना ही कठिन और असह्य लगता है जितना इन दिनों हमें अपना समय। भारी भक्ति और आस्था के बावजूद व्यास, कबीर या तुलसी को अपना साहित्य-कर्म जटिल ही लगता था।

इन दिनों भूमण्डलीकरण का बहुत शोर है और जिस तरह की सूचना-क्रांति की चपेट है उसमें लग रहा है कि साहित्य बिलकुल हाशिए पर चला जाएगा। साहित्य को मानवीय स्थिति के केंद्र में रहने का ऐतिहासिक अनुभव है भी नहीं। बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि साहित्य का बुनियादी और लम्बा अनुभव हाशिए पर रहने का ही है। इसलिए हाशिए पर जाने से साहित्य को विशेष क्लेश होने की कोई संभावना नहीं है। हम कितने ही एक-दूसरे से तेज़ गति से माध्यमों से क्यों न जुड़ जाएँ हमें अपने घर, पड़ोस और स्थान की ज़रूरत होगी। मानवीय स्थिति में आगे भी पवित्रता की जगह, जटिलता का सम्मान, उज्ज्वलता की संभावना, स्थानीयता का भूगोल, ऐन्द्रियता का पुनर्वास, उदग्रता का स्वप्नलोक और कल्पना की वसुन्धरा ज़रूरी होंगे। ये सभी साहित्य में अपनी समूची बहुलता, जीवंतता और विकलता में चरितार्थ होंगे। मनुष्य साहित्य के दरवाज़े बार-बार दस्तक देता रहेगा क्योंकि साहित्य ने हमेशा उसका साथ दिया है और कभी उसके साथ विश्वासघात नहीं किया है।

□

---

* हिन्दी साहित्य सम्मेलन : बंगलौर, मार्च 2000 में दिया गया व्याख्यान

साहित्य की पठनीयता बनाम पाठकीयता

यथासमय

सूर्य प्रसाद दीक्षित

भारत की प्रत्येक भाषा में लिखा गया साहित्य इन दिनों संकट की स्थिति से गुजर रहा है। साहित्यिक पुस्तकों का पठन-पाठन अब हमारी दिनचर्या का अंग नहीं रहा। आपा-धापी बहुत बढ़ गई है। इस गतिशील जीवन में प्रायः हर व्यक्ति पद और अर्थ की लालसा से प्रेरित है। पठन-पाठन के लिए जो इतमीनान चाहिए, अब वह नसीब नहीं। उत्तेजना के क्षणों में शुद्ध साहित्यास्वाद संभव ही नहीं है। इधर साहित्य का समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र, दोनों बदल गए हैं। अब वह स्वान्तः सुखाय तो रहा नहीं! भौतिक जीवन से परे होकर मुख्यतः पद-निवृत्ति के बाद भले ही कोई साहित्य के सहारे वक्त गुजारने का कार्यक्रम रचाए या धार्मिक पाठ-पारायण से परलोक बनाए! यों सक्रिय जीवन में इस दिशा में सर्व-सामान्य की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि साहित्य की उपयोगिता अपेक्षाकृत कम हो गई है। जब अन्यान्य माध्यम नहीं थे, तो मात्र साहित्य से ही ज्ञान प्राप्त होता था और मनोरंजन भी होता था। तब साहित्य को एक संपूर्ण विधा और शास्त्र माना जाता था। इधर विश्वकोषों और इंटरनेट के कारण ज्ञान का विस्फोट होने लगा है। इनके मुकाबले साहित्य से निकलने वाला ज्ञान बहुत हल्का पड़ जाता है। मनोरंजन के क्षेत्र में इलेक्ट्रानिक मीडिया अर्थात् टेलीविजन सर्वोपरि हो गया है। भाँति-भाँति के रोचक कार्यक्रम (साक्षात्) आँखों देखा दृश्य ! भले ही उनके कारण मनुष्य की मनःकल्पना या चिंतनाशक्ति क्षीण हो रही हो, भले ही आँखों और पीढ़ियाँ खराब हो रही हों! साहित्य की एक उपयोगिता जन-शिक्षा या प्रबोधन के क्षेत्र में महसूस होती थी। अब उसकी किसी को आवश्यकता नहीं रह गई है। इस समय का साहित्य केवल रचयिता को मनः तृप्ति देता है—''निज कबित्त केहि लाग न नीका।'' उसे कुछ दिनों तक सर्जक होने का सुख-संतोष मिलता है, लेकिन जन-संवाद न होने से फिर वह कुण्ठा में बदल जाता है।

वर्तमान व्यवस्था में साहित्य के पाँच प्रकार दिखाई दे रहे हैं :

1. सर्जनात्मक लेखन।
2. ज्ञान-विज्ञान से संबंधित विचारात्मक लेखन।
3. व्यावसायिक लेखन।
4. संचार माध्यमों द्वारा प्रसारित साहित्य।
5. लोक जीवन में प्रचलित जनपदीय साहित्य।

इनमें रचनात्मक लेखन की दशा-दिशा सर्वाधिक दयनीय है। कविता के स्थान पर फिल्मी कविता और मंचीय कविता ने अपनी फूहड़ उपस्थिति से पाठक के आस्वाद में ह्रास किया है। कविता की वाचिक परंपरा के नष्ट हो जाने के कारण आज कविता छापे के अक्षरों में खो गई। दूसरी ओर दलीय राजनीति ने उसे गाली और गोली का रूप दे दिया। कुछ बुद्धिवादियों ने उसे उत्तर-आधुनिकता, मिथक, अस्तित्ववाद जैसे चोंचलों से इतना विरूपित कर डाला कि उसका 'कवितापन' समाप्त हो गया। संगीत और छंदोविधान कविता के प्राण हैं। उनके न रहने से कविता जन-जीवन से बहिष्कृत हो गई। कहानी भी इस बीच अकहानी बन गई। किस्सा गोई को 'स्टोरी प्वाइजंन' कहा गया। कथाकारों ने तरह-तरह के कला कौतुक दिखाए। किसी ने चरित्र गायब कर दिए, किसी ने देशकाल को अनुपस्थित कर दिया। कोई कहानी निबंध जैसी, तो कोई डायरी शैली सी। सब में घुमाफिराकर एक ही प्रकार की विषय वस्तु। वह है—यथार्थ के नाम पर यौन क्रांति,

अर्थात् अपना-अपना पापबोध। इस बीच उपन्यास के साथ वही छेड़-छाड़ जारी है। नाटक की दुर्दशा कम नहीं हुई। प्रयोगवादियों ने इस पंचम वेद को भी 'ऐब्सर्ड' बना डाला। उसमें रंग कर्म आज हावी हो गया है। उसका मंचन तकनीकी तामझाम में खो गया है। रंग आलेख गौण हो गया है। वह जन-नाट्य न रह कर संप्रति राज्याश्रय के सहारे वातानुकूल प्रेक्षालयों में चलने वाली एक गंधर्व लोक-लीला है। जनता का नाटक अपना दम तोड़ रहा है। साहित्य समीक्षा मतवाद से ग्रस्त है या परीक्षोपयोगी कुंजियों में सिमट गई है। रचनाओं के मूल पाठ का ज्ञान घटता जा रहा है। पुस्तक-समीक्षाएँ मुहावरों में लिखी जा रही हैं। हिंदी का अपना साहित्यशास्त्र मुकम्मिल इतिहास, व्यावहारिक व्याकरण आदि अर्धविकसित है। लेखकों की भाषा का संस्कार विधिवत नहीं हो रहा है। शोधकार्य में भयानक आवृत्ति और तस्करी की प्रवृत्ति दिखाई देती है। वह आधुनिक कविता व कथा साहित्य में केंद्रित हो गया है। गद्य की अन्य विधाएँ पूर्णतः विकसित नहीं हो पाई हैं। स्वतंत्रता के बाद, विशेषतः हमारी साठोत्तरी रचनाएँ कोई निश्चित दिशा-दृष्टि नहीं दे पाई हैं। फलतः वस्तु और शिल्प, दोनों स्तरों पर यह साहित्य निरादृत हो गया। इस लेखन ने मोह भंग की इतनी आवाज उठाई कि आज उससे ही पाठकों का मोह भंग हो गया है। यह स्वाभाविक ही था। अब कविता-अकविता, नाटक-अनाटक बन जाएगा तो पाठक भी 'अपाठक' हो जाएगा। इन साहित्य सर्जकों ने पश्चिमी चकाचौंध से दिग्भ्रमित होकर हिंदी की जातीय संस्कृति तथा जनपदीय प्रकृति को पहचाने बिना तथा शब्द और कर्म में सामंजस्य स्थापित किए बिना जो स्थापनाएँ कीं, उसके परिणामस्वरूप साहित्य जन से दूर होता चला गया।

इसी समाज में **मैथिलीशरण गुप्त** की **'भारत-भारती', 'जयद्रथ वध'** जैसी कृतियाँ गाँवों के चौपालों तक सामूहिक रूप से बाँची जाती थीं। **प्रेमचंद** की कथा-कृतियाँ हर आम व खास को प्रिय थीं। बच्चन की **'मधुशाला', भगवती बाबू की 'चित्रलेखा'** के न जाने कितने संस्करण छपे। इस लोकप्रिय साहित्य से चिढ़कर हमारे बुद्धिवादियों ने एक ऐसे लेखन की पहल की, जिसे केवल उसके समानधर्मा बुद्धिजीवी ही समझ सकें। उन्होंने अपना जटिलीकरण किया और सम्प्रेषण के प्रश्न पर साफ कह दिया कि जिसकी गरज हो वह पढ़े। लेखक पाठकों के साथ समझौता नहीं करेगा। आखिरकार यही बौद्धिक दंभ उनको ले डूबा। 'जन' ने कविता, कहानी नाटक के अन्य विकल्प खोज लिए। फलतः साहित्य का जनाधार टूट गया। यद्यपि इन दशकों में साहित्यगत प्रयोग बहुत हुए हैं। बहुत बड़े परिमाण में साहित्य लिखा गया है और भाषा संवेदना की काफी संवृद्धि हुई है, किंतु पाठकीयता का 'ग्राफ' बहुत नीचे आ गया है। इसलिए कि पठनीयता में बहुत कमी आ गई है। किताबें छपती हैं, किंतु पचास करोड़ के हिंदी भाषी समाज में प्रायः पाँच-पाँच सौ प्रतियाँ। बड़ी से बड़ी कृति यदि पाठ्यक्रमों में न लगें, पुरस्कृत न हों तो उसका दूसरा संस्करण नहीं छप पाता। प्रकाशक केवल बाजारू किताबें छाप रहे हैं। ज्यादातर प्रकाशक रचनाकारों की कृतियाँ, ताकि सरकारी थोक बिक्री में सुविधा हो। प्रकाशन मुद्रण महँगा हो गया है पर उस लागत के अनुपात में किताबों के दाम इतने बढ़ गए हैं कि ग्राहक की क्षमता तथा नीयत उन्हें खरीदने की नहीं रही। पुस्तकों की वरीयता न होने के कारण फुटकर बिक्री बहुत कम हो गई है। इस भौतिकवादी संस्कृति में अब साहित्य का पठन-पाठन प्रतिष्ठा का प्रतीक नहीं रहा। जिन आलमारियों में पहले ग्रंथावलियाँ सजाई जाती थीं, अब वहाँ इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का प्रदर्शन किया जाता है। राज्याश्रय तो अंधे की रेवड़ी बन गया है। भौतिकता का ऐसा ज्वर और ज्वार आया हुआ है कि उसमें सब साहित्य लगभग तिरोहित हो गया है। एक साहित्यिक राजनीति लेखन-प्रकाशन और पठन-पाठन में भर गई है। विचार परक लेखन भी इन दशकों में बहुत आहत हुआ है। मानविकी, समाज विज्ञान, विज्ञान, तकनीकी विधि, चिकित्सा शास्त्र, कला, अभियांत्रिकी आदि से संबंधित मानक ग्रंथ यदा-कदा ही प्रकाश में आते हैं। हिंदी में स्नातक स्तर तक की ये पाठ्यक्रमीय पुस्तकें निजी प्रकाशकों की ओर से छापी जा रही हैं। सरकारी प्रकाशनों द्वारा प्रकाशित मौलिक या अनूदित ग्रंथ गोदामों में पड़े सड़ रहे हैं। फलतः अंग्रेजी के आधार ग्रंथ हिंदी जगत् में छाए हुए हैं।

संचार माध्यमों द्वारा प्रसारित साहित्य में इन दिनों हास्य-व्यंग की बहार आई हुई है। एक से एक धारावाहिक, रेडियो-नाटक और प्रहसन प्रसारित हो रहे हैं। इनका पुस्तकाकार प्रकाशन न के बराबर है। यह लेखन चूँकि आर्थिक दृष्टि से बहुत लाभप्रद है, इसलिए प्रतिष्ठित लेखक भी अपनी कृतियों के रेडियो, टी. वी. रूपांतरण के लिए बाध्य हैं। वे प्रायः 'मण्डी हाउस' की परिक्रमा करते देखे जाते हैं। पत्र-पत्रिकाओं का लेखन मुख्यतः पर्व त्योहारों से जुड़ा हुआ है। सैटायर, ललित निबंध, रिपोर्ताज आदि विधाओं में काफी प्रगति हुई है, लेकिन स्तर नहीं उभर पाया है।

लोक साहित्य इन दिनों कहीं ज्यादा उपेक्षित हुआ है। समस्त लेखन-प्रकाशन-उद्योग शहरों में सिमट आया है। गाँव उजड़ गए हैं। वहाँ लेखन पठन-पाठन का वातावरण नहीं रहा। 'दलित साहित्य' का नाम तो अवश्य दिया गया है, किंतु उनके बीच जाने का हौसला नहीं रहा।

इस बीच विकास हुआ है—व्यावसायिक लेखन का। रानू और राजवंश के उपन्यास लाखों की संख्या में बिक रहे हैं। बुक स्टाल्स अपराध साहित्य और त्रिकोणात्मक प्रेम संबंध वाली कृतियों से आक्रांत है। मध्य-उच्च वर्गीय महिलाएँ अपना खाली समय बिताने के लिए इन नशीली कृतियों का सेवन करती हैं और अपनी दमित इच्छाओं की पूर्ति करती हैं। तात्पर्य यह है कि साहित्य हाशिए पर आ गया है। इस समस्या पर समाज मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है। इसका समाधान विधवा विलाप करने से नहीं होगा। हमें विधेयात्मक विकल्प खोजने होंगे।

पाठकीयता की वृद्धि के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि साहित्य की पठनीयता का पुनः संस्कार करें। बेहतर होगा कि—

1. उदीयमान लेखकों के लिए सर्जनात्मक लेखन तथा वाचन के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए। अब यह भ्रम निवारण हो जाना चाहिए कि सृजन कोई खास व्यक्ति ही कर सकता है, जिस पर अल्ला-ताला मेहरबान होते हैं। लेखन एक प्रौद्योगिकी (तकनीक) है। इसे अभ्यास द्वारा अर्जित किया जा सकता है। नैसर्गिक प्रतिभा हो तो सोने में सुगंध आ जाती है। काव्य रचना के लिए आवश्यक है कि छंदों का रियाज कराया जाए और भाषा का संस्कार किया जाए। कथा लेखन के लिए वस्तु-विन्यास कला सिखाई जाए। नाटक के लिए रंग कर्म का प्रशिक्षण दिया जाए। समीक्षा हेतु व्यावहारिक समीक्षा का अभ्यास कराया जाए। यदि इस प्रकार का पाठ्यक्रम विश्वविद्यालयों के स्तर पर तथा साहित्य अकादमी के तत्वावधान में लागू कर दिया जाए तो लेखन का पुनरुद्धार अवश्यम्भावी है।

2. पाठकीयता की वृद्धि के लिए आवश्यक है कि स्थान-स्थान पर पाठक-शिविर लगाए जाएँ और जन संवाद स्थापित किया जाए। कविता का पुनः काव्यास्वाद लौटाने के लिए उनको संगीतबद्ध करने की जरूरत है। अच्छी रचनाओं को आडियो-वीडियो कैसेट में ढालकर प्रस्तुत करना होगा। वे अपनी श्रवणीयता के बल पर निःसंदेह अपना स्थान बना सकेंगी।

3. सस्ते और सोद्देश्य प्रकाशन की व्यवस्था की जाए। इसके लिए लेखकों सहकारी प्रकाशन बेहतर सिद्ध हो सकते हैं।

4. पत्र-पत्रिकाएँ किराए पर अधिकाधिक सुलभ कराई जाएँ। इस दिशा में लघु पत्रकारिता बहुत उपयोगी हो सकती है।

5. विचारपरक लेखन के क्षेत्र में अधिकाधिक संदर्भ ग्रंथों के प्रकाशन की आवश्यकता है। इस दिशा में विश्वकोष, संकलन और पाठ्यक्रमीय ग्रंथों के प्रकाशन की बड़ी आवश्यकता है।

6. हिंदी पाठ्यक्रमों के राष्ट्रीय स्वरूप का निर्धारण भी इस कार्य में बहुत सहायक होगा। पाठ्यग्रंथों का यदि राष्ट्रीयकरण कर दिया जाए तो पूँजीवादी प्रकाशकों का शोषण रोका जा सकता है, साथ ही पाठ्यक्रम निर्धारण में अपनाए जाने वाले हथकंडों पर भी रोक लगाई जा सकती है।

7. अगली शताब्दी में छापे के अक्षर संकटग्रस्त हो जाएँगे, इसलिए कम्प्यूटर बुक्स की बड़ी आवश्यकता है। इनके प्रस्तुतीकरण के लिए अभी से हमें व्यूहबद्ध होना होगा।

8. जन संचार माध्यमों से प्रसारित श्रेष्ठ कृतियों को स्थायित्व देने के लिए उनका लेखन-प्रकाशन आवश्यक है। इस संचार लेखन, जैसे पटकथा, संवाद, वार्ता, फीचर आदि का प्रशिक्षण भी अनिवार्य है।

9. शासन द्वारा साहित्य लेखन के लिए प्रोत्साहन देना बृहत्तर हित में होगा। आवश्यकता है कि प्रकाशन अनुदान, पुरस्कारों और लेखक वृत्तियों में वृद्धि की जाए।

10. हिंदी में न जाने कितने अल्पख्यात कवि और उनकी कृतियाँ प्रकाशनाधीन पड़ी हैं। इन प्राचीन नष्टप्राय कृतियों का प्रकाशन हमारा राष्ट्रधर्म है। इसके लिए पाठालोचन और संपादन का प्रशिक्षण देना अनिवार्य है।

11. हिंदी का लोक वाङ्मय बहुत समृद्ध है। यह लगभग 200 बोलियों में बिखरा हुआ है। यदि लोकगीतों, लोक कथाओं, लोक नाट्यों का सघन सर्वेक्षण एवं संकलन करके उन्हें सुनियोजित रूप से पुस्तकों और कैसेटों के माध्यम से उपलब्ध करा दिया जाए तो पाठकीयता और श्रवणीयता दोनों सुनिश्चित हो जाएँ।

12. हिंदी क्षेत्र के गाँवों-कस्बों में जो उपेक्षित जनपदीय रचनाकार पड़े हुए हैं उनकी रचनाओं को प्रकाश में लाना हमारा दायित्व है। उनमें अपनी धरती का 'नेटिव स्वाद' मिलेगा।

13. वर्तमान युवा पीढ़ी को साहित्य की ओर आकर्षित करने के लिए आवश्यक है कि हम उनकी मुख्य माँग 'कैरियर' निर्माण की दृष्टि से उपयोगी साहित्य का उत्पादन कराएँ। हिंदी भाषा

से जुड़ी व्यावसायिक संभावनाएँ अधिक हैं, जैसे—अनुवाद, दुभाषिया प्रविधि, पत्रकारिता, सृजनात्मक मीडिया लेखन, राजभाषा और कामकाजी हिंदी से संबंधित पुस्तकों की बराबर तलाश होती रहती है।

14. हिंदी को व्यापक परिप्रेक्ष्य देने के लिए तुलनात्मक भारतीय साहित्य से संबंधित लेखन को बढ़ावा देना होगा। हिंदी लेखन में अध्यात्मोन्मुखी वैश्विक चेतना भरनी होगी, तभी नवलेखन अपनी व्यापक पृष्ठभूमि का निर्माण कर सकेगा। इस प्रकार का साहित्य भारतीय राष्ट्रीय सौहार्द और भाषायी एकीकरण में सहायक होगा। साथ ही यह सुरुचि-ग्राह्य भी होगा।

इस प्रकार साहित्य के समक्ष विद्यमान संकटों का (यद्यपि दुस्साध्य, फिर भी संभव) समाधान निकाला जा सकता है। इसके लिए जहाँ प्रशासन को कटिबद्ध होना होगा, वहीं लेखक-पाठक को भी सहभागिता निभानी होगी। विभिन्न उपकरणों के बावजूद पुस्तकों का कोई दूसरा विकल्प नहीं है। पठन-पाठन मात्र व्यसन नहीं है बल्कि हमारे व्यक्तित्व विकास की वह एक अपरिहार्य आवश्यकता है। मानुस भाव या मानवीय सभ्यता की रक्षा के लिए पाठकीयता को बचाए रखना जरूरी है। □

गोलमेज

अनुवाद के जरिए साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन

अरुण कमल

भाषाओं की बहुलता उनकी अपूर्णता में निहित है। कोई भी पूर्ण नहीं है। सोचने का मतलब है बिना किसी उपकरण के, यहाँ तक कि बिना होंठ हिलाये, लिखना जहाँ अमर शब्द खामोश रहता है। पृथ्वी पर भाषाओं की विविधता हमें ऐसे शब्दों को बोलने से रोक देती हैं जो बोलते ही पूर्ण सत्य बन प्रगट हो जाते...।

—मलार्मे

अनुवाद पर बोलते समय अनुवाद से ही शुरू करना पड़ रहा है। ये पंक्तियाँ फ्रांसीसी कवि मलार्मे की हैं जिन्हें वाल्टर बेन्यामिन ने अपने निबंध 'अनुवादक के काम' में उद्धृत किया है। निबंध में ये पंक्तियाँ मूल फ्रांसीसी में हैं जिनका अँग्रेजी अनुवाद पाद-टिप्पणी के रूप में निबंध के अनुवादक ने दिया है। यहाँ उनका हिंदी रूपांतर दिया गया है। जैसा कि मलार्मे इस उद्धरण में बताते हैं, भाषाओं की अपूर्णता के कारण ही उनकी विविधता है। चूँकि भाषाएँ अपूर्ण हैं। इसलिए प्रत्येक भाषा का सत्य भी अपूर्ण अथवा खंडित है। इसीलिए प्रत्येक भाषा के सत्य को दूसरी भाषा में स्थानांतरित करने और फिर अपने-अपने सत्यों की तुलना करने की आवश्यकता होती है। इसीलिए सृजन के बाद भी सृजन का उपक्रम या उप-कर्म अथवा अनुवाद चलता रहता है। जिसे बेन्यामिन रचना का अगला जन्म कहते हैं। इसी लेख में बेन्यामिन भाषाओं के रक्त-संबंध की बात भी करते हैं—भाषाओं के केंद्रीय रक्त-संबंध की—जिसके कारण अनुवाद भाषाओं के पारस्परिक केंद्रीय संबंध को व्यक्त करने का काम करता है। वास्तव में भाषाएँ एक दूसरे से अपरिचित या अजनबी नहीं होतीं, बल्कि तमाम ऐतिहासिक सीमाओं या पृथकताओं के बावजूद पहले से ही एक दूसरे से जुड़ी होती हैं। उन्हें जोड़ने वाली चीज है कुछ कहने की आकांक्षा। यह जुड़ाव और यह रक्त संबंध दो भाषाओं की रचनाओं की तुलना से प्रगट होता है; परंतु दो रचनाओं की समानता केवल ऊपरी तौर पर और अस्पष्ट रूप से ही इसे प्रगट करती है। बेन्यामिन कहते हैं कि अनुवाद के जरिए यह समानता या रक्त-संबंध सर्वाधिक शक्ति और स्पष्टता के साथ अभिव्यक्ति पाता है। इस तरह अनेक भाषाओं को जोड़ कर एक वास्तविक भाषा में ढालने का प्रयत्न होता है। जॉर्ज स्टाइनर ने मॉडर्न वर्स ट्रांसलेशन नामक पुस्तक अपनी माँ को समर्पित करते हुए लिखा है—'माँ को जो अनेक भाषाएँ बोलती है, मगर अपनी जबान में'। अनुवाद के जरिए तुलनात्मक साहित्य पर बात करने का मतलब है अनेक भाषाओं को बोलना मगर अपनी जबान में।

किसी भाषा के साहित्य के विकास की आरंभिक अवस्था में दूसरी भाषाओं से होने वाले अनुवाद प्रायः अपनी भाषा को समृद्ध करने के उद्देश्य से ही किए जाते हैं। लेकिन इस समृद्धि को हासिल करने के पीछे भी यह अहसास तो रहता ही है कि अपनी भाषा अभी कम समृद्ध है। क्योंकि तुलना की जा सके ऐसा कुछ तो अपनी भाषा में अभी होता नहीं है। हाल ही में मैंने भोजपुरी में हवलदार त्रिपाठी सहृदय कृत कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद पढ़ा और इसके साथ ही छत्तीसगढ़ी में मुकुटधर पांडेय कृत अनुवाद भी। दोनों भाषाओं में ऐसा कुछ इधर का लिखा हुआ नहीं है। जिसकी तुलना कालिदास के 'मेघदूत' से की जा सके। भोजपुरी में मेघदूत का अनुवाद बिरहा छंद में हुआ है और निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह अनुवाद अत्यंत प्रभावशाली है। छायावाद काल के यशस्वी कवि मुकुटधर

पांडेय का अनुवाद भी सुगठित और मूल को उतारने में समर्थ है। लेकिन इनकी तुलना योग्य शायद अभी कुछ है नहीं इधर का लिखा हुआ इन भाषाओं में। फिर भी ये अनुवाद हुए। मुझे लगता है कि अन्य भाषाओं में भी इस तरह के प्रयत्न हुए होंगे। इनके पीछे पहला कारण तो है अपने वंश-वृक्ष की खोज, अपने को उस महान् उत्तराधिकार का अधिकारी मानना। दूसरा कारण है उस महान् रचना की बारीकी और कलात्मकता को आयत्त करना। प्रायः प्रत्येक भाषा अपनी आरंभिक अवस्था में यह कार्य करती है। और प्रत्येक भाषा में विकास के अनेक चरण पूरे करने के बाद भी यह अवस्था किसी न किसी रूप में विद्यमान भी रहती है। अपूर्णता तथा अतृप्ति का भाव। अँग्रेजी के सबसे आरंभिक अनुवादकों—डगलस, वायट, सरे तथा टेंडल—ने लैटिन, हिब्रू या ग्रीक से अनुवाद किए। और चौसर जैसे महान् कवियों ने मूल का अपनी भाषा में स्वांगीकरण भी किया। इस तरह दूसरी भाषाओं की श्रेष्ठ रचनाओं ने अँग्रेजी भाषा में भी उसी श्रेष्ठता को प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न की। उसी आरंभिक काल में अनूदित 'बाइबिल' आज तक अंग्रेजी भाषा और काव्य के एक शिखर की भाँति विद्यमान है। हिंदी में भारतेंदु ने अपने मौलिक नाटक लिखने के पहले तथा साथ-साथ दूसरी भाषाओं के नाटकों के अनुवाद किए। संभवतः उनका पहला नाटक है 'विद्यासुंदर' जो एक बाँगला नाटक का रूपांतर है और जैसा कि दूसरे संस्करण की भूमिका में बताया गया है, यह बाँगला नाटक भी संभवतः एक संस्कृत नाटक पर आधारित है। इस प्रकार हिंदी भी अपनी जड़ों को खोजते हुए बाँगला से होकर संस्कृत तक जाती है और इसी के साथ हिंदी नाटकों की यवनिका उठती है।

अँग्रेजी कवि-अनुवादक जॉर्ज चैपमैन ने होमर के अपने अनुवाद के कारण बताते हुए कहा है—'विथ पोएजि टु ओपन पोएजि' यानी कबित्त से कबित्त खुलता है। यह बात सभी अनुवादों और अनुवादकों के लिए सही है। जिस तरह लैटिन और ग्रीक और हिब्रू के आरंभिक अनुवादों से अँग्रेजी कविता का रास्ता खुला—कविता से कविता खुली—वैसे ही हिंदी में भी भारतेंदु तथा अन्य लेखकों द्वारा नाटकों के अनुवाद से नाटक का मार्ग प्रशस्त हुआ। स्वयं भारतेंदु ने कम से कम पाँच नाटकों के अनुवाद बाँगला तथा संस्कृत से किये। तुलनात्मक रूप से हम कह सकते हैं कि इन नाटकों के जरिए एक नयी समृद्धि हिंदी को मिली—हिंदी जाति को 'सौंदर्य का एक नया कलेवर मिला' (जैसा कि अँग्रेजी कवयित्री रोज़ेटी ने अनुवाद का उद्देश्य बताते हुए लिखा है) और साथ ही यह भी कह सकते हैं कि इन सभी नाटकों से सर्वथा भिन्न एवं युगांतरकारी नाटक 'अंधेर नगरी' मिला। 'अंधेर नगरी' की तुलना बाद में चल कर केवल ब्रेख्त के नाटकों से की जा सकती है। ब्रेख्त के नाटक जब पहली बार मैंने पढ़े तो सहसा दो भारतीय नाटकों की याद आयी, एक तो 'अंधेर नगरी' और दूसरी भोजपुरी में भिखारी ठाकुर लिखित 'गबड़घिचोड़'। 'अंधेर नगरी' अपने शिल्प और अंतर्दृष्टि में ब्रेख्त की शैली एवं दृष्टि का पूर्वालोकन सरीखा है तो 'गबड़घिचोड़' आश्चर्यजनक रूप से ब्रेख्त के नाटक 'खड़िया का घेरा' से कथ्य के स्तर पर समान। इससे लगता है कि जीवन एवं लोक में अपनी जड़ें होने के कारण ही इन तीन परस्पर अपरिचित एवं तीन भिन्न काल-खंडों के लेखक एक दूसरे के इतना निकट लगते हैं—एक केंद्रीय रक्त-संबंध जरूर है इनके बीच।

अनुवाद का एक मुख्य काम हमेशा ही अपनी भाषा के लिए समृद्धि लाना रहता है तथा उस अपूर्णता को दूर करना जो प्रत्येक भाषा में किसी न किसी पत्र की होती ही है। जब हमें लगता है कि हमारी भाषा में कोई तत्त्व विशेष नहीं है या कम है, भावों का भंडार, महसूस करने की क्षमता, अभिव्यक्ति के साधन तथा भाषा के वे उपकरण जिनके बिना हम सूक्ष्मता के साथ न तो जीवन को समझ सकते हैं न उसको प्रगट ही कर सकते हैं। अपूर्णता का यह अहसास ही अनुवाद के लिए उद्दीपन का काम करता है। जॉर्ज स्टाइनर लिखते हैं कि बॉदलेयर और मलार्मे ने एडगर एलेन पो से अतार्किकता एवं जादुई चमक का आयात किया जो फ्रांसीसी कविता में नहीं थी। दिलचस्प है कि खुद अंग्रेजी में पो की वैसी महत्ता न थी जो फ्रांसीसी में उन्हें मिली क्योंकि पो ने एक बिल्कुल नया तत्त्व फ्रांसीसी कविता को दिया। इस तरह बॉदलेयर कृत पो के अनुवादों ने फ्रांसीसी भाषा को वह 'खोयी हुई पूर्णता' (जैसा कि बेन्यामिन कहते हैं) हासिल करने में सहायता की और पूर्णता की यह खोज बॉदलेयर तथा मलार्मे से होती हुई दुनिया की प्रायः सभी भाषाओं तक पहुँची। इस प्रकार, बोर्खेस के शब्दों में—'पो ने जन्म दिया बॉदलेयर को, बॉदलेयर ने मलार्मे को, मलार्मे ने वेलरी को, वेलरी ने एडमंड टेस्ट को' और हम जोड़ सकते हैं कि फिर अमरीकी कवि रॉबर्ट लॉवेल को जिन्होंने बॉदलेयर के 'इमिटेशन्स' अथवा 'नकल' प्रकाशित कराए। इस तरह पो एक बार फिर बरास्ते फ्रांस अमरीका पहुँचे।

बॉदलेयर ने ही कहा था कि कवि सार्वभौम अनुवादक हैं क्योंकि वे ब्रह्मांड की भाषा का अनुवाद करते हैं—तारा, पेड़, पानी का मनुष्य की भाषा में अनुवाद। ऑक्तोवियो पाज ने इसे ही बढ़ाते हुए कहा कि हालाँकि मेरा उद्देश्य यह नहीं था, फिर भी एक कवि के रूप में अनुवाद करना ही मेरी नियति बना। इस तरह कवि 'सांस्कृतिक अनुवादक' हैं। संस्कृतियों का अनुवादक। एक संस्कृति को दूसरी संस्कृति तक पहुँचाने वाला डाकिया। यह प्रयत्न भी उसी अपूर्णता का अंत कर पूर्णता प्राप्त करने का प्रयत्न है। बीसवीं शताब्दी में एजरा पाउण्ड अपने अनुवादों के माध्यम से एक सर्वथा भिन्न चीनी संस्कृति को अंग्रेजी में ले आए और इसके फलस्वरूप स्वयं अँग्रेजी कविता के स्वभाव में किंचित् परिवर्तन आया। टी.एस. इलियट इस संबंध में कहते हैं, 'पाउण्ड के मूल काम एवं उनके अनुवाद को अलग-अलग करके देखना भूल होगी जिसका परिणाम होगा अनुवाद की प्रकृति मात्र के संबंध में उससे भी बड़ी भूल'। संक्षिप्तता, भावों का उद्वेग, और अनायास कथन ने, जो चीनी कविता की विशेषता थी, पाउंड एवं अँग्रेजी कविता को नया तत्त्व उपलब्ध कराया। पाउंड के अनुवादों के बाद अँग्रेजी कविता का विकास भी भिन्न तरीके से होने लगा। अब सही अर्थों में यह एक कॉस्मोपॉलिटन या सर्वदेशी कविता थी जो अनेक स्रोतों से शक्ति ग्रहण कर रही थी। इसी के साथ पूरी दुनिया के पैमाने पर काव्य-स्वभाव का अन्तर्राष्ट्रीयकरण भी हुआ। जैसा कि स्टाइनर कहते हैं, इलियट, पाउंड, अपोलिनाय, वेलरी, रिल्के, मायकोव्स्की, नेरुदा इन सबमें कुछ तत्त्व समान हैं जैसे भावना का तर्क, एक से संदर्भ बिंदु, एवं प्रतीकात्मक उपकरण। आधुनिक कवियों के बीच निजी संबंध भी बढ़े और वे एक-दूसरे से अदला-बदली करते हुए कार्यरत रहे। इन अनुवादों के कारण ही आज हम कह सकते हैं कि यूरोप की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं में आधुनिकता के आन्दोलन लगभग एक साथ तथा एक समान हुए। इसका एक विडम्बनापूर्ण कोण यह है कि प्रायः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कवि को अपनी भाषा में शुरू में गैर, विदेशी आदि कहा गया। रिल्के को भी गैर-जर्मन, योरोपी आदि कहा गया। बोर्खेस को भी गैरअर्जेंटानी गैर लातिनी वगैरह। शिम्बोर्स्का तक को गैर पोलिश बताया गया। क्योंकि इनकी कविताओं में बाह्य प्रभाव तथा बाह्य तत्त्व भी थे जिनके कारण इन्होंने अपनी-अपनी भाषा को नया संस्कार दिया।

हिन्दी में जब आधुनिक योरोपीय कवियों के अनुवाद प्रकाशित हुए तब सहज ही हिन्दी की तत्कालीन कविता की तुलना इनसे होने लगी। दिनकर, धर्मवीर भारती, केदारनाथ अग्रवाल के अनुवादों ने एक नयी कविता सामने प्रस्तुत की। बाद में नाजिम हिकमत के अनुवाद चंद्रबली सिंह ने किये, मायकोव्स्की के अनुवाद आए, नेरुदा, ब्रेख्त और लोर्का के। इन कवियों के अनुवादों ने हिन्दी की उस कविता को बल पहुँचाया जो प्रगतिकामी और स्पष्टतः राजनीतिक एवं मुखर थी। अब विदेशी और श्रेष्ठ विदेशी कविता को सामने रख कर हिंदी की उस कविता का पक्ष लेना आसान था जो जन पक्षधर तथा खुल्लमखुल्ला राजनीतिक थी। नागार्जुन, त्रिलोचन और केदार की प्रतिष्ठा में इन अनूदित कविताओं की भी अपनी भूमिका है। इसी तरह अज्ञेय, शमशेर, मुक्तिबोध तथा अन्य कवियों की कविताओं की तुलना विदेशी कविताओं से करने पर हिंदी को नये स्वाभिमान का बोध हुआ। ये कविताएँ किसी प्रकार कम नहीं थीं। बाद में रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, सर्वेश्वर, कुँवर नारायण आदि ने पूर्वी योरोप के कवियों के अनुवाद के माध्यम से नयी कविता के लिए भी सर्वानुमति अर्जित की। 'दिनमान' के अंतिम पृष्ठ पर विदेशी कविता का अनुवाद हर हफ्ते छपा करता था। इन अनुवादों को पढ़ कर हिंदी के सामान्य पाठकों में नए कवियों की कविताओं के प्रति भी आग्रह बढ़ा क्योंकि तुलना करने पर हिंदी कविताएँ कमतर न थीं। समकालीन जीवन की जटिलता और विडंबना को ज्यादा सूक्ष्मता से, ज्यादा भावप्रवण तरीके से (अथवा शुष्कता से) तथा अधिकाधिक नए बिंबों के माध्यम से प्रगट किया जा रहा था। बाद के कवियों ने भी अनुवाद का यह क्रम जारी रखा। शिवकुटीलाल वर्मा, विष्णु खरे, असद जैदी, राजेश जोशी, नीलाभ, मंगलेश डबराल, गिरिधर राठी, विजय कुमार आदि ने नए से नए विदेशी कवियों के अनुवाद के जरिए स्वयं हिंदी कविता में हो रहे परिवर्तनों के लिए व्यापक स्वीकृति का वातावरण बनाया। तुलना करने पर आज स्पष्ट है कि जिस तरह की गद्य-कविता आज हिन्दी में लिखी जा रही है उसके प्रसार तथा सार्वभौमिक स्वीकार के पीछे इन अनुवादों का भी हाथ है क्योंकि ये अनुवाद प्रायः गद्य-सारांश की तरह होते हैं। मूल भाषा में कविता में जो लय, नाद अथवा ध्वनि-संयोजन है वह प्रायः अनुवाद में अनुपस्थित रहता है। जैसे यह एक सामान्य जानकारी है कि रूसी कवियों ने कभी छंद नहीं छोड़ा। लेकिन उनके हिंदी अनुवाद बिना इस पाद-टिप्पणी के निचाट गद्य में किए गए। मरीना त्स्येताएवा की कविताएँ मूल में जिस संतप्त उन्माद की सृष्टि

करती हैं उनका कोई आभास अनुवाद में नहीं मिलता। इसी तरह ब्रेख्त में जो छंद है, बहुत सारे लय-संदर्भ हैं, लोक-मुहावरों का जो खेल है वह भी नहीं मिलता। स्वयं ब्रेख्त के शब्दों में उनकी दो सर्वाधिक प्रिय पुस्तकें (या लेखक) हैं—लूथर कृत जर्मन बाइबिल और रुडयार्ड किपलिंग। अनुवाद में ये सारे प्रभाव सर्वथा अनुपस्थित होते हैं। इसी प्रकार लोर्का जो अपने लोक-संगीत के लिए ख्यात हैं उनकी कविताएँ भी केवल शब्दों का ढेर भर लगती हैं। यानी बिम्ब तो आ जाते हैं, वक्तव्य भी, कथन या कथोपकथन भी—लेकिन जो कविता का प्राण-तत्त्व है वह नहीं आ पाता इन अनुवादों में। समकालीन हिंदी कविता ने जो रास्ता अपनाया वह कई बार इन अनुवादों के करीब जाता हुआ लगता है। हिन्दी कविता का कोई भी सजग पाठक आज इसे स्वयं देख सकता है। इसी कारण कई बार लोग कहते हैं कि समकालीन हिंदी कविता एक सी है या वह अनुवाद की भाषा में लिखी हुई है। अनुवाद की भाषा का संभवतः यही अर्थ उनके मन में होता है—अर्थपूर्ण परन्तु, ध्वनिहीन। तुलनात्मक रूप से हम कह सकते हैं कि समकालीन हिंदी कविता अपनी विषय-वस्तु के विस्तार, कथ्य की जटिलता एवं बिंबों की सूक्ष्मता के लिए विश्व-कविता के समक्ष रखी जा सकती है, जैसा कि पूर्वी योरोप तथा लातिनी अमरीका या अफ्रीका की अनूदित कविताएँ हमें बताती हैं। लेकिन एक बात जो हम इन अनुवादों से नहीं जान पाते वो है मूल में इनका ध्वनि-प्रभाव। समकालीन हिन्दी कविता में ध्वनि-तत्त्व उस तरह से समृद्ध नहीं है जैसा कि पूर्ववर्ती दौर में रहा है। बहुत हिचक के साथ कह रहा हूँ कि समकालीन हिंदी कविता कुछ-कुछ बहरी है। उसके कान मस्तिष्क के ज्यादा करीब चले गए हैं। यदि हम अनूदित कविताओं से समकालीन कविता की तुलना करें तो ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता। लेकिन यदि हम अनुवादों से परे जाकर उनके मूल स्वभाव के विषय में जानकारी लें तो संभवतः कुछ संदेह उत्पन्न होंगे। संदेह अनुवाद की प्रकृति, लक्ष्य अथवा कहें विश्वसनीयता को लेकर भी हो सकता है। सवाल यह भी हो सकता है कि क्या कविता का अनुवाद हमेशा मूल-सदृश लय अथवा छंद में होना ही चाहिए ? यदि नहीं तो क्या इस आशय की टिप्पणी भी नहीं होनी चाहिए कि अनुवाद की सुविधा के लिए ध्वनि-तत्त्वों को छोड़ा जा रहा है तथा मूल में ये ध्वनि-तत्त्व प्रमुख हैं।

यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो ये अनुवाद हमें मूल कविता से प्राप्त होने वाले एक प्रमुख तत्त्व से वंचित कर देंगे तथा हमारी भाषा उसी अपूर्णता एवं वंचित अवस्था में पड़ी रहेगी जिसे दूर करने के लिए हम अनुवाद करते हैं। पोलिश, हंगारी, जर्मन अथवा स्पेनी को हिंदी में ढालने के बदले जरूरी है कि हिंदी को ही पोलिश, हंगारी, जर्मन अथवा स्पेनी में ढाला जाए। इस संबंध में बेन्यामिन ने पनूवित्स (pannwitz) की टिप्पणी को अनुवाद-सिद्धांत की सबसे अच्छी टिप्पणी मानते हुए लिखा है—'हमारे अनुवाद गलत सिद्धांत पर आधारित हैं। वे हिंदी, यूनानी, अँग्रेजी को जर्मन में बदलना चाहते हैं जबकि होना चाहिए उल्टा। हमारे अनुवादों को अपनी भाषा के मुहावरों के लिए ज्यादा आदर है बनिस्पत कि विदेशी कृतियों की आत्मा के लिए।...अनुवादक की मूल गलती यह है कि वह अपनी भाषा की उसी अवस्था की हिफाजत करता है जिसमें उसकी भाषा पड़ी हुई है जबकि चाहिए यह कि वह अपनी भाषा को खूब जोरदार तरीके से प्रभावित होने दे। विशेषकर एक ऐसी भाषा से अनुवाद करते समय जो उसकी भाषा से बहुत दूर है उसे चाहिए कि वह भाषा के मूल तत्त्वों तक जाये, वहाँ तक प्रवेश करे जहाँ कृति, बिम्ब एवं नाद एकमेव होते हैं। उसे चाहिए कि विदेशी भाषा के माध्यम से अपनी भाषा को फैलाये और गहरा करे। अक्सर लोग समझते नहीं हैं कि यह किस हद तक संभव है, या किस हद तक किसी भाषा को बदला जा सकता है, या यह कि कैसे एक भाषा दूसरी भाषा से लगभग उसी तरह से पृथक् होती है जैसे एक बोली से दूसरी बोली। हालाँकि यह आखरी बात तभी तक ठीक है जब तक आप भाषा को गंभीरता से लें, हल्के ढंग से नहीं।'

कहने का मतलब यह कि इधर जो कविता-अनुवाद विदेशी भाषाओं के आये हैं उनके जरिए साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन वांछित सफलता नहीं देगा जब तक कि मूल कविता और मूल भाषा के स्वभाव को ध्यान में न रखा जाए।

इसी के साथ हम यदि भारतीय भाषाओं से अनूदित कविताओं के जरिए हिंदी-बाँगला-मराठी-पंजाबी-मलयालम-असमिया-गुजराती आदि भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करें तो पाते हैं कि इन भाषाओं का केंद्रीय रक्तसंबंध ज्यादा स्पष्ट और मुखर है। जीवनानन्ददास के प्रयाग शुक्ल कृत अनुवाद बतलाते हैं कि गाँव के नैसर्गिक सौंदर्य को कवि ने अप्रतिम लालसा और संवेदन के साथ अंकित किया है। हिंदी कविता में ठीक वैसा ही राग कुछ कम है। असमिया के हीरेन भट्टाचार्य की कविताओं के अनुवाद करते समय जो स्वयं मैंने कवि के साथ पापोरी गोस्वामी की

सहायता से किया था, मुझे लगा कि हीरेन दा ने जिस तन्मयता और विस्तार से धान के खेतों और अन्न के तैयार होने तक का वर्णन किया है, वह हिंदी कविता में आज भी दुर्लभ है। एक-एक क्रिया-व्यापार को, धान के पौधे की एक-एक कोशिका की बढ़त को—इतने शब्द हैं वहाँ कि मैं ठिठक गया। मलयालम कविता की बौद्धिकता हिंदी के लिए नयी नहीं थी, फिर भी इस आधुनिक बौद्धिकता को लौकिक, पारंपरिक बिंब-प्रणाली से संयुज्य करना नया और भिन्न अनुभव है। ऐसी विचार-तरलता हिंदी में कम है। पंजाबी के पाश की कविताओं के हिंदी अनुवाद पढ़ कर मुझे लगा कि क्रांतिकारी कविता जिस सूक्ष्मता और परिपक्वता तक जा सकती है, बौद्धिकता और किसानी ऐंद्रिकता को जिस आवेग से एक साथ धमन भट्ठी में मिला सकती है वह समकालीन कविता के लिए एक सीख है। प्रायः हर भाषा की कविता को पढ़ते समय कुछ-कुछ भिन्नता का बोध होता है, कुछ ऐसा जो हिन्दी में नहीं है। लेकिन तुलना करने पर यह भी लगता है कि समकालीन हिंदी कविता ने जो काव्य-व्यापकता, बिम्ब-बहुलता तथा भंगिमाओं की समृद्धि हासिल की है वह अनूठा और अप्रमेय है। एक बात और लगती है, चाहे जो भी कविता पढ़ूँ सब अपनी लगती है। लगता है जैसे अपना ही कोई खून बोल रहा है, सगोत्री कोई—थोड़ा अनपहचाना स्वर जैसे टेलीफोन पर बोल रहा हो, बस उतना ही अपरिचित, थोड़ी देर तक का।

भारतीय भाषाओं से होने वाले इन अनुवादों से, जो पिछले कुछ दशकों में बहुत बड़े पैमाने पर लघु पत्रिकाओं तथा साहित्य अकादमी एवं नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा किए-कराए गए, यह भी स्पष्ट हुआ कि हमारी भाषाएँ, सब तो नहीं पर अधिकांशतः, एक ही चरण से होकर गुजर रही हैं। एक ही ऐतिहासिक क्षण में रची गयीं ये कविताएँ मिल-जुल कर एक भारतीय स्वभाव की भी रचना करती हैं। इन पर विदेशी प्रभाव भी कमोबेश एक जैसे हैं। आधुनिकता का प्रभाव सभी पर लगभग एक जैसा रहा। फिर नक्सल आंदोलन के दौरान तेलुगु, बाँगला, पंजाबी, हिंदी, मलयालम में एक रंग की कविताएँ रची गईं जिनका संबंध विदेशी क्रांतिकारी कविता से भी प्रत्यक्ष है। वर्तमान में 'उत्तरआधुनिक' प्रभाव भी एक साथ ही प्रगट हो रहे हैं।

यदि हम भारतीय कविता की तुलना पाकिस्तान, बंगलादेश, नेपाल या श्रीलंका की कविता से करें तो फिर एक बड़े संयुक्त परिवार का बोध होता है। पाकिस्तान की उर्दू कविता एवं बंगलादेश की बंगला कविता तो भारतीय ही है अपने चरित्र और स्वभाव में, लेकिन अलग-अलग राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों के कारण एक ही भाषा में लिखी जा कर भी वे भिन्न कविताएँ भी हैं। श्रीलंका की सिंहली कविताओं का सबसे कम अनुवाद हिंदी में हुआ है। लेकिन जो भी मैं पढ़ सका हूँ उससे लगा कि हमारी और उनकी संस्कृति, स्मृति तथा वर्तमान में भी बहुत कुछ समान है। चीनी कविताओं के अनुवाद जब हिंदी में मूल चीनी से आए जिनमें आए छिंग के त्रिनेत्र जोशी कृत अनुवाद भी शामिल हैं तो यह कविता हमारे लिए उतनी पृथक् या दूर नहीं थी जितनी अँग्रेजी के लिए। वियतनामी कविताएँ, जैसे तो हू की, अपनी सरलता और भावप्रवणता से हमें बाँध लेती हैं। चीनी, वियतनामी, कोरियाई (दिविक रमेश के अनुवाद) और इंडोनेशियाई तथा जापानी कविताएँ योरोपीय कविताओं की तुलना में ज्यादा सहज-ग्राह्य एवं आत्मीय हैं, शायद अधिक भौगोलिक एवं सांस्कृतिक निकटता के कारण। तुलनात्मक रूप से देखने पर लगता है कि एक भारतीय कविता है, एक एशियाई कविता भी और जाहिर है एक विश्व कविता। अनुवाद-साहित्य के जरिए ही प्रेमचंद, गोर्की और लूशुन का तुलनात्मक अध्ययन इतने बड़े पैमाने पर हुआ। भारतीय भाषाओं के आरंभिक अनुवादों को पढ़ कर ही यह लगा कि 'भारतीय उपन्यास' जैसी कोई अवधारणा संभव है जो पाश्चात्य अवधारणा से भिन्न होगी। ये सारे उपन्यास ग्रामीण जीवन, किसान और खेती के बारे में हैं। कथा की भी अपनी मंथर शैली है जिसके सूत्र भारतीय कथा-साहित्य में भी मिल सकते हैं। इन अनुवादों के आने के पहले तक हम किसी ऐसी अवधारणा के बारे में सोच भी नहीं सकते थे। हाल के वर्षों में डॉ. नामवर सिंह का एक निबंध मैंने 'साखी' में पढ़ा था; गुजराती के डॉ. रघुवीर चौधरी ने भी भारतीय उपन्यास की अवधारणा पर विस्तार से विचार किया है तथा अन्य विद्वानों ने भी इस पर विचार किया होगा। अभी तक भारतीय भाषाओं में फलित साहित्य-आलोचना का सम्यक् अनुवाद देखने में नहीं आया है। जब यह उपलब्ध होगा तब निश्चय ही भारतीय आलोचना की भी एक स्पष्ट तस्वीर सामने आएगी।

अनुवाद साहित्य ने भाषाओं को और उन भाषाओं के बोलने वालों को एक व्यापक, सार्वभौमिक परिप्रेक्ष्य भी दिया है। आज हम केवल हिंदी या भारतीय या एशियाई के बारे में नहीं सोचते, हम पूरे विश्व के बारे में एक साथ सोचते हैं। आज सचमुच वह

स्थिति हो गयी है, अनुवाद-साहित्य के माध्यम से, कि लगता है कि होमर और व्यास-वाल्मीकि से लेकर सीमस हीनी, ङ्गूगी, ब्रॉड्स्की, गिंसवर्ग और हरभजन सिंह और पणिक्कर सब एक ही मेज पर, एक ही गोलमेज पर, बैठे हैं और एक ऐसा इम्तहान चल रहा है जहाँ सब एक दूसरे की कापियों में ताक-झाँक कर रहे हैं और एक की पंक्ति दूसरे में, दूसरे की चौथे में आ-जा रही है और सब उलझ-पुलझ कर खुश हैं। पास्तरनाक कह रहे हैं कि शेक्सपीयर का 'मैकबेथ' हमारे दॉस्तॉव्स्की के 'क्राइम एंड पनिशमेण्ट' से मिलता है। गोयथे कालिदास से कुछ पूछ रहे हैं। बोर्खेस पुराने अंग्रेज लेखक टॉमस ब्राउन से 'अर्न वेरियल' की बाबत कुछ पूछ रहे हैं। चेखव अपने नाटक के भीतर नाटक को ठीक ठाक करने के लिए शेक्सपीयर से बात कर रहे हैं और अपने नागार्जुन संस्कृत की लोक-धारा के कवि योगेश्वर को किनारे ले जाकर कुछ दिखा रहे हैं। और शमशेर जी थोड़ा हिचकते हुए ग़ालिब से मुखातिब हैं। और मोनार्ड डॉन किहोते को बीसवीं या इक्कीसवीं शताब्दी में फिर से लिख रहा है। और यह क्या कृतियों के पात्र भी गोलमेज पर बैठे हैं आकर जबर्दस्ती—यह रहा मैकबेथ और यह रास्कालनिकोव एक दूसरे को थपथपाते ! यानी अनुवाद-साहित्य ने सभी साहित्यों को एक करने का काम किया है। हर भाषा की अपूर्णता को प्रगट करने एवं उसे दूर करने का काम। आज एक भाषा का कवि दूसरी भाषा का भी कवि है। जैसा कि बोर्खेस लिखते हैं—'सम्भोग के चरम क्षण में सारे पुरुष एक ही पुरुष होते हैं। वे सब लोग जो शेक्सपीयर की एक पंक्ति दुहराते हैं वास्तव में शेक्सपीयर हो जाते हैं।' □

गुलिस्तान-ए-सादी : मानवीय प्रवृत्तियों का दस्तावेज़ | अवान्तर

नासिरा शर्मा

फारसी से मेरा परिचय कुल मिलाकर दस वर्षों का है। मगर ऐसा लगता है जैसे मेरी आत्मा का परिचय ईरान से बरसों पुराना है। उसका कारण शायद भारत-ईरान का एक ही बीज के दो दाने होना और मेरे परिवार का आध्यात्मिक वातावरण है।

बचपन में जब भी चोट लगती या आँखें आँसू से भर जाती थीं तब माँ की गोद और उनके स्पर्श से सारा दुःख दूर हो जाता था। बड़े हो जाने पर, संसार के अनुभवों के अथाह समंदर में, पड़ी चोटें निशान नहीं छोड़ती हैं बल्कि अंदर कहीं बहुत गहरे में मन मस्तिष्क पर घाव करती हैं जो न माँ के स्पर्श और न उनके वात्सल्य से परिपूर्ण गोद से भर पाता है। उस समय आवश्यकता होती है तथ्यपूर्ण अनुभवी उत्तरों के उन फायों की जो उस घाव पर रखा जाए और यह अहसास मुझे सदा गुलिस्ताने-सादी ने दिया है। जब भी अपने आस-पास अधिकारों का हनन, बेजा अंकुश, सामाजिक अत्याचार, संबंधों में चतुरता, बदलते व्यवहार, वह सारे व्यावहारिक मूल्य और अनुभव जो कागज और अक्षरों में कैद नहीं हो सकते हैं बल्कि खुली आँखों से देखकर महसूस किए जाते हैं। उस अहसास की तपकन और टीसन जब भी सच्चाई खोजती प्रश्न के रूप में उभर कर मुझे दुःख पहुँचाती तो मैं उन प्रश्नों के उत्तर गुलिस्तान में ढूँढ़ती, उसे पढ़ने में डूब जाती और कुछ देर बाद स्वस्थ एवं सहज हो जाती।

मुझे आशा है गुलिस्ताने-सादी की यह छोटी-छोटी हिकायतें आपको मानसिक और हार्दिक संतोष व सुख देंगी। बहुत-सी व्यावहारिक पेचीदगी का समाधान करेंगी।

सादी फारसी साहित्य के एक बहुमुखी साहित्यकार हैं जिन्होंने पद्य व गद्य को बराबर से अपनी प्रतिभा से सींचा है। पद में गज़ल, रुबाई मसनवी, बैत, शेर, कतअः को अरबी शब्दों युक्त फारसी गद्य के बीच बड़ी सुंदरता के साथ सजाया है। जो हिकायत की रोचकता को दुगुनी करती है। कभी-कभी कई हिकायतें एक संपूर्ण दास्तान को बयान करती हैं। सादी की भाषा-शैली आज की फारसी से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। उनके यहाँ शैली का प्रवाह, व्यापकता, सरलता के साथ अर्थपूर्ण गहराई का एक अपना स्थान है। जो बड़े-बड़े विद्वानों को इनकी पुस्तक 'गुलिस्तान' के आगे नतमस्तक करता है। कहा जाता है सादी 120 वर्ष जीवित रहे। उनके जीवनकाल को तीन भागों में बाँटा गया है। प्रथम 40 वर्ष अध्ययन में तल्लीन रहे। द्वितीय 40 वर्ष संसार भ्रमण और अनुभव से परिपूर्ण यात्राओं में गुजारे। अंतिम 40 वर्षों को उन्होंने लेखन में समर्पित किया। इसी लेखन में उन्होंने जीवन को अपने अनुभवों की कसौटी पर कसा है। इसी कारण जब भी पाठक गुलिस्तान को पढ़ता है तो उसकी अंतरात्मा थर्रा उठती है क्योंकि उसमें मानव प्रकृति का बड़ा दुर्लभ चित्र मिलता है जो सत्य है मगर कटु।

अपनी पुस्तक की भूमिका में सादी लिखते हैं कि, "एक दिन मैं और मेरा मित्र बाग में टहल रहे थे। फूल खिले हुए थे। बुलबुल चहचहा रही थी। इतना सौंदर्य देखकर मेरे मित्र ने अपना दामन विभिन्न मनमोहक फूलों से भर लिया। उसकी यह हरकत देखकर मैंने कहा, 'इन फूलों से मित्रता का क्या अर्थ जिनकी जीवन अवधि केवल दो-तीन दिन हो ? मैं सोचता हूँ एक ऐसे बाग की रचना करूँ जिसके हर फूल से तुम्हारी सदा के लिए मित्रता हो जाए।' यह सुनते ही मित्र ने दामन झटक दिया और मेरे

साथ हो लिया। उसके संपर्क में रहकर मैंने गुलिस्ताने (फूलों का स्थान) की रचना की। गुलिस्ताने-सादी जो पद्य और गद्य का समावेश है। आठ परिच्छेदों में विभाजित है। पहला परिच्छेद राजाओं की आदतों, दूसरा साधु-संतों के व्यवहार, तीसरा में संतोष की महिमा और प्रशंसा, चौथा चुप रहने की बड़ाई, पाँचवाँ युवाकाल और प्रेम का वर्णन ! छठा, वृद्धाकाल की निर्बलता, सातवाँ पालन-पोषण की महिमा, आठवाँ पारस्परिक संपर्क शिष्टाचार के प्रभावों का वर्णन मैंने किया है।''

कवि सादी, अताबक साअदज़गी बादशाह के काल में थे 610-69411213-1295 जिसके कारण उन्होंने अपने नाम शरफउद्दीन के पीछे सादी लगाया। उनकी दो पुस्तकें गुलस्तान व बुस्तान हैं, जो वर्षों बाद भी बच्चों को पढ़ाई जाती हैं जिसका अध्ययन बालकाल से प्रौढ़काल तक किया जाता है यही इस पुस्तक की महिमा का द्योतक है।

परिच्छेद–1

हिकायत[1] : (1) मैंने एक बादशाह के बारे में सुना है कि उसने एक कैदी को मृत्यु दंड दिया। कैदी निराशा की पराकाष्ठा पर पहुँच कर जो भी मुँह में आया बकता चला गया। उसने बादशाह को बुरा भला कहा और गाली दी, कहते हैं कि जो अपने जीवन से निराश हो जाता है उसे किसी प्रकार का भय नहीं रहता है जो दिल में आता है निर्भय होकर कह देता है :

बैत : *वक्ते जरूरत चू नमान्द गुरीज़*
दस्त बेगीरद सरे शमशीर तीज़

(आवश्यकता पड़ने पर जब माँगना भी मुमकिन नहीं होता है तब आदमी तेज़ धार की तलवार को हाथों से पकड़ लेता है।)

शेर : *इजा यइसल इन्सानु ताल लिसानुहु*
क सिन्नोरि मग़्लूबिन युसुलू अल लकल्बि

(इंसान जब निराश हो जाता है तो उसकी जबान खुल जाती है जैसे भयभीत बिल्ली कुत्ते पर आक्रमण कर देती है।)

बादशाह ने पूछा, ''यह कैदी क्या कह रहा है ?''

सज्जन मंत्री ने कहा कि, ''बादशाह सलामत ! वह यह कह रहा है कि अच्छे वह हैं जो गुस्सा पी जाते हैं और लोगों को क्षमा कर देते हैं।'' बादशाह को यह सुनकर कैदी पर दया आ गई और उसको मृत्युदंड से मुक्त कर दिया। दूसरा मंत्री जो इस मंत्री का विरोधी था यह देखकर बोला, ''हमारे सहकर्मियों को यह शोभा नहीं देता कि वह दरबार में सच बोलने के अतिरिक्त कुछ और कहें। उसने वास्तव में बादशाह सलामत को गालियाँ दी हैं और अनुचित बातें कही हैं।''

यह सुनकर बादशाह रुष्ट हो गया और कहने लगा, ''मुझे इस सत्य से जो तुमने बोला है वह झूठ, जो उस मंत्री ने बोला अधिक पसंद आया है। क्योंकि उस झूठ में एक परोपकार छुपा था और इस सत्य का आधार अहित पर है बुद्धिमानों ने कहा है कि वह झूठ जो अपने अंदर सद्‌भाव रखता हो उस सत्य से कई गुना बेहतर है जो अपने अंदर उत्पात रखता हो।

हर कि शाह आन कुन्द कि ऊ गूयद
हैफ बाशद कि जुज़ निकू गूयद

(यदि किसी के कहने से बादशाह आदेश देता हो तो उस पर अफसोस यदि वह भलाई के अतिरिक्त शाह से कुछ कहे।)

फरीदून के राजमहल के मेहराब पर लिखा हुआ था :

मसनवी : *जहांन ऐई बरादर न मान्द बे कस*
दिल अंदर जहांन आफरीन बन्दोबस्त
माकुन तकिये बर मुल्के दुनिया ओ पुश्त
कि बिसयार कस चुन तो परवरद व कुश्त
चू आहंगे रफ्तन कुन्द जाने पाक
चे बर तख्त मुरदन चे बर रुऐ खाक

(अरे भाई ! यह नश्वर संसार किसी का नहीं है तू बस इसके रचयिता के प्रति अपनी श्रद्धा रख। संसार पर राज्य करने की इच्छा और उस पर विश्वास न कर, क्योंकि इस संसार ने तेरे जैसे बहुत से पाले और मार डाले हैं। जब आत्मा शरीर को छोड़ती है उस समय धरती या राजसिंहासन पर मरना एक समान है।)

हिकायत : (2) खुरासान के एक बादशाह ने सुल्तान महमूद सुब्कतागीन को सपने में देखा कि उसका सारा शरीर सड़ गल गया है और मिट्टी में मिल गया है लेकिन उसकी आँखें उसके गढ्ढों में घूम रही हैं और देख रही हैं। सारे सपना बताने वाले हार गए और इस सपने का अर्थ न समझ सके। एक दरवेश ने इसका अर्थ यूँ बताया कि ''वह आज भी देख रहा है कि उसका

1. हिकायत : कहानी, वृत्तांत, वार्ता, बात, कथा।

देश दूसरे के हाथों में है।"

कतुअः[1] : *बस नामवर जीरे ज़मीन दफ़न करदे अन्द*
कि अज हस्तीअश बेरूए ज़मीन यक निशान न मन्द
आन पीर लाशे रा कि सिपुर्दन्द जी रे ख़ाक
खाकश चुनान बेख़ुर्द कज़ व उस्तूखान नमान्द
जिन्दे अस्त नाम फर्रुख नौशेरवाने आदिल
गरचे बसी गुज़श्त कि नौशेरवान न मान्द
ख़ैरी कुन ऐइ फलां व गनीमत शुमार उम्र
जेआन बीश्तर कि बांग बर आयद फलां नामंद

(बहुत से प्रसिद्ध व्यक्ति धरती में दफ़न हो गए हैं जिनके अस्तित्व का अंश भी धरती पर बाकी न बचा। वह बूढ़ा मुर्दा जिसे धरती को दिया उसने उसे ऐसा खाया कि उसकी हड्डी भी न बची। नौशेरवान का नाम केवल उसके इंसाफ के कारण बाकी रह गया है जबकि वर्षों गुजर गए हैं और नौशेरवान स्वयं उपस्थित नहीं है। सुना ! तू भी इस उम्र का मूल्य समझ और कोई भला काम कर ले। इससे पहले कि कोई चिल्ला कर कहे कि वह अब इस संसार में नहीं रहा।)

हिकायत : (3) मैंने एक शहज़ादे के बारे में सुना है कि वह छोटे कद का बेहद कुरूप था। आश्चर्य यह है कि उसके दूसरे भाई लंबे-चौड़े, सुंदर ऊँचे कद के थे। एक दिन शहज़ादों से घिरा बादशाह बैठा था। उसकी आँखें अपने सबसे कुरूप शहज़ादे पर टिक गईं। उन आँखों में घृणा व तिरस्कार का-सा भाव था। शहज़ादा कुरूप जरूर था पर विवेक व दिव्य दृष्टि में सबसे आगे था, पिता का यूँ घूरना और उसमें झलकते घृणापूर्ण भावों को फौरन ताड़ गया। पिता से कहने लगा, "ठिगना अक्लमंद लंबे बेवकूफ से बेहतर होता है—क्या यह सच नहीं है कि जो वस्तु जितनी छोटी होती है मूल्य में उतनी ही अधिक होती है। बकरी बहुत छोटा पशु है मगर बकरी का मांस व दूध हम प्रयोग में ला सकते हैं क्योंकि वह पवित्र है परंतु हाथी बड़ा होने पर भी अपवित्र है। हाथी हमारे दोनों ही काम नहीं आ सकता। तूर पहाड़ संसार के छोटे पहाड़ों में से है, (वह पहाड़ जहाँ पर खुदा ने अपना जलवा हज़रत मूसा को दिखाया था) पर खुदा की नज़रों में उसका स्थान सबसे ऊँचा है। आपने वह बात तो जरूर सुनी होगी कि—

कतुअः : *आन शूनिदी कि लाग़रे दाना,*
गुफ्त बारी बा अबले फरबा
असपे ताज़ी अगर ज़ईफ बूवद
हमचुनान अज़ तबीले खरबे

(शरीर से निर्बल बुद्धिमान व्यक्ति ने मोटे बेवकूफ से कहा था, "अरबी घोड़ा चाहे जितना भी कमजोर हो मगर गधों से भरे अस्तबल पर भारी होता है।")

ऐसी बातें और उदाहरण सुनकर बादशाह हँस पड़ा। दरबारियों को यह सब सुनकर सुखद लगा पर इन बातों से भाइयों का दिल दुखा।

कतुअः : *ता मर्द सुखन न गुफ्ते बाशद*
ऐब व हुनरश नहुफ्ते बाशद
हर बाशे गुमान मबर कि खालीस्त
शायद की पलंग खुफ्ते बाशद

(जब तक आदमी ने बात न की हो, उसका ऐब व हुनर (गुण व अवगुण) अच्छाई और बुराई छुपी रहती है। हर झाड़ी को खाली नहीं समझना चाहिए हो सकता है किसी के बीच चीता सो रहा हो।)

उन्हीं दिनों बादशाह के आसपास के दुश्मनों ने सर उठाना शुरू कर दिया और एक दिन उनमें से सबसे अधिक बलवान शत्रु ने बादशाह पर आक्रमण कर दिया।

बादशाह की फौज अपने बचाव के लिए कमर कस कर तैयार हो गई। दोनों फौजें आमने-सामने युद्ध के आरंभ होने के इंतज़ार में थीं। उस समय रणक्षेत्र में उतरने वाला सबसे पहला योद्धा वही कुरूप शहज़ादा था उसने तलवार म्यान से निकाला और कहा—

कतुअः : *आन न मन बाशम कि रूज़े जंग बीनी पुश्ते मन*
आन मनअम कि अंदर म्याने खाक व खून बीनीसरी
कि आनके जंग आरद बे खूने ख़ोश बाज़ी मी कुन्द
रूज़े मैदान व आन के बेगुरिईज़द 'बैखूने लशकर।'

(मैं वह नहीं हूँ कि लड़ाई के दिन तुम मेरी पीठ देखो बल्कि मैं वह हूँ जिसका सर तुमको खाक व खून में लुथड़ा मिलेगा। क्योंकि जो युद्ध के दिन लड़ता है वह अपने खून से खेलता है और जो पीठ दिखाता है वह अपने पूरे लश्कर का खून करता है।)

1. कतुअः : फारसी व उर्दू काव्य की एक किस्म जिसमें ग़ज़ल की तरह अनुप्रास का होना आवश्यक होता है और जिसमें एक भाव हो।

यह कहकर वह दुश्मनों के सिपाहियों पर टूट पड़ा। और देखते ही देखते शत्रु योद्धाओं के सिरों को गाजर-मूली की तरह काट दिया और जब बादशाह के पास पहुँचा तो आदरभाव से झुका और कहा–

कतूअः : *एई कि शख्स मनत हक़ीर नमूद*
ता दुरूशती हुनर न पेन्दारी
अस्पे लाग़र म्यिान बेकार आयद
रूज़े मैदान न गावे पुरवारी।

(मेरा शरीर आपको, कमज़ोर, छोटा बेकार लगा, कहीं अपने मोटापे को तो योग्यता का पैमाना नहीं समझ रखा है। लड़ाई के दिन तो पतली कमर वाला घोड़ा काम आता है मोटा ताज़ा बैल नहीं।)

कहते हैं दुश्मनों की फौज बहुत थी और उनके सामने बादशाह की फौज नहीं के बराबर थी। यह देखकर सिपाहियों के पैर उखड़ गए। उन्हें भागते देख कुरूप शहज़ादे ने उन्हें ललकारा "खबरदार !! जो तुमने औरतों की तरह चूड़ियाँ पहनीं आओ हम मिलकर कोशिश करते हैं।" उसकी इस पुरजोश ललकार से भागती फौज ठहर गई और फिर घमासान लड़ाई हुई। और उस दिन खून के इस उबाल ने योद्धा कम होने के बावजूद कुरूप शहज़ादे को दुश्मनों पर विजय दिलाई।

पिता ने अपने कुरूप बेटे के माथे और आँखों का चुंबन लिया और उसे सीने से लगाया। दिन प्रतिदिन पुत्र के प्रति उसका प्यार बढ़ता गया यहाँ तक कि अंत में उसने उसे उत्तराधिकारी घोषित कर दिया।

यह देखकर उसके भाइयों को जलन हुई और अपने रास्ते का पत्थर हटाने का एक ही उपाय उन्हें समझ में आया। उन्होंने कुरूप शहज़ादे के खाने में ज़हर मिला दिया पर छोटी बहन यह सब देख रही थी उसने भाई को खबरदार करने के लिए खिड़की के पट जोर से बजा दिए।

कुरूप शहज़ादा अपने विवेक से सब कुछ समझ गया और खाने से हाथ खींच कर बोला, "यह असंभव है कि गुणवान मर जाए और निर्गुण उनका स्थान ले।"

शेर[1] : *कस नयाईद बेजीर साये बूम्र*
वर हुमा अज़ जहान शब्द मादुम

(उल्लू के साये में आना कोई पसंद नहीं करेगा। चाहे यह दुनिया समाप्त ही क्यों न हो जाए)।

बादशाह तक ज़हर मिलाने की बात पहुँचाई गई। बादशाह ने दूसरे शहज़ादों को बुलाया और उन्हें उचित दंड दिया। इसके बाद बादशाह ने यही मुनासिब समझा कि हर लड़के को उसकी पसंद का हिस्सा राज करने के लिए दे दिया जाए। जब सबको बराबर का हक़ मिल गया तो उपद्रव शांत हुआ और झगड़ा समाप्त हो गया। क्योंकि यह सच है कि दस फकीर एक कंबल में सो सकते हैं मगर दो राजा एक राज में नहीं रह सकते हैं।

कतूअः : *नीम नानीगर खुरद मर्दे खुदाई*
बज़ले दखीशान कन्द नीमी दिगर
मुल्क अक़्लीमी बेगिरद पादशाह
हमचुनान दर बन्दे अक़्लीमी दिगर !

(ईश्वर भक्त यदि आधी रोटी खाता है तो आधी फकीरों को बाँटता है परंतु बादशाह एक राज पर हुकूमत करते हुए दूसरे राज्य पर आँखें लगाए रखता है)

परिच्छेद–2

हिकायत : (2) मैंने एक फकीर को देखा कि वह काबा (मुसलमानों का पवित्र तीर्थ स्थान) की चौखट पर सर रगड़ रहा था और रो रहा था और कह रहा था। "ऐ पालनहार ! ऐ दयावान ! ऐ अंतर्यामी तू जानता है कि मुझ जाहिल और जालिम के हाथों से भला क्या हो सकता है।"

कतूअः : *उज़रे तक़सीर खिदमत आवरदम*
कि न दारम बेताअत इस्तेजहार
आसयान अज़ गुनाह तौबा कुननद
आरेफान अज एबादत इस्तग़फार

(अपने दोषों का कारण तेरे सम्मुख लेकर आया हूँ कि मैं तेरी उपासना का सामर्थ्य अपने में नहीं रखता हूँ। पापी पाप से पश्चात्ताप करते हैं और भक्त तेरी उपासना में रहे दोषों की क्षमा याचना करते हैं।)

उपासक तेरी उपासना का बदला चाहते हैं और सौदागर अपनी-अपनी सामग्री का मूल्य। यह सेवक तेरे सम्मुख इस आशा से खड़ा है कि न वह उपासना की भीख माँगता है न व्यापारिक

1. शेर : दो मिस्रों का समाहार, बैत।

मामला करने आया है। तू हमारे साथ वह कर जो तेरी महिमा का द्योतक हो और वह न कर जिसके हम पात्र हैं।

बैत : *गर कुशी वर जुर्म बख्शी रूवसर बर आस्तानम*
बन्दे रा फरमान न बाशद हर चे फरमाइ बर आनम

(तू चाहे मुझे मृत्यु दंड दे या क्षमा कर दे मेरा सर और चेहरा तेरी चौखट पर नतमस्तक है सेवक आदेश नहीं देता है बल्कि जो तू आदेश दे उसका वह पालन करता है।)

कत्‌अः : *बर देर काबा सायली दीदम*
कि हमी गुफ्त व भीगीरीस्ती खुश
मी न गुयम कि तायतम बे पजीर
कलम ए अफव बर गुनाहम कश

(मैंने काबे की दहलीज पर एक फकीर देखा था जो रो रहा था और कह रहा था कि मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि मेरी उपासना तू स्वीकार कर ले, हाँ क्षमा का कलम अवश्य मेरे पापों पर फेर दे !)

हिकायत : (3) लोगों ने शेख अब्दुल कादिर गिलानी को काबा के हरम पर मस्तिष्क टिकाए देखा जो कह रहे थे कि "ऐ खुदा ! क्षमा कर दे यदि मैं दंड का भागीदार हूँ तो मुझे प्रलय में अंधा उठाना ताकि मैं सज्जनों के सम्मुख लज्जित न हूँ।"

रूऐ बर खाक अज्ज़ भी गूयम
हर सहर गह कि बाद मी आयद।।
ऐइ कि हरगिज फरामूशत न कुनम।
हीचत अज बन्दे याद भी आयद।।

(आदर सम्मान की धरती पर माथा टेक कर कहता हूँ कि प्रातः सब हवा चलती है तो आँख खुलते ही तेरा स्मरण करता हूँ क्या तुझे भी कभी अपने इस तुच्छ सेवक की याद आती है।)

हिकायत : (4) एक चोर एक सदाचारी के घर में घुसा। चोरी करने के लिए जब उसे कोई चीज़ नहीं दिखी तब वह दुःखी हो उठा। उस सदाचारी को पता चल गया। चुपचाप उसने वह कंबल जिस पर सोया हुआ था उठाया और चोर के रास्ते में डाल दिया ताकि वह उसके घर से खाली हाथ न जाए।

कत्‌अः : *शनीदम कि मरदान राहे खुदा*
दिले दुशमानान हम नकरदनद तंग
तोराकि मुयस्सर शबद ईन मुक़ाम
कि बा दूस्तानत खेलाफस्त व जंग

(मैंने सुना है कि ईश्वर के भक्तों ने अपने शत्रुओं के लिए भी अपना दिल छोटा नहीं किया है तुझे यह पदवी कैसे मिल सकती है तेरा तो दोस्तों के साथ भी मन-मुटाव और झगड़ा है।)

पवित्र लोगों की मित्रता, चाहे पीठ पीछे हो या सामने, ऐसी नहीं है जो सामने प्रशंसा करें और पीठ पीछे बुराई।

फर्द : *दरबराबर चो गुस्पन्दे सलीम*
दर क़फा हमचू गुर्गे मरदुम दर
हर कि ऐबे देगरान पीशे तो अर्बुद वशीर्मुद
बीगुमान ऐबे तो पीश दीगरान खाहद बुर्द

(सामने ऐसे जैसे सीधी-सादी भेड़ और पीठ पीछे आदमखोर भेड़िये का रूप। जिसने तेरे सामने दूसरों की बुराई गिनवाई वह निस्संदेह तुम्हारे अवगुणों की चर्चा दूसरे के सामने करेगा।)

परिच्छेद–3

हिकायत : (1) अफ्रीका का रहने वाला एक फकीर क्लब शहर में कपड़ों के बाज़ार में बीचोंबीच खड़ा बज़ाज़ों से कह रहा था कि "ऐ दौलतमंदो ! ! अगर तुममें न्याय होता और हममें संतोष तो यह हाथ फैलाने का रिवाज़ अब तक दुनिया से खत्म हो चुका होता।"

कत्‌अः : *एइ क़नाअत तवानगरम गरदान*
कि व राई तो हीच नेमत नीस्त
कुंजै सब्र एख्तेयार लुक़मान अस्त
हरकिरा सब्र नीस्त हिकमत नीस्त

(ऐ संतुष्टता तू मुझे मालामाल कर दे क्योंकि तुझसे बड़ा वरदान इस संसार में दूसरा कुछ नहीं। संतोष हज़रत लुक़मान (एक महान व्यक्तित्व है परंतु यहाँ पर बुद्धिमान से अभिप्राय है) का प्रिय कोना है वास्तव में जिसे संतोष प्राप्त नहीं—उसको चातुर्य भी प्राप्त नहीं होता।)

हिकायत : (2) मिस्र में दो अमीरज़ादे थे। एक ने विद्या सीखी तो दूसरे ने धन जमा किया। पहला बड़ा विद्वान बना दूसरा मिस्र

के साम्राज्य का मंत्री बना। मंत्री उस विद्वान की तुच्छता से देखता और कहता—मैं हुकूमत तक पहुँच गया। और तुम उसी तरह फकीर के फकीर रहे। विद्वान ने संतोष के साथ जवाब दिया ''ऐ भाई ! खुदा की नेमत का शुकर अदा करता हूँ मैंने पैगंबरों का पैतृक धन पाया है अर्थात् विद्या और तुमको फिरोन व हामान (मिस्र का बादशाह जो अपने को खुदा कहता और हुमान उसका मंत्री) की पैतृक संपत्ति मिली है अर्थात् मिस्र की हुकूमत।

मसनवी : *मन आन मूरम कि दर पायम बैमालंद*
न जंबूरम कि अज़ नीशम बेनालंद
कुजा खुद शक्कर इन नेमत गुज़ारम
कि ज़ोरे मरदुम आज़ारी न दारम।

(मैं तो वह चींटी हूँ जिसको पैर से मल देते हैं, मैं वह भिंड नहीं हूँ कि मेरे डंक से लोग रोएँ, इस वरदान का मैं किस प्रकार से धन्यवाद दूँ कि मुझमें आदमियों को सताने की ताकत नहीं है।)

हिकायत : (3) एक दरवेश के बारे में मैंने सुना है कि भूख की ज्वाला में जलता पैबंद पर पैबंद लगाता था और मन के संतोष के लिए कहता था।

शेर : *बे नाने खुश्क कनाअत कुनीम व जामे देल्क*
कि रंज मेहनत खुद बे कि बार मिन्नते खल्क

(हम अपनी गुदड़ी और सूखी रोटी पर संतोष करें। क्योंकि इस कठिन समय का दुख लोगों के उपहार के बोझ से कम है। किसी ने उससे कहा, ''तुम हाथ पर हाथ धरे क्यों बैठे हो उठो ! इसी शहर में एक परोपकारी है उसकी दया सबके लिए समान है और वह सदा संन्यासियों व तपस्वियों की सेवा के लिए कमर कसे रहता है। टूटे हृदयों पर अपनी सांत्वना का मरहम भी लगाता है यदि उसे तेरी इस बुरी दशा का हाल पता चल जाए तो वह अपने साथियों और संबंधियों की सहायता करना अनिवार्य समझता है और उसे अपना सौभाग्य मानता है।'')

दरवेश ने कहा, ''रहने दीजिए। किसी के आगे हाथ फैलाने से अच्छा है मर जाना !''

कत्अः : *हम रूक्के दूखतन ब व इल्जाम कुंजे सब्र*
कै अज बै हर जामे रूक्के बर खाजेगा न बिश्त।।
हक्का कि ब अकूबत दोज़ख बराबर स्त।
रफ्तन बे पाई मुर्दी हमसाया दर बहिश्त।।

(पैबंद लगाना और संतोष के साथ कोने में बैठना कहीं उचित है इस अनुचित हरकत से कि आदमी कपड़ों के लिए लोगों को पत्र डाले पड़ोसी की खुशामद से स्वर्ग में जाना। वास्तव में नरक की यातना के समान है।)

परिच्छेद—4

हिकायत : (1) मैंने अपने एक मित्र से कहा कि मैंने वाक्संयम एक कारण से आरंभ किया है कि कभी-कभी बात करने की धुन में आदमी अच्छी-बुरी बात भी मुख से निकाल देता है और शत्रुओं, की दृष्टि केवल बुराई पर पड़ती है।

उस मित्र ने उत्तर दिया कि ''अरे भाई ! शत्रु वही उत्तम है जो भलाई न देखे।''

शेर : *वे अखुल अदाबीव ला यमुरू बिसालिहिन।*
इल्ला व यलमिजुहु बिकज्जबिन अशिर।।

(शत्रु भले आदमी के पास से नहीं गुजरता है मगर उस पर झूठा और घमंडी होने का लांछन लगा देता है।)

शेर : *हुनर बे चश्मे अदावत बुजुर्गतर ऐब स्त।*
गुल स्त सादी व दर चश्मे दुश्मनान खारस्त।।

(शत्रुओं की दृष्टि में गुण सबसे बड़ा अवगुण होता है। सादी पुष्प है परन्तु शत्रुओं की आँखों में काँटे के समान है।)

बैत : *नूरे गेती फरूजे चश्मे हूर।*
जिश्त बाश्द बेचश्मे मूश्के कूर।।

(धरती को प्रकाशमान करने वाला सूर्य का प्रकाश छछून्दर की आँखों को बुरा लगता है।)

हिकायत : (2) एक व्यापारी को व्यापार में एक हजार दीनार का घाटा हो गया। उसने अपने पुत्र से कहा कि यह बात उसे किसी से नहीं कहनी है। लड़के ने पूछा, ''पिताजी ! आपका आदेश है, मैं मुँह नहीं खोलूँगा यदि उचित जानें तो मुझे इस भेद को छुपाने का कारण बता दें ताकि मैं उससे हुए लाभ को जान सकूँ और इस बात के छुपाने के गुण को समझ सकूँ।''

व्यापारी ने कहा, ''ताकि घाटा दोहरा न हो जाए। एक तरफ पूंजी में घाटा दूसरी तरफ पड़ोसी की खुशी।

शेर : *म गह अन्दूहे खीश ब दुश्मनान*
कि लाहौल गूयंद शादी कुनान।

(शत्रुओं से अपना दुख मत कह क्योंकि वह ऊपर से भले ही 'लाहौल' कहेंगे पर मन ही मन खुश होंगे।)

हिकायत : (3) एक बुद्धिमान युवक जो अनेक गुणों से सुशोभित और सौभाग्यवान था। वह स्वभाव से कम बोलने वाला था। जब भी बुद्धिमानों की सभा में सम्मिलित होता सदा मुँह बंद रखता था। एक बार उसके पिता ने उससे कहा, "बेटे ! जो भी तुम्हें ज्ञात है वह क्यों नहीं कहते ?" उसने उत्तर दिया कि "मुझे भय है कि जो मुझे मालूम नहीं है वह पूछ लिया तो मुझे लज्जित होना पड़ेगा।"

कतुअः : *आन शनीदी कि सूफिये भी कूफ्त*
जीरे नाअलीन खीश भीखी चंद।।
आस्तीनश गिरफ्त सरहेगी।
कि बिया नाअल बर सतूरम बन्द।।

(तुमने वह किस्सा सुना है कि सूफी अपने जूते के तले में कीलें ठोक रहा था। एक सिपाही ने उसकी आस्तीन पकड़ी और कहा, "आओ मेरे घोड़े की नाल जड़ दो।")

फर्द : *नगुफ्ते नादरद कसी ब तो कार !*
वली चुन बे गुफ्ती दलीलश बी याए।।

(तू चुपचाप है इसलिए तुझसे किसी को कोई सरोकार नहीं है मगर चूँकि तू बोला है तो उसकी युक्ति भी ला।)

परिच्छेद–5

हिकायत : (1) हसन मैमन्दी से लोगों ने प्रश्न किया कि "सुल्तान महमूद के पास सुंदर दासों का झुंड है जिसमें कुछ तो सौंदर्य की दृष्टि से संसार के आश्चर्यों में से एक हैं मगर क्या बात है कि वह उनकी तरफ आकर्षित न होकर अय्याज की ओर उनका झुकाव अधिक है और वह उसे प्रिय रखते हैं जबकि वह देखने में इतना सुंदर भी नहीं है ?"

उन्होंने उत्तर दिया कि "जो दिल में उतर जाता है वही भला लगता है।"

कतुअः : *कसी बेदीदेह इंकार गर निगाह कुनद*
निशाने सूरते युसुफ दहद न खूबी
व गर बे चश्मे इरादत निगाह कुनद दरदीव
फरिश्तेअश बे नुमायद बे चश्मे महबूबी।।

(यदि कोई द्वेष के साथ देखे तो उसे हज़रत युसूफ* के सौंदर्य में भी दाग नजर आएगा यदि मन में सम्मान और प्रेम हो तो दैत्य को देखेंगे तो वह फरिश्ता नजर आएगा।)

मसनवी : *हर कि सुल्तान मुरीदे उ बाशद।*
गर हमें बद कुनद न कू बाशद।।
व आनके रा पादशाह बी अन्दाज़द।
कश्श अज़ ख़ील खाने न नवाज़द।।

(बादशाह जिस पर कृपा करे उसकी सारी बुराइयाँ छुप जाती हैं और उसके सात खून क्षमा योग्य हैं। मगर जो उस कृपा दृष्टि से वंचित हो पदच्युत हुआ उसे मृत्युवर्ग भी घास नहीं डालता है।)

हिकायत : (2) कहते हैं कि एक मालिक के पास अतुल्य सुंदर दास था। मालिक को वह बहुत प्रिय था। एक दिन अपने मित्र से कहने लगा, "मेरे इस दास में नाज, नखरे, सुंदरता प्रचुर मात्रा में है यदि यह इतनी लंबी जबान न रखता तो कितना अच्छा होता।"

उसके मित्र ने समझाया "जब मित्रता का घनिष्ठ संबंध बन गया तो उसमें सेवा की आशा रखना बेकार है क्योंकि जब भी प्रेम संबंध बनता है स्वामी सेवक का भेदभाव मिट जाता है।"

कतुअः : *ख्वाजे ब बन्दे परी रूखसार।*
चुन दर आयद बे बाज़ी व खन्देह।।
चे अजब कू चू खाज़े हुकम कुनद।
व इन कश्द बारे नाज़ चुन बन्देह।।

(परी चेहरे वाले नौकर के साथ मालिक जब हँसी मजाक करेगा फिर उस पर क्या आश्चर्य कि वह उल्टा मालिक को आदेश देने लगेगा और मालिक उसके नाज-नखरों के बोझ तले दब जाएगा।)

---

* जिनके सौन्दर्य का यह आलम था कि उन्हें देखकर औरतों ने फल के स्थान पर उँगली काट ली थी।

बैत : *गुलाम आबकश बायद व ख़िश्ते ज़न।*
बुअद बन्दे नाज़नीन मुश्ते ज़न।।

(गुलाम यदि पानी भरने वाला या ईंटें बनाने वाला चाहिए नाज़ व अदाओं वाला नौकर तो घूँसा मारने वाला होता है।)

हिकायत : (3) मैंने एक सदाचारी को देखा कि वह किसी के प्रेम-जाल में फँस गया था। न उसमें धैर्य बाकी था न ही बात करने की ताकत। जितनी तकलीफें व कष्ट सहता मगर संबंध नहीं तोड़ता था। कहता था :

कतुअः : *कूतह न कुनम जे दामनत दस्त।*
वर खुद बे जनी बे तीग़ तीज़म।।
बाद अज तो मलाज व मिलजाइ नीस्त।
हम देर तो गर रीज़म अर गुरीज़म।।

(मैं तेरा दामन नहीं छोड़ूँगा चाहे तू मेरी गर्दन तलवार से काट दे तेरे अतिरिक्त मेरी न कोई गति है न शरण। मैं यदि भागूँगा तो तेरी ही ओर भागूँगा।)

एक बार मैंने उसकी भर्त्सना की और कहने लगा कि तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है तुच्छ काम तुझ पर छाया हुआ है। थोड़ी देर सोचता रहा फिर बोला–

कतुअः : *हर कुजा सुल्ताने इश्के आमद कम न मानद*
कुअते बाजूए तक़वा रा महल।।
पाक दामन चुन ज़े यद बीचारे।
उफतादे त गरिबान दर वहल।।

(जिस स्थान पर कामदेव पहुँचा वहाँ पर धैर्य के बल का कोई स्थान न रहा। वह पाक दामन हो कर कैसे जी सकता है जो गर्दन तक कीचड़ में धँसा हुआ हो।)

परिच्छेद–6

हिकायत : (1) बुद्धिजीवियों की एक मंडली के साथ दमिश्क की जामा मस्जिद में बैठा चर्चा कर रहा था कि एक युवक आया और कहा, ''क्या आप लोगों के बीच कोई ऐसे सज्जन हैं जो फारसी भाषा जानते हों ?'' सबने मेरी ओर इशारा किया मैंने पूछा, ''सब कुशल तो है ?'' उसने कहा, ''एक बूढ़ा लगभग एक सौ पचास वर्ष का मरण अवस्था में अंतिम श्वास ले रहा है। वह फारसी भाषा में कुछ कह रहा है जो हमारी समझ में नहीं आ रहा है। यदि कृपा करके आप कष्ट उठाएँ तो उसका फल भी मिलेगा शायद वह वसीहत कर रहा है।''

जब मैं उसके समीप पहुँचा तो सुना कि वह यह शेर पढ़ रहा है।

कतुअः : *दमी चंद गुफ्तम बर आरम बे काम*
दरीगा कि बे गिरिफ्त राहे नफ्स
दरीगा कि बर ख्वान अलवाने उम्र
दमी चंद खुरदीम व गुफ्तंद बस।

(मैंने कहा कि सुख-सुविधा से चंद श्वासें भर लूँ मगर अफसोस की साँस की नली बंद हो गई। आह ! जीवन के विभिन्न व्यंजनों की थाली के सामने बैठा अभी चंद ही कौर खाए थे कि बस कह दिया।)

मैंने उसके शेर का अनुवाद अरबी भाषा में उन शामी मित्रों के लिए किया। वह आश्चर्यचकित रह गए। इसकी लंबी उम्र को देख और उसके इस दुख पर जो उसे इस संसार को छोड़ते समय हो रहा था। मैंने उससे पूछा, ''इस समय तेरा क्या हाल है ?''

वह बोला, ''मैं क्या बताऊँ ?''

कतुअः : *न दीदेह-इ-कि चे सख्ती रस्द बेजाने कसी*
कि अज़ दहानश बे दर भी कुनन्द दनदानी
क़ियास कुन कि चे हालत बुअद दारान-ए-साअत
कि अज़ वजूदे अजीज़श बे दर खद जानी।

(क्या तुमने उस व्यक्ति को दर्द से तड़पता नहीं देखा जिसके दाँतों में से एक दाँत निकाला जा रहा हो अब तुम अनुमान लगाओ उस व्यक्ति की दशा का जिसके प्यारे शरीर से जान निकल रही हो।)

मैंने उससे कहा, ''मरने की कल्पना को अपने मस्तिष्क से निकाल दो और शंका को अपने प्रकृति पर छाने मत दो। क्योंकि यूनानी दार्शनिकों के अनुसार, चित्त निरोग हो तो भी जीवन का कोई भरोसा नहीं है। यदि रोग खतरनाक हो तो भी मृत्यु आएगी ऐसा विश्वास भरा तर्क नहीं देता है। यदि तुम कहो तो किसी वैद्य को बुलाएँ और वह तुम्हारे रोग की भली प्रकार चिकित्सा करें।''

उसने नज़रें ऊपर उठाईं। हँसा और कहा–

मसनवी : *दस्त बर हम जनद तबीबे जरीफ।*
चुन खरीफ बीनद ऊफतादे हरीफ।
रूवाज़ा दर बन्दे नक्श एइवान स्त।
खाने अज़ पाई पुश्ते वीरान स्त।।
पीर बे नेआअ नालीद।
पीर जब नदलश हमी मालीद।।
चुन मुखब्बत शुद ऐतेदाले मिजाज।
न गरीमत असर कुन्द न ऐलाज।।

(होशियार वैद्य भी हाथ मलता है जब वह अपने पुराने प्रतिद्वंद्वी को रोग शय्या पर पड़ा देखता है। घर का स्वामी घर पर फूल पत्ती बनवाने पुतवाने की चिंता में है और दूसरी ओर घर की नींव खोखली पड़ती जा रही है। बूढ़ा मरण अवस्था में पड़ा रो रहा था और बुढ़िया उसके संदल मल रही थी। जब प्रकृति के समन्वय का बहाव अवरुद्ध हो जाता है तो न तावीज़ काम करती है न कोई उपचार।)

हिकायत : (3) मैं दयारबकर (रोम व ईराक के बीच स्थित नगर) में एक वृद्ध का अतिथि बना जिसके पास बेशुमार दौलत थी और इकलौता सुंदर-सा पुत्र। एक रात वह बातों के बीच बोला, "इस पुत्र के अलावा मेरे कोई भी संतान न हो सकी। इसको भी बड़ी मन्नत-मुरादों के बाद प्राप्त किया है। जंगल में एक वृक्ष है जिसके दर्शन कर लोग अपनी-अपनी इच्छाओं की पूर्ति चाहते हैं। मैंने भी जाने कितनी लंबी काली रात काटी थी। खुदा के आगे रोया हूँ तब कहीं जाकर पुत्र धन प्राप्त हुआ है।"

उसी पुत्र को मैंने मित्रों से कहते सुना, "क्या ही अच्छा होता। अगर मैं जान जाता कि वह वृक्ष किस स्थान पर है ताकि मैं जाकर भगवान से प्रार्थना करता कि मेरा बाप मर जाए। पिता प्रसन्न है कि पुत्र बुद्धिमान है और पुत्र कटाक्ष करता कि 'बूढ़ा सठिया गया है'।"

कत्अः : *सालहा बर तौ बेगुज़रद कि गुज़ार*
न कुनी सूईये तुरबत पेदरत
तो बेजाई पेदरत चे करदी खैर
ता हुमान चशमदारी अज पेसर।

(सालों गुज़र जाते हैं तू बाप की कब्र के पास भी नहीं फटकता। तूने बाप के साथ कौन-सी भलाई की है जो अपनी औलादों से आशा करता है ?)

हिकायत : (6) एक बार जवानी के जोश में माँ पर चिल्ला पड़ा। माँ मेरा रौद्र रूप देखकर दुःखी हो एक कोने में बैठ गई और रोते हुए कह रही थी, "शायद तुम अपना बचपना भूल गए हो और इस सख्ती से मुझसे व्यवहार कर रहे हो।"

कत्अः : *जे खुश गुफत् जाली बेफरजनदेश रवीश*
चू दीदश पलंग अफगन व पीलतन
गर, अज अहदे खिरदियत याद आमदी
कि बेचारह बूदी दर आगूशे मन
न कर दी दर इन रूज बर मन जफा
कि तू शीर मर्दी व मन पीर जन।।

(बहुत अच्छी बात कही थी एक बुढ़िया ने अपने बेटे से जब उसको हाथी के समान हृष्ट-पुष्ट चीते को पछाड़ने वाला देखा कि यदि तुम्हें अपना बाल्यकाल याद होता जब तू मेरी गोद में मजबूर था तो आज यूँ मुझ पर अत्याचार न करता। इसलिए कि आज़ तुम शेर मर्द हो और मैं निर्बल बुढ़िया।)

परिच्छेद–7

हिकायत : (1) एक मंत्री का बेटा मंदबुद्धि का था। मंत्री ने उसको एक पंडित के पास भेजा ताकि वह विशेष रूप से इसको शिक्षा दे सके ताकि वह बुद्धिमान हो जाए। कुछ समय तक पंडित ने मंत्री पुत्र को शिक्षा दी पर फल कुछ नज़र न आया अंत में पंडित ने उसके पिता के पास संदेश भिजवाया कि "यह बुद्धिमान नहीं बनता है मगर इसने मुझे पागल बना दिया है।"

कत्अः : *हीच सीकल नीकू न दानद कर्द*
आहनी रा कि बद गोहर बाशद
चुन बूद अस्ले जौहरी, काबिल
तरबियत रा दर व असर बाशद
सग बे दरयाइ अफतेगाने बेश्वी
चून के तर शुद पलीद तर बाशद
खरे ईसा गरश बे मक्के रवद
चुन बीआयद हनुज़ खर बाशद

(वह लोहा जो मूल रूप से घटिया किस्म का हो उस पर अच्छी पालिश कोई नहीं चढ़ा सकता है जब कोई चीज़ अपने अंदर योग्यता रखती है तो अवश्य उस पर शिक्षण का प्रभाव पड़ता

है। कुत्ते को सात समंदरों में स्नान करा दिया जाए वह जितना भीगेगा उतना ही अपवित्र होता जाएगा। हज़रत ईसा के गधे को यदि मक्का हज़ के लिए ले जाया जाए तो वह उसके बाद भी गधा ही रहेगा।)

हिकायत : (2) एक बुद्धिमान अपने पुत्रों को उपदेश दे रहा था, ''मेरे जिगर के टुकड़ो ! तुम लोग हुनर सीखो क्योंकि इस नश्वर सांसारिक वैभव और राज्य का कोई भरोसा नहीं है। सोना-चाँदी को भी खतरा है। क्योंकि या तो उसे चोर चुरा ले जाएगा या फिर धीरे-धीरे करके स्वामी उसे हथिया लेगा। मगर हुनर एक ऐसा स्रोत है जो सदा उबलता रहता है और लगातार बहता रहता है। हुनरमंद यदि संपत्ति रहित हो जाता है तो दुःख की बात नहीं है क्योंकि हुनर स्वयं में एक संपत्ति है। वह जहाँ भी जाएगा उसके हुनर का सम्मान होता देखेगा और हुनरमंद को उच्च स्थान मिलेगा और बेहुनर केवल भीख माँगेगा और कष्ट उठाएगा।''

शेर : *सख्त स्त पस अज जाह तहककुम बुरदन*
खू करदेह बेनाज जूरे मरदुम बुरदन

(पदच्युत होने के पश्चात किसी अन्य का आदेश सुनना व्यक्ति के लिए बहुत कठिन है। जब ऐश्वर्य की आदत पड़ जाती है तो अत्याचार नहीं सहा जाता है।)

कतुअः : *वकती उफताद फितन-ए-दर शाम।*
हर कस अज़ गूशे फरा रफ्तंद।।
रूस्ता ज़ादेगान दानिशमन्द।
व वजीर-ए पादशाह रफ्तंद।।
पिसराने वजीर नाकिसे अकल।
बे गदाई बे रूस्ता रफ्तन्द।।

(एक समय में शाम देश में उपद्रव हो गया ऐसी भगदड़ मची कि प्रत्येक व्यक्ति देश के प्रत्येक कोने से निकल भागा। गाँव के समझदार लड़के बादशाह के मंत्री बने और मंत्री के बेवकूफ लड़के भीख माँगने गाँवों की ओर निकल गए।)

बैत : *भीरासे पिदर ख्वाही इल्मे पिदर आमूज़*
की माले पिदर खर्च तवान कर्द व दह रूज़।

(यदि पिता का उत्तराधिकारी बनना है तो पिता का ज्ञान (कला) सीखो। क्योंकि पिता का छोड़ा धन तो केवल दस-दिन तुम्हारा साथ देगा।)

हिकायत : (3) एक विद्यापंडित एक बादशाह के बेटे को विद्या ज्ञान देता था और बुरी तरह उसकी पिटाई करता था और बात-बात पर झिड़कता था। एक बार कुछ ऐसा हुआ कि शहजादे की सहनशक्ति जवाब दे गई और वह बादशाह के पास शिकायत लेकर आ गया और घायल पीठ खोलकर दिखाई। उसके घावों को देखकर पिता का दिल भर आया। पंडित को बुलाया और कहा—''प्रजा के लड़कों के साथ तुम इस तरह से कड़ा व्यवहार नहीं करते जितना मेरे बेटे के साथ, आखिर इसका कारण क्या है ?''

इसका कारण सोच-समझ कर बात करना और अच्छा काम करना है जो सब ही लोगों के लिए उचित है परंतु विशेषकर शहज़ादों के लिए क्योंकि उनके हाथों और ज़बान से जो होगा वह प्रसिद्ध हो जाएगा। जबकि प्रजा के कर्मों की ओर लोगों का विशेष ध्यान नहीं जाता है।

कतुअः : *अगर सद ऐब दारद मर्दे दरवीश*
रफीकानश यकी अज़ संद नदानन्द
ब गर यैक नापसन्द आयद ज़े सुल्तान
जा क्लीमी ब क्लीमी रसानन्द

(फकीर अगर सौ बुराइयाँ रखता है तो उसके साथी सौ में से एक को भी न जानेंगे। अगर बादशाह से एक बुरी हरकत हो जाए तो उसकी चर्चा एक देश से दूसरे देश में पहुँचा देंगे।)

इसके पश्चात तो अवश्य हो जाता है कि अध्यापकों को शहज़ादों के व्यवहार व शिष्टाचार सिखाने में प्रजा के बच्चों से अधिक कोशिश करनी चाहिए।

कतुअः : *हरकि दर खुरदियश अदब न कुनी*
दर बुज़र्गीए फलाह अज़ व बरखास्त
चूबे तर रा चुनानके खाही पील
नशवद खुशक जुज़ ब आतश रास्त

(जिसको तुम बाल्यकाल में शिष्टाचार नहीं सिखाओगे। बड़े होकर उसमें भलाई न होगी। भीगी नरम लकड़ी को जैसे चाहे मोड़ लो परन्तु सूखी लकड़ी केवल आग से सीधी होती है।)

जो लड़का सिखाने वाले के व्यवहार की सख्ती सहन नहीं

कर पाता उसको ज़माने की सख्ती सहन करनी पड़ती है।

उसके इस उत्तर से बादशाह खुश हुआ और विद्यापंडित को एक अमूल्य वस्त्र और रत्नों से लाद दिया। साथ ही उसकी पदोन्नति भी कर दी।

परिच्छेद–8

हिकमत* : (1) धन जीवन की सुविधा का साधन है न कि जमा करने के लिए है। एक बुद्धिमान से लोगों ने पूछा कि भाग्यवान कौन है और भाग्यहीन कौन है ?

उसने उत्तर दिया कि "भाग्यवान वह है जिसने खाया और बोया और भाग्यहीन वह है जो मर गया और छोड़ गया।"

शेर : *म कुन नमाज़ बर आन हीचकस कि हीच न कर्द*
कि उम्र दर सरे तहसीलेमाल कर्द व न खुर्द।।

(किसी ऐसे व्यक्ति के मरने पर 'नमाज़े जनाज़ा' मत पढ़ क्योंकि उसने कुछ नहीं किया है केवल जीवन धन जमा करने में गँवा दिया और कुछ न खाया।)

हिकमत : (2) मूसा अलीहुलसलाम ने कारग्न को उपदेश दिया। "तुम उसी प्रकार के उपकार करो जैसा कि खुदा ने तुम पर किए हैं।" उसने बात सुनी-अनसुनी कर दी तुमने उसका अंत सुना।

कतुअः : *आन कसकि बे दीनार व दरम खैर नीपुनदूख्त*
सर आक़्बत अंदर सरे दिनार व दरम कर्द
ख्वाही मुत्तमतिअ शवी अज नेआमते दुनिया
ब खल्क़े करम कुन चु खुदा ब तो करम कर्द

(जिसने धन दौलत से पुण्य नहीं कमाया उसने सारा जीवन संसार और धन की चिंता में गँवा दिया। यदि तू चाहता है कि संसार के उपहारों से लाभान्वित हो सके तो लोगों पर इस प्रकार उपकार कर जैसा खुदा ने तुझ पर किया है। एक अरबी कहावत है कि उपकार कर मगर उसका अहसान मत जता क्योंकि उससे लाभ तुझे पहुँचता है। यानि दे और कह मत क्योंकि (उपकार का प्रभाव कहने से जाता रहता है) नेकी का लाभ नेकी करने वाले को जाता है।)

कतुअः : *दरख्ते करम हर कुजा बीख कर्द।*
गुज़श्त अज़ फलक शाख व बालाए ऊ।।
गर उम्मीद-दारी कज व बरखुरी।
बे मिन्नत मनेह अर्रे बर पाय ऊ।।

(उपकार का वृक्ष जहाँ जड़ पकड़ लेता है, तो उसकी फुनगी और शाखाएँ आकाश से भी ऊँची चली जाती हैं यदि उसका फल खाना चाहता है तो उसे जता कर जड़ पर आरी मत चला।)

कतुअः : *शुक्रे खुदाई कुंन मोआफ्फ़क शुदी बखैर*
जे ईनाम व फज़्ल ऊ न मोअत्तल गुजाश्त
मिन्नते मनेह कि ख़िदमत सुल्तान हमीकुनी
मिन्नत शिनास अज व कि बे खिदमते बेदाखत

(खुदा को धन्यवाद जो तुझे भलाई करने का अवसर प्राप्त हुआ। अपने पुरस्कार व प्रसाद से उसने तुझे वंचित नहीं किया है। तू उस पर अहसान मत जता कि बादशाह की सेवा करता है बल्कि तू उसका आभार मान कि तुझे उसने अपनी सेवा में रखा हुआ है।)

हिकमत : (3) दो व्यक्तियों ने बेकार में कष्ट उठाया। पहला जिसने जमा किया और न खाया। दूसरा जिसने पढ़ा और उस पर चला नहीं।

मसनवी : *इल्म चनदान के बीश्तर ख्वानी।*
चुन अमल दर तो नीस्त नादानी।।
न मोहकक्कि बूदन दानिशमन्द।
चारपाय बरू किताबे चन्द।।
आन तुही मग्ज़ रा चे इल्म व ख़बर
कि बेरो हीज़म स्त या दफ़्तर

(विद्या जितनी चाहे प्राप्त कर मगर तुझमें आचरण नहीं है तो वास्तव में अज्ञानी है। न शोधकर्ता बनेगा न विद्या पंडित। केवल चारपाया होगा जिस पर चंद किताबों का बोझ होगा। उस खाली दिमाग को क्या ज्ञान कि यह बोझ लकड़ी के गट्ठर का है या किताबों का है।)

□

---

* युक्ति।

जहाँ विचार है जल की तरह

पोलिश कवि ज़्बीग्निएव हर्बर्त की कविताएँ

गगन गिल

ज़्बीग्निएव हर्बर्त (1924-1998) का नाम बीसवीं शताब्दी के महान पोलिश कवियों में लिया जाता है। उनकी कविता में मनुष्य के आत्म निर्वासन का भाव एक अनूठी आध्यात्मिक क्षुब्ध अवस्था में अंकित हुआ है। अकसर उनके यहाँ प्राणी वस्तुओं में और वस्तुएँ प्राणवान् होने के स्वप्न में बदलते जान पड़ते हैं। एक तरह से उन्हें बीसवीं शताब्दी की दुस्स्वप्न कथाओं का कवि कहा जा सकता है।

हर्बर्त की कविता अपने देश-काल में जागे रह गए लोगों की कविता है और उस सब से कहीं दूर चले जाने की 'इच्छा' की कविता भी। वह मनुष्य को बौने करते जाते समय में मानवीय असमंजस के एक बड़े कवि थे। उनकी कविता पदचिह्नों और अनुगूँजों से भरी कविता है। पदचिह्न उन पाँवों के, जो कहीं गए नहीं। अनुगूँजें उन बातों की, जो कही नहीं गईं।

यहाँ प्रस्तुत है उनकी प्रसिद्ध काव्य-शृंखला 'मिस्टर कोगितो' की कुछ कविताएँ। साम्यवादी व्यवस्था में रोज़ अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ता एक साधारण नागरिक, जो अपने जीवन की विडंबना पर चिंतन करते-करते एक बेचेहरा आदमी की बजाय, 'श्रीमान मनीषी' हो गया है। ये अनुवाद जॉन कारपेंटर और बोग्दाना कारपेंटर के अँग्रेज़ी अनुवादों पर आधारित हैं।

श्रीमान मनीषी जन्मस्थान को लौटने की सोचते हैं

यदि मैं वहाँ लौटा
शायद मुझे नहीं मिलेगी
अपने घर की छाया तक
न बचपन का पेड़
न लोहे की तश्तरी वाला क्रूस
बेंच जहाँ मैं फुसफुसाता था प्रार्थना-गीत
अखरोट और रक्त
एक भी चीज़ नहीं जो हमारी हो

जो बचा
वह केवल प्रस्तरखंड है
जिसके गिर्द खिंचा है खड़िया का घेरा

मैं खड़ा होता हूँ केंद्र में
एक टाँग पर
कूदने से एक क्षण पहले

मैं बड़ा नहीं होऊँगा
हालाँकि वर्ष बीत रहे हैं
और ग्रह व युद्ध
गरज रहे हैं ऊपर

मूर्ति की तरह निश्चल
खड़ा हूँ केंद्र में
एक टाँग पर
अंतिमता में कूदने से पहले
खड़िया का घेरा लाल हो गया है
जैसे पुराना रक्त
जबकि चारों ओर

बढ़ रहे हैं राख के ढेर
मेरे कंधों तक
मेरे मुख तक

श्रीमान मनीषी की खाई

घर पर वह सदा सुरक्षित हैं
लेकिन जैसे ही श्रीमान मनीषी
द्वार से बाहर निकलते हैं
सुबह की सैर को
उनका सामना होता है—एक खाई से

यह पास्कल की खाई नहीं
न यह दोस्तोएवस्की की खाई है
यह खाई
श्रीमान मनीषी के माप के बराबर है

इसका विशेष गुण
इसका अथाह होना नहीं
न वह आतंक
जो इससे होता है

यह उनका पीछा करती है छाया की तरह
बेकरी पर रुकती है
पार्क में पढ़ती है अख़बार
श्रीमान मनीषी के कंधों पर से

ऐसी कष्टकर है जैसे दाद
उनसे जुड़ी है जैसे किसी कुत्ते से
उथली है बहुत निगलने को
सिर, बाँहें और टाँगें

एक दिन शायद
बड़ी हो जाएगी खाई
परिपक्व हो जाएगी
गंभीर हो जाएगी
सिर्फ़ यदि उन्हें मालूम होता
वह कौन-सा जल पीती है
कौन दाना खाती है

श्रीमान मनीषी
भर सकते हैं इसे
रेत की कुछ मुट्ठियों से
लेकिन वह करते नहीं ऐसा

जब
वह लौटते हैं घर
खाई छोड़ देते हैं
ठीक द्वार के बाहर
उसे ढँकते हुए ध्यान से
एक पुराने चिथड़े से

श्रीमान मनीषी अख़बार पढ़ते हैं

पहले पन्ने पर
120 सैलानियों के मर जाने की ख़बर

युद्ध बहुत दिनों तक चला
आदत पड़ गई इसकी सबको

पास ही ख़बर है
एक सनसनीख़ेज़ अपराध की
साथ में तस्वीर है हत्यारे की

श्रीमान मनीषी की आँखें
उदासीन भाव से
सैनिकों के विलक्षण बलिदान के ऊपर से फिसलती हुईं
प्रसन्नता से डूब जाती हैं
रोज़ाना के आतंक का ब्यौरा पढ़ने में

एक तीस वर्षीय किसान ने
निराशा के तनाव में मार दिया अपनी पत्नी
और दो छोटे बच्चों को

सब बताया गया है सविस्तार
हत्या का ढंग
लाशों की हालत
और अन्य विवरण

120 मृतकों को
आप बेकार खोजते हैं एक नक्शे में
बहुत बड़ा फासला
ढँके है उन्हें जंगल की तरह

वे बातें नहीं करते कल्पना से
वे बहुत सारे हैं
अंत में शून्य का अंक
उन्हें बदल देता है एक अमूर्त आकार में

चिंतन के लिए एक विषय :
करुणा का गणित

श्रीमान मनीषी देखते हैं एक मृत मित्र

उसकी साँस भारी चल रही थी

संकट के आने की बात थी रात में
अभी दोपहर के बारह बज रहे थे
श्री मनीषी गलियारे में गए
एक सिगरेट पीने को

पहले उन्होंने सिरहाना सीधा किया
फिर मुस्कराए मित्र को देख

उसकी साँस भारी चल रही थी

उनकी उँगलियाँ
चल रही थीं
चादर पर

जब वह लौटे
उनका मित्र वहाँ नहीं था
उसकी जगह कुछ और
पड़ा था
तुड़ा-मुड़ा सिर
खुली आँखें

साधारण आवागमन
डॉक्टर भागा आया
एक सुई लगाई
गाढ़े रक्त से
भरने को

श्रीमान मनीषी
एक क्षण और रुके
देखने को उसे जो बचा था शेष
वह खाली था
बोरे की तरह
सिकुड़ता
और, कुछ और
अदृश्य चिमटे से जकड़ा हुआ
एक अलग समय से कुचला जाता

सिर्फ़ यदि वह बदल जाता पत्थर में
उदासीन और भव्य
संगमरमर की भारी मूर्ति में
कितना आश्वासन रहता

वह लेटा था विनाश के
एक सँकरे उच्च अंतरीप पर
कमर से टूटा हुआ
परित्यक्त केंचुल-सा

रात्रि भोज
तश्तरियाँ बज रही थीं
लेकिन देवदूत नहीं उतरे

उपनिषद आश्वासन थे

जब उसकी वाणी
जाती है विचार में
विचार जाता है श्वास में
श्वास अग्नि में
और अग्नि सर्वोच्च देवता में
तब वह कुछ भी समझने में
असमर्थ हो जाता है

इसलिए वह समझ नहीं पाए
और अभेद्य था वह
घाटी के द्वार पर
स्थूल रहस्य की गठरी उठाए

श्रीमान मनीषी की आत्मा

पुराने समय में
इतिहास बताता है
वह चली जाती थी देह से
जब दिल की धड़कन रुक जाती थी

आखिरी साँस के साथ
वह चुपचाप चली जाती थी
स्वर्ग के नीले चरागाहों में

श्रीमान मनीषी की आत्मा
अलग ढंग से पेश आती है

उनके जीवन में वह छोड़ कर चली जाती है
उनकी देह
बिना कहे विदा का एक भी शब्द

महीनों वर्षों वह रहती है
दूसरे महाद्वीपों पर
श्रीमान मनीषी के
सीमाक्षेत्रों से बहुत दूर

उसका पता ढूँढ़ना बहुत मुश्किल होता है
वह अपनी कोई ख़बर नहीं भेजती
संपर्क करने से बचती है
पत्र नहीं लिखती

किसी को नहीं पता रहता कब वह लौटेगी
या कि हमेशा के लिए चली गई है वह

श्रीमान मनीषी संघर्ष करते हैं
ईर्ष्या की ओछी भावना से ऊपर उठने का

वह अपनी आत्मा का भला सोचते हैं
सोचते हैं उसके बारे में स्निग्धता से

बेशक वह रह रही होगी
दूसरों की देहों में

निश्चित ही बहुत कम हैं आत्माएँ
सारी मानवता के लिए

श्रीमान मनीषी स्वीकार कर लेते हैं अपना भाग्य
और कोई चारा भी तो नहीं

वह इतना कहने की चेष्टा भर करते हैं
मेरी अपनी आत्मा मेरी

वह आत्मा के बारे में बहुत स्नेह से सोचते हैं
बहुत कोमलता से सोचते हैं आत्मा के बारे में

इसलिए जब वह प्रकट होती है
अप्रत्याशित
वह उसका स्वागत नहीं करते इन शब्दों से
अच्छा हुआ तुम आ गईं

वह सिर्फ़ उसे देखते हैं एक कोण से
जब वह बैठती है दर्पण के सामने
बालों में कंघी करती
उलझे और सफ़ेद बालों में

श्रीमान मनीषी और वापसी

श्रीमान मनीषी ने
मन बना लिया है
अपनी मातृभूमि के
वक्ष में लौट जाने का

निर्णय नाटकीय है
वह पछतायेंगे बहुत कटुता से

लेकिन अब उनके बस का नहीं
हर रोज़ के खाली हाव-भाव सहना
—कैसे हो तुम
—तुम कैसे हो

पहली नज़र में आसान सवाल
जो माँगते हैं उलझे उत्तर

श्रीमान मनीषी फाड़ फेंकते हैं
शालीन उदासीनता की पट्टियाँ

उन्होंने प्रगति में विश्वास करना बंद कर दिया है
वह सिर्फ़ अपने घावों को लेकर चिंतित हैं

समृद्धि की दिखावटें
उन्हें भरती हैं बोरियत से
वह केवल कुछ ही चीज़ों से जुड़े
एक डोरियन शैली के खंभे से
सान क्ले में के चर्च से
एक विशेष महिला की तस्वीर से
एक पुस्तक से जिसे पढ़ने का उनके पास समय न था
और कुछ ऐसी ही साधारण चीज़ों से

इसलिए वह लौटते हैं
उन्हें अभी से दिख रही है
वह सीमा
एक जुता खेत
हत्यारे निशाने लगाने के बुर्ज
तारों की घनी झाड़ियाँ

और अभी से
वह
अकेले हैं
सब अभागों के
भंडार-गृह में

2

तो वह क्यों लौटते हैं
पूछते हैं मित्र
बेहतर दुनिया के

वह यहीं रह सकते थे
किसी तरह कर सकते थे गुज़ारा

घाव को छोड़ सकते थे
किसी दाग छुड़ाने वाले रसायन के सहारे

छोड़ सकते थे इसे पीछे
विशाल हवाई-अड्डों के प्रतीक्षा गृहों में
तो वह क्यों लौट रहे हैं

—बचपन के पानी को
—उलझी जड़ों को
—स्मृति की जकड़न को
—चेहरा हाथों को
समय की अँगीठी पर सिंका हुआ

पहली नज़र में वे आसान सवाल
माँगते हैं उलझे जवाब

शायद श्रीमान-मनीषी लौट रहे हैं
जवाब देने को

—भय की फुसफुसाहट को
—असंभव ख़ुशी को
—पीछे से दिए गए धक्के को
—मर्मांतक प्रश्न को

श्रीमान मनीषी और विचारों की गति

विचार गुज़रते हैं मस्तिष्क से
ऐसी लोकप्रिय धारणा है

लोकप्रिय धारणा
विचारों की गति को अधिक आँकती है

उनमें से अधिकतर
स्थिर खड़े रहते हैं
सूखे वृक्षों
राख के ढूहों वाले
मटमैले दृश्य के बीचोंबीच

कभी-कभार वे आते हैं
किसी दूसरे के विचारों की फट पड़ती नदी के निकट
किनारे पर खड़े रहते हैं
एक टाँग पर
भूखे बगुले की तरह

याद करते हैं वे दुख से
सूख गए झरनों को
घेरे में घूमते हैं वे
ढूँढ़ते एक दाने को

वे नहीं पार करते
क्योंकि वे कभी नहीं पहुँचेंगे
वे नहीं पार जाते
क्योंकि कोई जगह नहीं जाने को
वे पत्थरों पर बैठते हैं
हाथ मसलते

एक झुके
बदली भरे
कपाल के
आकाश तले

श्रीमान मनीषी और विशुद्ध विचार

श्रीमान मनीषी चेष्टा करते हैं
विशुद्ध विचार पाने की
कम से कम सोने से पहले

लेकिन चेष्टा में है
उनकी हार का बीज

जैसे ही वह पहुँचते हैं
उस अवस्था में जहाँ विचार है जल की तरह
विशाल और शुद्ध जल
उदासीन छोर पर

सहसा लहलहाने लगता है.जल
ले आती है एक धारा

टीन के डिब्बे
बहती लकड़ियाँ
बालों का एक गुच्छा

सच कहा जाए तो श्रीमान मनीषी
पूरी तरह गलती से परे नहीं हैं
वह असफल रहे
डाक-पेटी से
भीतरी आँख को अलग करने में,
उनके नथुनों में थी समुद्र की गंध
झींगुर छेड़ रहे थे उनके कान
और उन्हें अनुभव हो रही थीं
उसकी अनुपस्थित उँगलियाँ अपनी पसलियों के नीचे
साधारण थे वह बाकी सब की तरह
विचारों से सजे
कुर्सी की पीठ पर हाथ की त्वचा
कोमलता का खाँचा
गाल पर

कभी फिर
कभी बाद में जब वह बूढ़े हो जाएँगे
पहुँचेंगे आकस्मिक बोध-अवस्था को

और होंगे वैसे जैसा धर्मगुरु कहते हैं
खाली
और आश्चर्यजनक

श्रीमान मनीषी और लंबी आयु

श्रीमान मनीषी
स्वयं पर गर्व कर सकते हैं

उन्होंने बाकी कई जानवरों के
जीवन की सीमाएँ पार की हैं

जब एक मज़दूर मक्खी
सेवा-निवृत्त हो रही थी शाश्वत नींद में
दूध पीते मनीषी
बढ़िया स्वास्थ्य का आनंद ले रहे थे

जब क्रूर मृत्यु
ले जा रही थी घरेलू चहे को
वह ठीक हुए थे अभी-अभी काली खाँसी से
पाए थे शब्द और आग

यदि हमें विश्वास करना हो
पक्षियों के धर्मगुरुओं का
अबाबील की आत्मा
उड़ जाती है स्वर्ग को
दस पार्थिव वसंतों के आद

इस आयु में
बालक मनीषी
पढ़ रहे थे
प्राइमरी स्कूल की चौथी कक्षा में
गड़बड़ सफलता के साथ
और रुचि लेना शुरू कर चुके थे
महिलाओं में
फिर
उन्होंने दूसरा विश्वयुद्ध जीता
(एक संदिग्ध जीत) ठीक उस समय
जब एक बकरी
जा मिलती है स्वर्ग की बकरियों से

उनकी सफलताएँ कोई कम नहीं थीं
कुछेक तानाशाहों के बावजूद
उन्होंने पार की थी आधी सदी
रूबीकोन नदी की
खूनी
लेकिन जीवित

वह जीत गए
मछली से
मगरमच्छ से
केंकड़े से

अब वह पाते हैं स्वयं को
ईल मछली के
अंतिम क्षण
और हाथी के
अंतिम क्षण के बीच

यहाँ
सच कहा जाए तो
श्रीमान मनीषी की महत्त्वाकांक्षाएँ
खत्म हो जाती हैं

2
हाथी के साथ ताबूत साझा करना
उन्हें भयभीत नहीं करता बिलकुल भी
उन्हें भूख नहीं है लंबी आयु की
तोते की तरह
या उड़ते बाज़
या कवच ढँके कछुए
या बेवकूफ़ बत्तख की तरह
अंत तक
श्रीमान मनीषी चाहते हैं गाना
बीतते समय की सुंदरता का गीत

यही कारण है वे नहीं उकेरते गेली रॉयल
या पीते नहीं नशीले पेय
समझौता नहीं करते शैतान के साथ

एक अच्छे माली की सार-संभाल से
वह अपने चेहरे की झुर्रियाँ बनाते हैं

विनम्रता से स्वीकार करते हैं
नाड़ियों में जमा कैल्शियम

वह प्रसन्न हैं स्मृति के दोषों से
उन्हें बहुत कष्ट दिया था स्मृति ने

अमरता
बचपन से ही
उनमें पैदा करती थी
कँपा देने वाला भय

देवताओं से ईर्ष्या क्यों की जाय?
नैसर्गिक पेयों के लिए
गड़बड़ व्यवस्था के लिए
अतृप्त वासना के लिए

विशाल जम्हाई के लिए

श्रीमान मनीषी बताते हैं स्पिनोज़ा के प्रलोभन के बारे में

एमस्टरडम का बारूच स्पिनोज़ा
भर गया था ईश्वर तक पहुँचने की लालसा से

परछत्ती में
लेंस काटते हुए
अचानक उसने फाड़ा एक परदा
और आमने-सामने खड़ा रह गया

काफ़ी देर तक वह बोलता रहा
(और जब बोल रहा था
उसका मस्तिष्क बड़ा हो गया
और आत्मा भी)
उसने प्रश्न पूछे
मनुष्य की प्रकृति के बारे में

भटके-से ईश्वर दाढ़ी खुजाते रहे

उसने पूछा प्रथम कारण के बारे में

ईश्वर देखने लगे अनंत में

ईश्वर ने अपनी उँगलियों के पटाखे निकाले
गला साफ़ किया

जब स्पिनोज़ा चुप हुआ
ईश्वर बोले
—तुम अच्छा बोल लेते हो बारूच
मुझे तुम्हारी ज्यामितिक लैटिन अच्छी लगी
और स्पष्ट वाक्य-प्रबंध भी
तुम्हारी दलीलों का संतुलन भी

बहरहाल हम बात करें
सचमुच महान
चीज़ों की

—अपने हाथ देखो
कटे हुए और काँपते

—तुमने अपनी आँखें
बेकार कर ली हैं अँधेरे में

—तुम कुपोषण के मारे हो
खराब कपड़े पहनते हो

—एक नया घर खरीदो
वही दृश्य दोहराने के लिए
वेनेशियन शीशों को माफ़ करो

—बालों में फूलों को माफ़ करो
शराबी के गीत को

—अपनी तनख़्वाह का ख़्याल रखो
अपने साथी डेसाकार्टेस की तरह

—चालाक बनो
एरास्मस की तरह

—लुई सोलहवें को
समर्पित करो एक शोध-प्रबंध
वैसे भी वह उसे पढ़ेगा नहीं

—शांत करो
अपना सच्चा क्रोध
सिंहासन गिर जाएँगे इसके कारण
काले पड़े जाएँगे सितारे

—सोचो
उस स्त्री के बारे में
जो तुम्हें संतान देगी

—तुम देख रहे हो बारूच
हम महान चीज़ों के बारे में बात कर रहे हैं

—मैं चाहता हूँ
अशिक्षितों और हिंसकों द्वारा प्रेम किया जाना
सिर्फ़ वे हैं
जो सचमुच मेरे लिए भूखे हैं

अब परदा गिरता है
स्पिनोज़ा अकेला रह गया है

वह नहीं देखता सुनहरा बादल
प्रकाश ऊँचाई पर

वह देखता है अंधकार

सुनता है सीढ़ियों की चरमराहट
कदमों के नीचे जाने की

श्रीमान मनीषी और पॉप

एक पॉप कन्सर्ट के दौरान
श्रीमान मनीषी विचार करते हैं
शोर के सौंदर्य-शास्त्र पर

एक विचार जो स्वयं में
काफ़ी आकर्षक है

ईश्वर होने के मानी हैं
वज्रपात गिराना

या कम मिथिहासिक तौर पर कहें
मूल तत्त्वों की जीभ निगल लेना

हिमर को अपदस्थ करना
एक भूकंप से
होरेस को
पत्थरों के एक अंधड़ से

अँतड़ियों से खींच बाहर करना
जो अँतड़ियों में है
भय और भूख

उघाड़ना रास्ता
आँत का
उघाड़ना रास्ता
साँस का
अनावृत करना रास्ता
कामना का
लाल कंठ पर बजाना
उत्तेजक प्रेम गीत

2
मुश्किल यह है
कि चीख़ छलती है आकार को
कहीं अधिक बुरी है वाणी
जो उठती है गिरती है

चीख़ छूती है मौन को
लेकिन फटी आवाज़ से
न कि आकांक्षा से
कि मौन का वर्णन कर सके

यह फूहड़ अँधेरा है
मुखरता की शक्तिहीनता

इसने अस्वीकार कर दिया है हास्य का अनुग्रह
क्योंकि इसे नहीं मालूम अर्द्ध-स्वर

यह ब्लेड की तरह है
रहस्य में घुँपती
रहस्य के गिर्द
पता नहीं चलता इसे इसके आकारों का

यह व्यक्त करती है भावनाओं का सत्य
निर्जन पार्कों में

ढूँढ़ती है एक खोया हुआ स्वर्ग
व्यवस्था के नए जंगलों में

प्रार्थना करती है एक हिंसक मृत्यु के लिए
और वह स्वीकार होती है

कभी-कभी श्रीमान मनीषी को विचित्र पत्र मिलते हैं

श्रीमती एमीलिया डार्मस्टाड से
माँगती हैं मदद
अपने परदादा के परदादा
लुडविग प्रथम को ढूँढ़ने में

वह गुम गए थे
बाकी कइयों की तरह
युद्ध के हंगामे में

वह आखिरी बार
देखे गए थे
हेलेनिया गोरा के इलाके में
अपने परिवार की एस्टेट पर

श्रीमान मनीषी
को अच्छी तरह याद है
1944 की भीषण सर्दी
लपटों से घिरी

परदादा के परदादा
धंधे से ग्रॉसहरज़ोग
रहते थे उस समय
एक चौखटे के भीतर

वह खड़े थे
बगीचे की कुटिया के सामने
सफ़ेद पैंट की
वर्दी में

उनके दाएँ
एक टूटा बुर्ज
पृष्ठभूमि में
एक काला तूफ़ानी दिन
क्षितिज में एक चमकदार लकीर लिए

श्रीमान मनीषी
सोचते हैं
बिना व्यंग्य के अंश के
अपने परदादा के परदादा की मृत्यु के बारे में

क्या उन्होंने नहीं खोया
अपना सर्द रक्त
जब अग्निकांड
चढ़ा हुआ था मुँडेर पर

क्या वह नहीं चिल्लाए थे
जब उन्हें ले जाया जा रहा था दालान में से घसीट कर
क्या वह नहीं गिरे थे
अपने घुटनों के बल मिन्नतें करते
जब उन्होंने निशाना बनाया
उनके वक्ष के महान सितारे* को

श्रीमान मनीषी की
कल्पना-शक्ति
छोटी है धुंध में खोए
रोगी-वाहक की तरह

वह नहीं देखते
मुख

श्रीमान मनीषी और एक निश्चित आयु का कवि

1
एक कवि युवावस्था के बाद
एक विचित्र घटना

2
वह स्वयं को देखता है दर्पण में
दर्पण तोड़ता है

3
एक चंद्रहीन रात में
वह डुबोता है अपना जन्म प्रमाण-पत्र काले तालाब में

---

* डेविड का सितारा, जिसे नात्सी काल में यहूदियों को पहनने पर मजबूर किया जाता था।

4
वह देखता है नवयुवकों को
नकल करता है कैसे वे कूल्हे मटकाते हैं

5
वह अध्यक्षता करता है
स्वतंत्र ट्रॉट्स्कीवादियों की एक सभा की
भड़काता है उन्हें आगजनी के लिए

6
वह लिखता है पत्र
सौरमण्डल के अध्यक्ष को
निजी स्वीकारोक्तियों से भरा

7
एक निश्चित आयु का कवि
एक अनिश्चित समय के बीच

8
पैंसी और दूसरे फूल
उगाने की जगह
वह बोता है काँटेदार हाय-तौबा
अपशब्द और शोध-प्रबंध

9
वह एक के बाद एक पढ़ता है
इसाया और दास कैपीताल
फिर बहस के उत्साह में
गड्डमड्ड कर देता है उद्धरण

10
एक कवि जीवन के अस्पष्ट समय पर
विदा ले रहे ईरोस* और थानातोस* के बीच
जो अभी उठा नहीं पत्थर में से

* ईरोस–प्रेम का यूनानी देवता
* थानातोस–मृत्यु का यूनानी देवता

11
वह हशीश पीता है
लेकिन देखता नहीं
अनंत

फूल या झरना
वह देखता है जुलूस
सिर ढँके भिक्षुओं का
बुझी मशालें लिए
पहाड़ी पर चढ़ते हुए

12
एक निश्चित आयु का कवि
याद करता है अपना स्निग्ध बचपन
अपनी समृद्ध युवावस्था
अपना शर्मनाक पौरुष

13
वह खेलता है
फ्रॉयड के खेल
वह खेलता है
आशा का खेल
वह खेलता है
लाल और काले से
वह खेलता है
मांस और हड्डियों से
वह खेलता है और हार जाता है
वह हँसने लगता है मक्कार हँसी

14
सिर्फ़ अब जाकर वह समझ सका है अपने पिता को
क्षमा नहीं कर सकता अपनी बहन को
जो भाग गई एक अभिनेता के साथ
ईर्ष्या करता है अपने छोटे भाई से
अपनी माँ की तसवीर पर झुके
एक बार फिर वह उसे मनाने की

चेष्टा करता है
एक बार और गर्भ धारण करने को

15
उसके स्वप्न
वयःसंधि के मगर अगंभीर
दीक्षा से पहले धर्मगुरु
उभरी वस्तुएँ
और पहुँच से बाहर जादि्ज़या

16
तड़के वह देखता है
अपने हाथ
वह चकित है छाल के समान
अपनी त्वचा पर

17
युवा नीले आकाश के सामने
सफ़ेद वृक्ष उसकी नसों का

□

साहित्यिक अभिप्राय और भारतीय साहित्यशास्त्र में उसका स्वरूप-दर्शन

जनार्दन उपाध्याय

पिछले लगभग तीन-चार दशकों से हिंदी साहित्यानुशीलन में 'साहित्यिक-अभिप्राय' शब्द का व्यवहार दिखाई पड़ता है। फिर भी इसका इतना प्रचलन अभी नहीं हुआ है कि साहित्य के सर्व सामान्य अध्येताओं के लिए इसका समग्र अर्थबोध सुगम और स्वाभाविक हो। साहित्यिक गवेषणा के व्यापक क्षेत्र में 'साहित्यिक अभिप्राय' पद पारिभाषिक पद के स्तर तक पहुँच गया है यह मान्यता असंदिग्ध और निर्विवाद है। इसे अँग्रेजी के 'लिटरेरी मोटिफ' (Literary Motif) पद का समानार्थी भी माना जा रहा है, जो युक्तिसंगत है। 'साहित्यिक अभिप्राय' पद का 'साहित्यिक' शब्द रचनात्मक शब्दार्थ-व्यापार अथवा काव्यात्मकता के अर्थ का वाहक है। अँग्रेजी के 'लिटरेचर' शब्द से इसी के समानांतर 'लिटरेरी' शब्द निर्मित हुआ है। दूसरा शब्द 'अभिप्राय' सामान्य रूप से उद्देश्य, प्रयोजन, तात्पर्य, इच्छा आदि शब्दों का समानार्थी है। अमरकोश में अभिप्राय का अर्थ 'छंद' या 'आशय' बताया गया है।[1] 'साहित्यिक अभिप्राय' पद में 'अभिप्राय' शब्द का अर्थ परंपरागत तत्त्व या रूढ़ि का समीपवर्ती है। यह तो भाषिक अन्वेषण का विषय है कि अभिप्राय का उपर्युक्त (तात्पर्य, आशय आदि) अर्थ ही संकुचित या रूढ़ होकर इस अर्थ तक पहुँचा है अथवा यह पहले से ही अभिप्राय के दूसरे अर्थ के रूप में अस्तित्व में था। मेरी सुनिश्चित धारणा है कि अभिप्राय का सामान्य और व्यापक अर्थ ही कालांतर में प्रस्तुत अर्थ के रूप में विशेषार्थवाची अथवा रूढ़ार्थवाची हो गया। प्राचीन वाङ्मय में अभिप्राय के प्रस्तुत अर्थ की अलभ्यता तो मेरी इस मान्यता का आधार है ही, साथ ही कला एवं साहित्य-सर्जन के क्षेत्र में कलाकार एवं साहित्यकार की दृष्टि से भी अभिप्राय शब्द की यह अर्थ-यात्रा स्वाभाविक और विश्वसनीय लगती है।

'अभिप्राय' शब्द मुख्य रूप से कलाओं और लोक गाथाओं के सैद्धांतिक विवेचन से संबद्ध रहा है। सुप्रसिद्ध कलामर्मज्ञ श्री रायकृष्णदास ने 'अभिप्राय' को कला के विचार से पारिभाषित करते हुए लिखा है—'कला में अभिप्राय का अर्थ होता है, कोई चल या अचल, सजीव या निर्जीव, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु, जिसकी अलंकृति एवं अतिरंजित आकृति मुख्यतः सजावट के लिए किसी कलाकृति में बनाई जाए।'[2] इस कथन के प्रारंभिक शब्दों में यह स्पष्ट ध्वनि है कि अभिप्राय का जो सामान्य अर्थ है उसका वही अर्थ कला में ग्राह्य नहीं है, अपितु कला के क्षेत्र में उसका एक अलग और विशिष्ट अर्थ भी है। उस विशिष्ट अर्थ के अनुसार अभिप्राय कला के उन तत्त्वों को कहते हैं जो सजावट के लिए प्रायः व्यवहृत होते हैं। विभिन्न कलाकृतियों में सौंदर्य एवं सज्जा के उद्देश्य से अपनाए जाने वाले अवयव बार-बार प्रयुक्त होकर अभिप्राय बन जाते हैं। वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला और संगीतकला आदि में अभिप्राय का प्रकट अस्तित्व मिलता है। यों तो विविध कलाओं के मर्मज्ञ ही उनके अभिप्रायों का सूक्ष्म परिज्ञान रखते हैं, किंतु सामान्य एवं स्थूल दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वास्तुकला में मस्जिद, मंदिर, गिरजाघर आदि के निर्माण में परंपरागत रूप से बनने वाले अंग अभिप्राय हैं। मूर्तिकला में वंशी बजाते हुए श्रीकृष्ण की मूर्ति प्रायः त्रिभंगी मुद्रा में ही बनाना अभिप्राय है तथा चित्रकला में सूर्योदय के चित्रण में खिलते हुए

1. 'अभिप्रायश्छन्दमाशयः—अमरकोश/संकीर्ण वर्ग/तृतीय खण्ड/20
2. रायकृष्ण दास—भारत की चित्रकला (द्रष्टव्य—पारिभाषिक शब्द सूची के अंतर्गत 'अभिप्राय' शब्द की व्याख्या)

कमल तथा बोलते हुए पक्षी की आकृति बनाना अभिप्राय है। जब इन्हीं मान्य तत्त्वों का भाव या विचार के स्तर पर अवतरण हुआ तो अभिप्राय की यही अर्थवत्ता शब्दार्थमयी रचनाओं में भी आ गई और इस तरह अभिप्राय की परिभाषा व्यापक हो गई। पाश्चात्य विद्वान् जे. शिप्ले ने मोटिफ की ऐसी ही व्यापक परिभाषा की है—'अभिप्राय उस शब्द अथवा एक साँचे में ढले हुए विचार को कहते हैं जो समान परिस्थितियों में अथवा समान मनःस्थिति और समान प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों में बार-बार आता है।'[1] इस प्रकार एक तरफ तो कलाओं में अभिप्राय के अर्थ को व्याप्ति की ओर ले जाते हुए शब्दार्थमयी रचनाओं तक में इसे लागू किया गया और दूसरी तरफ साहित्य-रचना या काव्य-रचना को भी कलाओं के अंतर्गत माना जाने लगा। जिस प्रकार उपर्युक्त कलाएँ हैं और उनके अभिप्राय या मोटिफ हैं, उसी प्रकार साहित्य-रचना भी एक कला है और इसके भी अभिप्राय होते हैं, जिन्हें 'साहित्यिक अभिप्राय' (लिटरेरी मोटिफ) के नाम से अभिहित किया गया है। हिंदी साहित्य कोश में भी साहित्यिक अभिप्राय के बारे में लगभग ऐसी ही बात कही गई है—'सामान्यतया रूढ़ि और अभिप्राय का प्रयोग एक दूसरे के पर्याय के रूप में किया जाता है। प्रत्येक देश के साहित्य में भी अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोग के कारण कुछ साहित्य संबंधी रूढ़ियाँ बन जाती हैं और यांत्रिक ढंग से उनका प्रयोग साहित्य में होने लगता है। इन सभी रूढ़ियों को साहित्यिक अभिप्राय कहते हैं।'[2] हिंदी साहित्य कोश की अभिप्रायविषयक उक्त परिभाषा में सौंदर्य-सृष्टि के लिए कला के परंपरागत तत्त्वों के व्यवहार पर बहुत कम बल दिया गया है और रचना के किसी सुनिश्चित रूप के अंकन को संपन्न करने के लिए परंपरा-प्रचलित जीर्ण तत्त्वों के पुनःपुनः आवृत्ति पर कुछ अधिक बल दिया गया है। कलागत चेतना पर बल कम देते हुए साहित्यिक अभिप्राय की जो परिभाषा हिंदी साहित्य कोश में दी गई है, उसमें किंचित् अतिवादिता की गंध आती है और यही कारण है कि साहित्यिक अभिप्राय को साहित्यिक रूढ़ि का पर्याय मान लिया गया है। फिर भी साहित्यिक अभिप्राय की काफी कुछ पहचान इस परिभाषा से होती है, इसमें संदेह नहीं। हम ऐसा मानना अधिक समीचीन समझते हैं कि साहित्यिक अभिप्राय साहित्यिक रूढ़ि का पूर्व सोपान है और उसकी अपेक्षा सूक्ष्म और अधिक रचनाशक्ति रखता है।

यद्यपि कला के सैद्धांतिक विवेचन में 'अभिप्राय' शब्द का व्यवहार पहले हुआ और वही व्यवहार साहित्य-रचना की कला मानने के साथ-साथ साहित्य में भी होने लगा, तथापि यह ध्यान देने की बात है कि साहित्य में भी लोक-साहित्य के अनुशीलन में यह शब्द पहले चर्चित हुआ और आभिजात्य साहित्य के अनुशीलन में अपेक्षाकृत बाद में। दूसरी बात यह भी है कि साहित्यिक अनुशीलन में 'अभिप्राय' शब्द प्रायः मात्र कथाभिप्राय (फिक्शन मोटिफ) का वाचक बन कर आया। इसका कारण यह था कि लोक-साहित्य के अध्ययन में भी अभिप्राय की चर्चा पहले बहुत दिनों तक लोक गाथाओं के संबंध में ही होती रही है और यहीं से जब यह शब्द आभिजात्य साहित्य के अनुशीलन में पहुँचा तो वहाँ भी यह कथातत्त्व के प्रसंग में ही चर्चित हुआ। साहित्य के क्षेत्र में प्रथमतः और अधिकांशतः अभिप्राय का अध्ययन लोकगाथा और कथा साहित्य के संदर्भ में ही हुआ, जिसमें स्वाभाविक रूप में कथा संबंधी अभिप्रायों की प्रधानता रहती है। अस्तु अभिप्राय या मोटिफ का अर्थ कथाभिप्राय या कथानक रूढ़ि माना जाने लगा। पाश्चात्य विद्वान् स्थिथ थामसन तथा भारतीय विद्वानों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा. सत्येन्द्र, डा. वासुदेवशरण अग्रवाल तथा डा. कृष्णदेव उपाध्याय आदि ने अभिप्राय की जो परिभाषाएँ दी हैं वे केवल कथातत्त्व को दृष्टि में रखकर दी गई हैं और उससे मात्र कथाभिप्राय का बोध होता है, जो साहित्यिक अभिप्राय का एक अंग मात्र है; उसके संपूर्ण अंगों का परिचायक नहीं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अभिप्राय के संबंध में कहा है—'हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति एवं घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय दीर्घकाल से व्यवहृत होते आ रहे हैं, जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और आगे चलकर कथानक रूढ़ियों में बदल गए हैं?'।[3] किंतु ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि साहित्य सृजन में काम आने वाली रचना के उन परंपरागत तत्त्वों की पहचान साहित्यिक अभिप्राय के अंग के रूप में तब तक नहीं हो सकी थी, जिन्हें इसमें समाविष्ट करना अथवा इसके अंग के रूप में स्वीकारना कार्य और गुण के विचार से सहज संभव था। 'अभिप्राय' शब्द कलाओं और कथाओं से संबंधित

1. डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेचर, जे शिप्ले
2. हिंदी साहित्य कोश, भाग एक, पृष्ठ 205
3. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य का आदि काल, पृष्ठ 74

था, परंतु जब साहित्यानुशीलन में यही तत्त्व साहित्य के अभिप्राय के रूप में सामने आया तो बहुत दिनों तक मात्र कथाभिप्राय का ही बोधक बना रहा। काव्य-रचना के अन्य परंपरागत तत्त्वों के इसके अंतर्गत समावेश की पर्याप्त संभावना थी और आज भी है। साहित्यिक अभिप्राय शब्द भले ही साहित्यानुशीलन के क्षेत्र में इतना प्राचीन न हो, किंतु इसके अवयवों का अस्तित्व साहित्य में किसी न किसी रूप में हमेशा से रहा है। भारतीय साहित्य में इसे संस्कृत के प्राचीनतम ग्रंथों से लेकर हिंदी के अधुनातन साहित्य में भी देखा जा सकता है। साथ ही अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य में भी इसके पाए जाने की उतनी ही सम्भावनाएँ हैं। विदेशी भाषाओं के साहित्य में भी इसकी स्थिति प्रचुर मात्रा में मिलती है। इस प्रकार साहित्यिक अभिप्राय का अस्तित्व संपूर्ण विश्व साहित्य में है। साहित्यिक अभिप्रायों का विनियोग साहित्यकार की रचना-प्रक्रिया का सहज धर्म है।

प्रश्न उठता है कि कौन-कौन से ऐसे रचना धर्म हैं, जिन्हें साहित्यिक अभिप्राय की अर्थ सीमा में समाविष्ट किया जा सकता है और जो किसी न किसी रूप में भारतीय साहित्यशास्त्रीय विवेचन में गृहीत हैं। साहित्यिक अभिप्राय की दृष्टि से तुलसी-साहित्य का शोधपरक अध्ययन करते समय प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया था। अपनी कृति को रचनात्मक बनाने के उद्देश्य से अथवा अनजाने में ही रचनाकार ऐसे अनेक कथनों, पद्धतियों, उक्तियों तथा काव्यांगों का व्यवहार करता चलता है, जो उसे परंपरा से मिले हुए रहते हैं। ये रचना धर्म ही अभिप्राय हैं और इनके सामान्य रूप से निम्नलिखित प्रकार माने जा सकते हैं—

1. कथाभिप्राय या कथात्मक अभिप्राय (फिक्शन मोटिफ)
2. मिथकीय अभिप्राय या पुराकथात्मक अभिप्राय (मिथिकल मोटिफ)
3. कविसमय या कविप्रसिद्धियाँ (प्वेटिक कन्वेन्शन्स)
4. वर्णनात्मक अभिप्राय (डिस्क्रिप्टिव मोटिफ)
5. साहित्य रूप संबंधी अभिप्राय (मोटिफ ऑफ फार्म)

इनमें से प्रत्येक में छोटे-बड़े अनेक अभिप्राय तत्त्व सम्मिलित किए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त रस-योजना, अलंकार-विधान, छंद-प्रयोग तथा ऐसे ही अन्य काव्यांगों के व्यवहार में परंपराश्रित मान्यता का अनुसरण करने से कई अभिप्राय रचनाओं में दिखाई पड़ते हैं।

उपर्युक्त अभिप्राय प्रकारों में प्रथम है—कथाभिप्राय। मात्र इसे ही बहुत दिनों तक अभिप्राय माना गया। कथाभिप्राय ऐसे कल्पित लघु कथाखंडों के निजंधरी वृत्तों को कहते हैं जिनकी सहायता से अभीष्ट घटनाओं की सहजता और स्वाभाविकता से योग किया जाता है। कथा-ग्रंथों, आख्यायिकाओं तथा प्रबंधों की कथाओं में कथा-विन्यास के लिए इसकी उपयोगिता उल्लेखनीय है। परकाया-प्रवेश, पुनर्जन्म तथा मृगयारत राजकुमार का शिकार का पीछा करते हुए पिपासातुर होकर जंगल में भटक जाना आदि बहुप्रचलित कथाभिप्राय हैं। इनकी सहायता से कथाकार पात्र को पूर्व स्थान से ऐसे स्थान पर पहुँचा देता है जहाँ ले जाना उसे अभीष्ट है और जहाँ से कथा आगे बढ़ सकती है। कथासरित्सागर, वृहत्कथा, पंचतंत्र तथा कादम्बरी आदि संस्कृत ग्रंथों में इनका प्रचुरता से व्यवहार हुआ है। इतना ही नहीं, महाकाव्यों और नाटकों में भी रचयिताओं ने इस तत्त्व का उपयोग किया है। प्रसिद्ध लोकगाथाओं से ही कथाभिप्राय जन्म लेते हैं। कथा-रूढ़ि, कथा परिधान, कथारूप, कथा के रूढ़तंतु, प्ररूढ़ि, कथा-मोड़क संकेत आदि कथाभिप्राय के ही अपर अभिधान हैं। मारिस ब्रूक ब्लूमफील्ड, पेंजर, वेनी फी, टानी, बेबर, नार्मन ब्राउन, रुथ नार्टन, टेम्पिल, स्टील तथा वेरियर एलविन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा. वासुदेवशरण अग्रवाल, डा. सावित्री सरीन, डा. नामवर सिंह, डा. ब्रजविलास श्रीवास्तव, डा. रवीन्द्र भ्रमर, डा. कन्हैयालाल सहल तथा डा. विजय कुलश्रेष्ठ आदि ने भारतीय कथाभिप्रायों के अध्ययन की दिशा में पर्याप्त कार्य किया है। मिथकीय अभिप्राय को भी कथाभिप्राय के समकक्ष माना जा सकता है। यह कथाभिप्राय से केवल इसी बात में भिन्न है कि इसमें ऐसी प्राचीन ग्रंथों की पुराकथाओं के अभिप्राय आते हैं, जो ग्रंथ लोगों की श्रद्धा और विश्वास के केंद्र हैं मिथकीय अभिप्राय से आशय उन विश्वासों से है, जो सीमातीत चमत्कार से युक्त होने के कारण प्रकट रूप से तो सत्य नहीं प्रतीत होते, किंतु हम अपनी आस्तिक भावना के कारण सत्य ही मानते हैं; जैसे काम और रति को सौंदर्य की दृष्टि से पुरुष और स्त्री का आदर्श मानना, अगस्त्य का समुद्र-पान, गरुड़ का द्रुत वेग, कामधेनु और कल्पतरु में अभीष्ट प्रदान की क्षमता आदि। पुराणों तथा अन्य कई धार्मिक ग्रंथों में भी ये अभिप्राय भरे पड़े हैं। उक्त दोनों प्रकार के अभिप्रायों का यहाँ की साहित्यिक रचनाओं में तो पर्याप्त व्यवहार हुआ है, किंतु प्राचीन भारतीय साहित्य शास्त्र में इनका सैद्धांतिक उल्लेख

अब तक जितना कुछ मिला है वह नगण्य सा है।

साहित्यिक अभिप्राय के रूप में हम कविसमय या कविप्रसिद्धि को ले सकते हैं। कविसमय की पर्याप्त चर्चा संस्कृत साहित्य शास्त्र में हुई है। आचार्य राजशेखर[1] ने अपने अलंकार ग्रंथ 'काव्य मीमांसा' में कवियों के द्वारा किए जाने वाले उन अर्थों के उपनिबंधन को कविसमय कहा है, जो अशास्त्रीय और अलौकिक हैं किंतु जो परंपरा में प्राप्त हैं। उन्होंने इसके स्वर्ग्य, भौम, और पातालीय नाम के तीन भेद बताए हैं।[2] इनमें से प्रत्येक को उन्होंने जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया के विचार से चार भागों में विभक्त किया है।[3] राजशेखर ने कई पृष्ठों में ऐसे लगभग सैकड़ों कविसमयों के बारे में बताया है जो साहित्य में व्यवहृत होते रहे; यथा—काम की पताका में मकर और मत्स्य दोनों की स्थिति का वर्णन, चकोर का चन्द्रिका-पान, चक्रवाक युग्म का निशा-वियोग तथा हंस का नीर-क्षीर-विवेक आदि। राजशेखर के अतिरिक्त विश्वनाथ कविराज ने भी कविसमय का उल्लेख किया है।[4] कविसमय के संबंध में अपभ्रंश भाषा के साहित्य शास्त्री हेमचंद्र तथा हिंदी लक्षण ग्रंथकार आचार्य कवि केशवदास ने भी लिखा है।[5] कवि प्रसिद्धि के राजशेखर कृत विस्तृत विवेचन का ही आधार लेकर डा. गंगानाथ झा ने अपनी 'कवि-रहस्य' नामक पुस्तक में कविसमयों के बारे में लिखा है।[6] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस विषय पर विद्यापीठ पत्रिका में कविप्रसिद्धि नामक लेख लिखा है।[7] श्री दिवाकर मणि त्रिपाठी ने 'कवि परिपाटी' नामक अपनी पुस्तक में 'कवियों के देश में' शीर्षक से कविप्रसिद्ध पर एक अध्याय ही प्रस्तुत किया है।[8] डा. विष्णु स्वरूप के शोध-प्रबंध 'कविसमय-मीसांसा' का आधार भी राजशेखर की काव्य-मीमांसा ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि कविसमय जिसे हम साहित्यिक अभिप्राय का एक महत्त्वपूर्ण अंग मान सकते हैं, पहले से ही साहित्यशास्त्रियों द्वारा पर्याप्त चर्चित था। इतना ही नहीं कविप्रसिद्धि की चर्चा परोक्ष रूप में काव्य-दोष और काव्य-निषेध के प्रसंग में भी यदा-कदा हुई है और लक्षण ग्रंथकारों ने 'प्रसिद्धि विरुद्धता दोष' तथा 'कवि समय के उल्लंघन के निषेध' की बातें भी कही हैं।[9]

वर्णनात्मक अभिप्राय (डिस्क्रिप्टिव मोटिफ) से आशय वर्ण्य वस्तुओं के वर्णन की निर्दिष्ट प्रणाली से है। संस्कृत साहित्य के कवि-शिक्षा संबंधी प्रसंगों में ऐसे निर्देश यथेष्ट मात्रा में दिए गए हैं। शास्त्रकारों ने अपने समय तक के उत्तम साहित्य ग्रंथों से ही संकलित करके ऐसे नियम निर्देश दिए होंगे। आज वे युग-परिवर्तन के साथ भले ही कम उपयोगी और अपेक्षाकृत कम रमणीय लगें किंतु जिस समय इन्हें शास्त्रबद्ध किया गया उस समय ये अवश्य ही वर्णन की उत्तमता, समग्रता और चारुता का सफल प्रतिनिधित्व करने वाले रहे होंगे। इसका भी सर्वप्रथम विवेचन राजशेखर ने ही किया।[10] आचार्य केशव मिश्र ने भी कविशिक्षा पर विस्तृत विचार करते हुए कवि के लिए वर्णनीय वस्तुओं की रूपरेखा नियत कर दी है।[11] हिंदी के आचार्य कवि केशवदास ने इन वर्णकों का पुनराख्यान सामान्यालंकार विवेचन के अंतर्गत किया है।[12] कविशिक्षा के विवेचन में कभी-कभी कविप्रसिद्धियाँ भी समाविष्ट दिखाई पड़ती हैं।

साहित्यरूप से संबंधित अभिप्रायों के स्रोत भी संस्कृत के अलंकार ग्रंथ ही हैं। महाकाव्य के लक्षण सभी मुख्य काव्याचार्यों ने गिनाए हैं। इसी प्रकार खण्डकाव्य और मुक्तक के लक्षणों के बारे में भी न्यूनाधिक उल्लेख मिलता ही है। साहित्यकारों के द्वारा इनके अनुपालन में कुछ लक्षणों की लोकप्रियता इस सीमा तक बढ़ी कि उनका व्यवहार अपरिहार्य सा हो गया, वे अभिप्राय की स्थिति तक पहुँच गए। इस प्रक्रिया में उनमें कुछ न कुछ संशोधन-परिवर्धन भी हुआ। यही अभिप्राय प्रबंधों में प्रबंधरूढ़ि के नाम से और मुक्तकों में मुक्तक रूढ़ि के नाम से जाने गए। मंगलाचरण, समकालीन सम्राट् का स्मरण, आत्मलघुताकथन, काव्य विषयक अज्ञानता की अभिव्यक्ति, पूर्व कवियों का स्मरण तथा रचना काल का कथन आदि ऐसी ही प्रबंध रूढ़ियाँ हैं जो काव्य-रूपगत अभिप्राय में समाविष्ट की जा सकती हैं। मुक्तकों में कवि की नाम मुद्रा, छंदों की निश्चित संख्या, पद-रचना करना

1. अशास्त्रीयं अलौकिकं च परंपरायातं यमर्थं उपनिबंधनन्ति कवयः सः कविसमयः —राजशेखर, काव्यमीमांसा, अध्याय 4
2. स च त्रिधा, स्वर्ग्यो भौमः पातालीयश्च—काव्यमीमांसा, चतुर्थ अध्याय
3. स च चतुर्धा जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया रूपार्थतया—काव्यमीमांसा, चतुर्थ अध्याय
4. साहित्य दर्पण, 7/22-25
5. हेमचंद्र काव्यानुशासन, प्रथम अध्याय तथा केशवदास कृत कविप्रिया, चौथा प्रभाव, 4-16
6. डा. गंगानाथ झा, कवि रहस्य, पृष्ठ 77-79
7. विद्यापीठ पत्रिका, आषाढ़ 1993 विक्रमी (द्रष्टव्य 'कविप्रसिद्ध' नामक लेख)
8. दिवाकर मणि त्रिपाठी, कवि परिपाटी, पृष्ठ 181 से 204
9. भिखारीदास, काव्य निर्णय, तेईसवाँ उल्लास, पृष्ठ 661
10. राजशेखर, काव्यमीमांसा, अध्याय 7,8
11. अलंकार शेखर षष्ठ रत्न, द्वितीय मरीचि
12. केशवदास, कविप्रिया, पाँचवाँ प्रभाव।

आदि भी काव्य-रूप के अभिप्राय के अंतर्गत आने वाली प्रवृत्तियाँ हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न रसों के प्रसंगगत रूढ़ प्रयोग, अलंकारों के वर्णनगत रूढ़ व्यवहार आदि में भी कई सूक्ष्म साहित्यिक अभिप्रायों की संभावना विद्यमान है।

साहित्यिक अभिप्राय की परिधि में आ सकने वाले जिन-जिन रचनाधर्मों का परिज्ञान अब तक हुआ है, उनमें से अधिकांश भारतीय साहित्य शास्त्र में पहले से ही किसी न किसी रूप में विवेचित मिलते हैं। यद्यपि कवि समय और कवि-शिक्षा के व्याख्याता आचार्यों ने इसे स्वतंत्र विषय के रूप में रखा, फिर भी चूँकि यह साहित्यिक अभिप्राय की परिधि में आते हैं इसलिए इन आचार्यों को ही साहित्यिक अभिप्राय का प्रारंभिक व्याख्याकार माना जाना चाहिए। साहित्यिक अभिप्राय के अधिकांश तत्त्वों का स्वरूप-दर्शन भारतीय साहित्यशास्त्र में होता है और ऐसा विश्वास है कि इसमें जिन तत्त्वों की स्थिति अभी तक नहीं पाई गई है, वे भी भविष्य में भारतीय साहित्य-शास्त्र के विस्तृत अध्ययन के अनंतर प्राप्त हो सकेंगे। □

भारतीय लोक-साहित्य में महाभारत

विद्याबिन्दु सिंह

महाभारत को भारतीय साहित्य का स्रोत ग्रंथ कहा जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार महाभारत मौखिक परंपरा में प्राप्त हुआ और बाद में लिपिबद्ध हुआ। महाभारत और अन्य पुराणों के पूरे पाठ की साहित्य में यह परंपरा निरंतर बनी रही। क्योंकि महाभारत में मानवीय संबंधों और सोच का जो एक विस्तृत फलक दिया गया है उसकी छाप भारतीय मन पर बहुत गहरी पड़ी। महाभारत केवल एक सीमित क्षेत्र का काव्य नहीं है, इसके विशाल फलक में संपूर्ण विश्व और चर-अचर सृष्टि समाहित है। इसमें वैदिक युग से परंपरा से प्राप्त अनेकानेक मिथक, पुराकथाएँ प्रस्तुत हुई हैं और वे लोक-साहित्य में भी विस्तार पाती गईं। महाभारत के नीति संबंधी आख्यान, लोक कथाओं, गीतों, कहावतों के रूप में विकसित होते गए।

जो कथाएँ महाभारत में जुड़ी हैं वे अधिकतर लोक जीवन में प्रचलित रही होंगी, क्योंकि महाभारत जिन नाराशंसी गाथाओं के उपादानों से बना, वे नाराशंसी गाथाएँ एक प्रकार से लोकगाथाएँ ही तो थीं। क्योंकि एक तो वे किसी पूर्वज के श्राद्ध के समय गायी जाती थीं अर्थात् मनुष्य की कीर्ति से संबंधित थीं, दूसरे वे एक कंठ से दूसरे कंठ में संक्रांत होती रहीं। महाभारत लोक के लिए ही और सामान्य लोक के लिए अर्पित वेद है। अर्थात जिनकी पहुँच उच्च शास्त्रीय ज्ञान में नहीं है, उनके लिए वेद व्यास ने इस पंचम वेद की रचना की। इसीलिए सहज ही इसका प्रभाव लोगों के मन पर इतना पड़ा कि लोग और लोगों का सहज साहित्य, विशाल मन का साहित्य बन गया और महाभारत अनेक प्रकार से लोक में घुल-मिल कर अभिव्यक्त हुआ। कथा के रूप में इसकी स्मृति निरंतर बनी रही और वह कथा अद्‌भुत रूपांतरों के साथ व्रत, पर्व कथाओं का हिस्सा बन गई। महाभारत के मार्मिक प्रसंगों पर आधारित लोक-गीत भी रचे जाते रहे हैं। महाभारत के पात्र मुहावरों और लोकोक्तियों में ओतप्रोत होते रहे, पर इन सबसे अधिक महाभारत का प्रभाव लोक-साहित्य पर इस रूप में पड़ा कि लोक-साहित्य में महाभारत कहने के ढंग की भंगिमा सहज ही आ गई। यह भंगिमा कभी प्रश्नोत्तर शैली के रूप में आई, कभी संवादों के द्वारा कथा कहने के रूप में, कभी महाभारत की मानवीय दृष्टि वाले उपमानों और बिंबों के ज्यों का त्यों अपनाने के रूप में।

इस छोटे से निबंध में मुख्य रूप से इस पक्ष की चर्चा करना चाहूँगी। जिस प्रकार महाभारत में मूल कथा के बीच से ही उप-कथाओं का विकास होता है वही शैली लोक कथाओं की भी है। एक बड़ी कथा में से अनेक छोटी कथाएँ निकली हैं, इस रूप में कि कोई कहानी कहने बैठा तो उसको सुनकर दूसरे ने भी उसी भाव के समर्थन में या विरोध में दूसरी कथा कह दी। फिर तीसरे ने कही और अंत में कोई निष्कर्ष प्रस्तुत किया जो सर्वमान्य हुआ। इस प्रकार मूल कथा भी चलती रही और उसमें कई-कई उप-कथाएँ जुड़ती गईं। जैसे वृक्ष में शाखाएँ फूटती रहती हैं और नए विस्तार भी होते रहते हैं, वैसे ही मूल कथा तो वही बनी रहती है। परंतु क्षेत्रीय प्रभावों के कारण उसमें अनेक उप-कथाएँ उद्‌भूत होने लगती हैं। महाभारत के कथानकों के कुछ लोक रूपांतरों की चर्चा अप्रासंगिक न होगी।

शिल्पगत समानता की दृष्टि से विचार करने पर एक विशेषता की ओर और ध्यान जाता है। महाभारत में प्रश्नोत्तर की जो शैली मिलती है, यह शैली लोक-साहित्य में बहुत अधिक मिलती है।

जैसे यक्ष का प्रश्न और युधिष्ठिर का उत्तर, धृतराष्ट्र का प्रश्न और विदुर का उत्तर, विकर्ण का प्रश्न और भीष्म का उत्तर, विश्वामित्र और चाण्डाल का संवाद आदि कथाओं के प्रवाह को गति देते हैं। इसी प्रकार लोक-साहित्य में कभी बेटी पिता से प्रश्न करती है, कभी बहू सास से, कभी बटोही किसी दुखिया स्त्री से या विरही पुरुष से। कभी-कभी सीधे समाज ही प्रश्न करता है और उत्तर भी वही देता है। एक उदाहरण से बात अधिक स्पष्ट होगी—

कुँअवा खोदाये कवन फल, हे मोरे साहब!
झोंकवन भरै पनिहार, तबै फल होइहैं।
बगिया लगाये कवन फल हे मोरे साहब।
राही बाटे अमवा जे खइहैं, तबै फल होइहैं
पोखरा खोदाये कवन फल, हे मोरे साहब।
गउवा पीयें जूड़ पानी, तबै फल होइहैं।

प्रश्न—कुआँ खुदाने पर क्या फल? उत्तर—उसमें से सबकी प्यास बुझाने के लिए झोंके पर झोंके पनिहार जल भरें, तभी फल होगा। प्रश्न—बाग लगाने से क्या फल होगा? उत्तर—राहगीर जब फल खाएँ तभी फल होगा। प्रश्न—पोखर खुदाने का क्या फल है? उत्तर—गो अर्थात पशु उसमें आकर शीतल जल पीएँ, तभी फल होगा। प्रश्न—स्त्री का जन्म कब सार्थक है? जब वह पुत्र को जन्म दे। पुत्र का जन्म कब सार्थक है? उत्तर—वह लोक को आनन्दित करे यही उसका फल है।

इस गीत में महाभारत के परार्थ भाव की पूरी व्याख्या है। यक्ष के प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर ने भी कहा है कि—

वर्षमावततां श्रेष्ठं बीजं निवपतां वरम्।
गावः प्रतिष्ठमानानां पुत्रः प्रसवतां वरः।।

—वन पर्व 24-23

खेती करने वालों के लिए वर्षा श्रेष्ठ है, बोने वालों के लिए बीज श्रेष्ठ है। प्रतिष्ठा प्राप्त धनिकों के लिए गोपालन श्रेष्ठ है तथा संतान उत्पन्न करने वालों के लिए पुत्र श्रेष्ठ है।

माता गुरुतरा भूमेः पिता चोच्चतरश्च खात्।
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरी तृणात्।।

माँ पृथ्वी से गुरुतर है, पिता आकाश से ऊँचे हैं, मन वायु से अधिक द्रुतगामी है और चिंता सबसे अधिक तेजी से बढ़ती है। महाभारत में कहा गया है कि—

दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं यशः।
विद् यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः।।

"जिस पुत्र को दान से, तप से, शौर्य से, विद्या से, अर्थ से यश नहीं मिला, वह अपनी माँ का निकृष्ट विसर्ग मात्र है, संतान नहीं।"

अब हम मानवीय मूल्य दृष्टि वाले उपमानों, बिंबों के स्तर पर महाभारत के प्रभाव की बात करें। महाभारत की रचना के पीछे एक मूल भाव यह भी लगता है कि नारी मातृत्व के गौरव का बोध करे, पुरुष पितृ ऋण से उऋण होने के लिए विवाह करें, संतान उत्पन्न करें। लोक-साहित्य की मूल आत्मा भी इसी शिवानुभूति का विस्तार करती है कि हम केवल उत्तराधिकारी न दें, उसे यह दायित्व बोध भी दें कि वह इस दाय को समृद्ध करे, इस परंपरा का संवाहक बने। तभी उसे दूब की तरह विस्तार पाने का और कमल पत्र की भाँति पसरने का तथा हर स्थिति में कमल सा विहँसने का आशीर्वाद दिया गया है। लोकगीतों में पुत्र के यश विस्तार और सार्थक जीवन की कामना की जाती है।

"हरियर दूबि यस छैलाव, पुरइन पात यस पसरौ, कवँल यस बिहँसउ।"

पुत्र के रूप में पिता स्वयं जन्म लेता है, पत्नी जन्म-जन्मान्तरों की संगिनी होती है, यह भावना ही पारिवारिक जीवन की धुरी है, जिसके चारों ओर लोक-साहित्य का ताना-बाना घूमता रहता है। यक्ष के प्रश्न के उत्तर में यही बात युधिष्ठिर ने कही है—

पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या देवकृतः सखा।
उपजीवनं च पर्जन्यो दानमस्य परायणम्।।

"पुत्र ही मनुष्य की आत्मा है, पत्नी ही देवताओं की दी सखी, मेघ ही जीवन का आलम्बन और दान ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ आचार है।"

एक भोजपुरी लोक गीत में पुत्र की कामना और पुत्र के बिना जीवन की विरसता तथा सूनेपन का बोध कराया गया है।

सून लागे दिया बिनु मन्दिल, माँग सेनुर बिनु हो।
ललना ओइसन सून तिरिया गोद, से एक रे बालक बिनु हो।
सून लागे महल अटरिया, अउरो खेत धरतिया नु हो
ललना नाहीं नीक लागे सुख-भोग, से एक रे संतति बिनु हो।

"जिस प्रकार दीपक के बिना मंदिर सूना लगता है और सिंदूर के बिना स्त्री की माँग, उसी प्रकार पुत्र के बिना नारी की गोद सूनी लगती है। महल, अटारी, खेत और घर तथा समस्त सुख-भोग एक संतान के बिना फीके लगते हैं।"

भारतीय मन की यह पहचान महाभारत, रामायण और लोक-साहित्य सभी में समान रूप से मिलती है।

महाभारत की कथा को आधार बनाकर लोक-साहित्य में बहुत ही सहज ढंग से गहरी बातें कही गई हैं और उन बातों से महाभारत के अभिप्रायों की व्यंजना और सशक्त हो गई है। उदाहरण के लिए कर्ण के जन्म का प्रसंग लें। लोक गीतों में इसको मातृत्व की आकांक्षा का एक व्यापक प्रसंग बना दिया गया है। एक गीत का भाव है कि एक स्त्री के गर्भवती हो जाने पर उसकी सास ननद संशय करती हैं कि मेरा पुत्र तो वृंदावन में है, तुम यहाँ धवल गृह में हो, तुमने किस पुरुष को चित्त में स्थान दिया जो गर्भवती हुई। बहू बड़ी ही सरलता से उत्तर देती है कि मैं तो नहा धोकर खड़ी हुई, सूर्य को मनाया, उनकी विनती की। मेरा झीना आँचल सूर्य की किरणों में फहराया और मैं गर्भवती हो गई।

पूत मोर बसै वृंदावन, तुम धवँराहरि,
बहुअरि! कौन चनिक चित लाइउ त गरभ जनावै

नहाइ धोइ भयौ ठाढ़ि त सुरजू मनायौं,
सासू! झीना अँचर फहराने, त गरभ जनाने।

यह दृष्टि गर्भ, अर्थात किसी पुरुष पर आकर्षित होकर उसे देखने से या उसकी परछाई पड़ जाने से गर्भाधान होना लोक-साहित्य का एक प्रमुख अभिप्राय है।

लोक कथाओं में द्रौपदी के स्वयंवर के मत्स्यवेध का अभिप्राय भी मिलता है। लोक कथाओं के नायक को भी नायिका या उसके पिता की शर्त के अनुसार किसी पराक्रम का प्रमाण देना पड़ता है।

इसी प्रकार किसी क्षेत्र विशेष में न जाने का जो वर्जनात्मक अभिप्राय लोक-साहित्य में मिलता है वह भी महाभारत से मिलता-जुलता है। द्रौपदी के कक्ष में पाँचों भाइयों के प्रवेश की शर्त इस प्रकार के अभिप्राय की ओर संकेत करती है।

महाभारत के पात्रों के मन का अंतर्द्वन्द्व लोक साहित्य में व्यक्त पारिवारिक संबंधों और सामाजिक संबंधों के अंतर्द्वन्द्व के रूप में मिलता है। बड़े भाई के वशंवद होकर रहने, हर कार्य में बड़े की अगुआई, बड़े की आज्ञा का पालन, किसी के सुख के लिए निजी सुखों का उत्सर्ग आदि भाव लोक साहित्य के भी समान रूप से प्राणभूत अंग हैं।

डॉ. राधाकृष्णन ने अपने विचार व्यक्त किए हैं–मिथकों की योजना के द्वारा ही इतिहास पुरुष मिथक पुरुष बन जाते हैं। वे सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करते हैं।

–द हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ, पृ. 46

महाभारत के आदर्श पात्र लोक साहित्य में सच्चाई के रूप में मान्य हैं। वे कोरे मिथक नहीं हैं। लोक उन्हें बीता हुआ नहीं मानता, अपने भीतर अपने आस-पास पाता है। उन्हें अपना पूर्वज मानता है। यदि कृष्ण के चरित्र को ही लें तो वे इतिहास पुरुष मात्र नहीं हैं, वे सनातन रूप से मानव जीवन को प्रतिक्षण उद्वेलित करते रहते हैं। श्रीकृष्ण महाभारत के समूचे फलक पर छाए हुए हैं। वे यदि छलते हैं तो दूसरों के छल के पर्दे को फाड़कर रख देने के लिए। वे द्रौपदी के रक्षक हैं, सखा हैं, और उस रूप में संपूर्ण नारी जाति के सम्मान के रक्षक हैं। लोक गीतों में आज भी द्रौपदी के रक्षक कृष्ण का वह रूप उतना ही ओजस्वी है–

नटवर नंद लाल बनवारी, सुनि लो विनय हमारी ना।
भरी सभा में द्रौपदी पुकारे, राखो लाज हमारी ना। नटवर...
खींचत चीर दुःसासन हार्‌यो, यतनी बढ़ गई सारी ना। नटवर...

श्रीकृष्ण ने स्वयं को वृक्षों में अश्वत्थ (पीपल) कहा है। लोक जीवन में आज भी पीपल को (वासुदेव) कहकर पूजा जाता है। सारथी कृष्ण के अभिप्रायों की लोकाभिव्यक्ति बड़ी मनोरम है।

कृष्ण का सारथी रूप अच्छा लगता है। पर भक्त उन्हें आराम देना चाहता है, वह उन्हें माँ के प्यार का स्मरण कराना चाहता है, जिससे युद्ध की विभीषिका में कुछ शांति, विश्राम मिल सके। वह उनसे प्रार्थना करता है कि थोड़ा धीरे-धीरे रथ हाँको, नहीं तो थक जाओगे। घोड़े दौड़ते-दौड़ते थक चुके हैं, उनके मुँह से झाग निकल रहा है, तुम्हें तो समस्त जीवों की चिंता है, तुम्हें तो किसी की भी सुध नहीं भूलती, तुम तनिक घोड़ों को विश्राम कर लेने दो। तुम्हारे साँवले सलोने माथे पर मोती जैसा पसीना झलक

रहा है। माता यशोदा चिंता कर रही होंगी कि मेरे मन का नगीना कहाँ है। माता देवकी के स्नेह का ध्यान कर लो, नहीं तो थक जाओगे। धनुषधारी अर्जुन थक जाएँगे, माता कुंती तुमसे पूछेंगी कि मेरा अर्जुन धनुषधारी इतना कैसे बेहाल हो गया? तुम्हारी सखी द्रौपदी तुम्हें उलाहना देंगी कि तुमने उनके प्रिय का ध्यान नहीं रखा, इसलिए अर्जुन को भी थोड़ा विश्राम कर लेने दो। गीत इस प्रकार है—

तनी धीरे-धीरे रथ हाँको स्याम, नाहीं तो प्यारे थकि जइहौ।
घोड़ा सारे दौरि थके हैं, मुँह से निसरे फेना।
सब जियरनि कै तुहका चिंता केहू कै सुध बिसरै ना।
तनि घोड़वन कइ लेंय बिसराम, नाहीं तो प्यारे थकि जइहौ।
साँवरे सलोने माथे तुहरे, झलकै मोती पसीना।
मातु जसोमति चिंता करिहैं, कहाँ मोरे मन के नगीना।
माता देवकी कै करि लेव धियान, नाहीं तो प्यारे थकि जइहौ।
अर्जुन धनुधारी थकि जइहैं, माता कुंती तुँहसे पुछिहैं,
देखि बेहाल धनुर्धारी काँ द्रौपदी तुहँसे वरहन देइहैं
तनि अर्जुन करिलें अराम, नाहीं त प्यारे थकि जइहौ।
तनि धीरे-धीरे रथ हाँको स्याम नाही तो प्यारे थकि जइहौ।

जिस धुरी पर महाभारत का रथ चलता है वह धुरी है सत्य। सत्य का महत्त्व महाभारत में बार-बार दोहराया गया है। यह सत्य लोक संस्कृति में 'सत्त' या 'सत' के रूप में बहुत गहरे पैठा है। ऐसी असंख्य उक्तियाँ और मुहाविरे मिलेंगे तथा लोक गीतों और कथाओं में संकेत मिलेंगे, जिनमें सत न छोड़ने और किसी भी कीमत पर सत रखने की बात बार-बार दोहराई गई है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। एक गीत का भाव है—एकनिष्ठ प्यार करने वाली एक पतिव्रता नारी से उसकी उदासी का कारण एक पथिक पूछता है और वह उसे बताती है कि मेरे प्रिय मुझे शृंगार के लिए तेल सिंदूर दे गए थे, रहने के लिए महल उठा गए थे और समय काटने के लिए चंदन का चरखा दे गए थे, उसके साथ ही सत न छोड़ने की अपनी सौगंध भी दे गए थे। तेल और सिंदूर चुक गया अर्थात् मेरी शृंगार के प्रति रुचि समाप्त हो गई, महल ढह गया, चरखे में घुन लग गया और मेरी उम्र भी चुकने लगी, पर मेरे प्रिय लौट कर नहीं आए।

इसी अभिप्राय को लेकर अनेक लोककथाएँ और लोकगीत मिलते हैं। लोक नाट्यों की विभिन्न सहज प्रस्तुतियों में महाभारत की घटनाएँ बार-बार दुहराई जाती हैं। विशेषकर भीष्म प्रतिज्ञा, द्रौपदी स्वयंवर, द्रौपदी चीर हरण, एकलव्य की गुरु भक्ति, अर्जुन का धनुर्विद्या एकाग्र अभ्यास, गंगावतरण, आदि कुछ नई भंगिमाओं के साथ प्रस्तुत हुए हैं।

व्रत कथाओं में जिउतिया और पिड़िया आदि कथाओं में एक कथा कही जाती है कि दो बहनें हैं एक के कोई संतान जीवित ही नहीं बचती है दूसरी की जितनी संतान होती हैं सब जीवित रहती हैं। उसकी इच्छा होती है कि मेरी कोई संतान मरे तो मैं रोऊँ-नहाऊँ। पहली बहन उसे तमाम उपाय बताती है कि जिससे संतान मरे। पर उसके बच्चे हर परिस्थिति से जीते जागते बच आते हैं। अंत में वह कहती है कि जंगल में जाकर कुश उखाड़ना और उसी के लिए रोना। वहाँ भी वह जब कुश उखाड़ती है और रोती है तो जहाँ-जहाँ उसके मुख से लार गिरती है वहीं-वहीं बाल उगता है और जहाँ-जहाँ आँसू गिरते हैं वहीं-वहीं साँस पड़ती है और उसको वहाँ से भी एक पुत्र मिल जाता है। इस प्रकार उसके रोने-नहाने की साध पूरी होती है। यह व्रत कथा महाभारत के अभिप्रायों की एक नयी प्रस्तुति है जो गांधारी और कुंती तथा द्रौपदी के पुत्रों की मृत्यु से संबंधित लगती है।

लोक-साहित्य में बिछुड़ों को मिलाने के लिए सदाव्रत लुटाने, स्वयंवर रचाने की कथाएँ, नल-दमयंती के आख्यानन का रूपांतर है। पाँच की शुभ संख्या, पाँच पुत्रों की कामना और पाँच पुत्रों की शौर्य गाथाएँ पाण्डवों के प्रति आदर भाव है। महाभारत में व्यक्त सत्य के स्वरूप से लोकमन निरंतर जुड़ा है। तभी लोक-साहित्य में महाभारत के कथानक रूप बदल-बदल कर आते हैं। मध्य प्रदेश की 'पण्डवानी' और राजस्थान की भील गवरी (गौरी) लोकनृत्य में महाभारत कथा विस्तार विविध रूपों में हुआ है।

डॉ. बलदेव उपाध्याय के अनुसार 'व्यास जी का अभिप्राय केवल युद्धों का वर्णन ही नहीं अपितु इस भौतिक जीवन की निस्सारता दिखलाकर प्राणियों को मोक्ष के लिए उत्सुक बनाना है। इसीलिए महाभारत का मुख्य रस शांत है, वीर तो अंगभूत है। महाभारत के पात्रों में एक विचित्र सजीवता है। व्यास कर्मवादी आचार्य हैं। कर्म ही मनुष्य का सच्चा लक्षण है। कर्म से पराङमुख व्यक्ति मानव की पदवी से सदा ही वंचित रहता है।'

लोक-साहित्य में कर्मवाद, कर्मफल जीवन-शैली के आधार रूप में अनेक भंगिमाओं के साथ व्यक्त हुआ है।

यह लोक विश्वास है कि महाभारत का पाठ घर में नहीं कराना

चाहिए। इससे घर में अशांति होगी। कहते हैं कि यदि पढ़ना ही है तो पहले उत्तरार्द्ध पढ़कर तब पूर्वार्द्ध पढ़ना चाहिए।

डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने लिखा है कि—आदि से अंत तक महाभारत पढ़ जाना अपूर्व अनुभव है। पुराने पण्डितों में मान्यता है कि महाभारत को आदि से न पढ़कर अंत से पढ़ना चाहिए अर्थात पहले शांति पर्व और उसके बाद के पर्व पढ़कर तब आदि पर्व से स्त्री पर्व पर जाना चाहिए। नहीं तो मंगल नहीं होता। मुझे पूरा पढ़ लेने पर यह मान्यता सही लगती है। शांति पर्व से अध्ययन प्रारंभ करने से महाभारत के सत्य के व्यापक स्वरूप का एक चौखटा मिलता है, उसमें पूरी पूर्ववर्ती घटना को रखकर देखने पर लड़ाई और झगड़े वाली बात छोटी हो जाती है। लड़ाई-झगड़े को और उसमें प्राप्त जय को महत्त्वपूर्ण मानना अमंगल है और अपने भीतर के तनावों पर विजय को जय मानकर छोटे और बड़े जय-पराजय का अर्थ समझना ही मंगल है।

'सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः।।'

"वास्तविक अपराजय भाव महाभारत के अनुसार यह है कि सुख हो, दुःख हो, प्रिय हो, अप्रिय हो, जो मिले उसे सहज रूप में स्वीकार करो, कभी भी हृदय में पराजय स्वीकार मत करो, न सुख से, न दुःख से, न अनुकूल से, न प्रतिकूल से।"

—महाभारत का काव्यार्थ, पृ.23-24

महाभारत कई प्रकार से लोक-साहित्य को अनादिकाल से अभिभूत करता रहा है, मानवीय संवेदनाओं से भरता भी रहा है। इसी प्रकर लोक चेतना भी महाभारत को सामान्य मनुष्य की आकांक्षाओं और समस्त जीवन की अनुभूतियों से भरकर एक विशाल मानवीय महाकाव्य बनाती जा रही है।

□

अँग्रेज़ी कविता में पक्षी : नाईटिंगेल एवं स्काईलार्क

ललित मोहन पाण्डेय

मनुष्य का आदिकाल से ही प्रकृति से बहुत घनिष्ठ संबंध रहा है। वस्तुतः प्रकृति की गोद में ही प्रथम मानव ने आँखें खोलीं और संपूर्ण दृश्य जगत् ने उसके हृदय में विभिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न किए। चराचर जगत् की विभिन्न वस्तुओं को उसने अपनी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से देखने, सुनने, समझने को चेष्टा की होगी। जहाँ उच्च पर्वत शिखरों ने उसके मन में विस्मय और भय का संचार किया होगा वहीं नदियों की कलकल ध्वनि, झरनों के प्रवाह, सुकोमल पुष्पों के सौंदर्य तथा उनकी मादक गंध और पक्षियों के मधुर कलरव ने उसके मन को आह्लादित भी किया होगा। कालांतर में मनुष्य ने अपने इन्हीं भावों को कविता के माध्यम से अभिव्यक्त किया। कहा जाता है कि संस्कृत के आदिकवि वाल्मीकि क्रौंचयुगल में से एक के मारे जाने पर अपने सहचर की व्यथा से अभिभूत पक्षी के क्रंदन से इतने भावविह्वल हो उठे कि उनकी पीड़ा प्रथम श्लोक के रूप में इस प्रकार निकल पड़ी—

मा निषाद! प्रतिष्ठाम् त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

अस्तु, विश्व की विभिन्न भाषाओं में कवियों ने पक्षियों से प्रेरणा लेकर अनेक गीत लिखे हैं। अँग्रेज़ी साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। जिस प्रकार हिंदी कवियों ने कोयल की कुहू-कुहू, पपीहे की पिउ कहाँ-पिउ कहाँ, कपोत की गुटुरगूँ-गुटुरगूँ तथा शुक-सारिका के मधुर कलरव से अपनी कविता को प्राणवंत किया उसी प्रकार अँग्रेज़ी कवियों ने भी नाईटिंगेल, स्काईलार्क, स्वैलो, कुकू, फीनिक्स, किंगफिशर इत्यादि पक्षियों के रूप सौष्ठव तथा उनके गीतों से प्रेरणा लेकर अपनी कविता-कामिनी का शृंगार किया।

अँग्रेज़ी कविता का प्रारंभ ईसा की 14वीं सदी में हुआ और चॉसर अँग्रेज़ी भाषा के प्रथम प्रख्यात कवि हैं जिन्हें अँग्रेज़ी कविता का जनक कहा जाता है। उन्होंने पक्षियों पर स्वतंत्र रूप से गीत तो नहीं लिखे किंतु अपने प्रसिद्ध काव्य ग्रंथ Canterbury Tales में वसंत ऋतु का वर्णन करते समय उन्होंने विभिन्न पक्षियों के कलरव का बड़ा मनोहारी और हृदयस्पर्शी चित्रण किया है।

16वीं सदी का उत्तरार्द्ध वास्तव में अँग्रेज़ी नाटकों का ही नहीं, बल्कि अँग्रेज़ी कविता का भी स्वर्णयुग है। महारानी एलिज़ाबेथ के शासनकाल में ही पुनर्जागरण आंदोलन अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा और यह तो सर्वविदित ही है कि इस युग में प्राचीन यूनान और रोम के साहित्य का बड़ी रुचि के साथ अध्ययन किया गया। परिणामस्वरूप इस युग के कवियों पर यूनानी साहित्य तथा पुराणों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। यह युग गीतिकाव्य का स्वर्णयुग है तभी तो किसी समीक्षक ने इस युग को nest of Ainging birds' या मधुर गीत गाने वाले पक्षियों का घोंसला कहा है।

वैसे तो अँग्रेज़ी कवियों ने स्वैलो, कुकू, पेलिकन, थ्रश, मार्टिन और किंगफिशर पर भी गीत लिखे हैं किंतु नाईटिंगेल और स्काईलार्क के गीतों ने कवियों को बहुत प्रभावित किया है। जो स्थान हिंदी कविता में कोंसल और पपीहे का है वही स्थान अँग्रेज़ी कविता में नाईटिंगेल और स्काईलार्क का है।

नाईटिंगेल के जन्म के संबंध में एक यूनानी पौराणिक आख्यान बहुत प्रसिद्ध है और तमाम अँग्रेज़ी कवियों ने इस कथा को पृष्ठभूमि में रखकर ही नाईटिंगेल पर कविताएँ लिखी हैं। कहा जाता कि एथेन्स के राजा पैंडियन के दो पुत्रियाँ थीं। अपनी बड़ी

पुत्री प्राक्ने (Procne) का विवाह उसने थ्रेस (Thrace) के राजा टीरियस (Tereus) से कर दिया। कुछ वर्षों के पश्चात् प्राक्ने ने अपने पति से कहा कि वह अपनी छोटी बहन फिलामेला (Philomela) से मिलना चाहती है। टीरियस ने एथेन्स जाकर अपने श्वसुर से फिलामेला को अपने साथ भेजने का आग्रह किया जिसे पैंडियन ने स्वीकार कर लिया। मार्ग में टीरियस, फिलामेला के रूप लावण्य पर बहुत मुग्ध हो गया और फिलामेला के घोर विरोध के बावजूद उसे अपनी वासना का शिकार बनाया। बाद में उसे डर लगा कि फिलामेला बड़ी बहन से सारी बात बता देगी और उसका पारिवारिक जीवन नष्ट हो जाएगा। इस भय से उसने फिलामेला की जीभ काट ली और उसे एक निर्जन स्थान पर रख दिया। उसने अपनी पत्नी से झूठ बोल दिया कि फिलामेला की मार्ग में ही मृत्यु हो गई। बन्दिनी फिलामेला ने किसी प्रकार एक कढ़ाई (Embroidery) के माध्यम से अपनी विपत्ति गाथा अपनी बहन तक पहुँचाई। दोनों बहनों ने टीरियस से प्रतिशोध की एक दारुण योजना बनाई। प्राक्ने ने अपने और टीरियस के पुत्र की हत्या कर उसका मांस पकाया और अपने पति के सामने परोस दिया। उसी समय देवताओं ने आकाशवाणी कर टीरियस को सारी बात बता दी और उसने क्रोध में तलवार खींचकर दोनों बहनों को मारना चाहा तभी देवताओं ने फिलामेला को नाईटिंगेल (nightingale) प्राक्ने को स्वैलो तथा टीरियस को हिप्पो (Hippoe) बना दिया। तभी से नाईटिंगेल अपनी व्यथा कथा गीत के रूप में व्यक्त करती रहती है।

पुनर्जागरण युग के सशक्त हस्ताक्षर सर फिलिप सिडनी ने इसी भाव से प्रेरित होकर Philomela शीर्षक कविता में लिखा है कि वसंत ऋतु के आने पर प्रकृति के सुरम्य वातावरण में Nightingale की पीड़ा तो कुछ कम हो ही जाती होगी किंतु कवि की अपनी प्रेम की पीर वासंती सौंदर्य तथा नाईटिंगेल के गीत से भी कम नहीं होगी।

सत्रहवीं सदी के प्रसिद्ध कवि रिचर्ड बार्नफील्ड ने इसी शीर्षक से लिखी अपनी कविता में मधुमास का वर्णन करते हुए लिखा है कि इस समय तो सारी प्रकृति मानों आनंदोत्सव मना रही है। वृक्षों पर सुंदर पुष्प खिले हुए हैं और सभी पक्षी आनंद विभोर होकर गीत गा रहे हैं केवल नाईटिंगेल अवसाद भरे स्वर में टीरियस का नाम ले-लेकर करुण क्रंदन कर रही है। कवि उसे समझाते हुए कहता है कि तुम व्यर्थ क्रंदन कर रही हो। ये जड़ वृक्ष तुम्हारी आवाज नहीं सुन सकते, क्रूर पशु तुम्हारा लेशमात्र उत्साहवर्धन नहीं करेंगे। तुम्हारे पिता पैण्डीयन की मृत्यु हो चुकी है और तुम्हारे सभी मित्र कालकवलित हो गए हैं। अन्य सभी पक्षी तुम्हारे दर्द से बेखबर आनंद के गीत गा रहे हैं। कवि कहता है नाईटिंगेल की तरह सारी व्यथा वह स्वयं सहेगा उसे किसी से दया, करुणा या सहानुभूति की आशा नहीं है।

18वीं सदी के कवि Mark Akenside ने The Nightingale नामक कविता में अपने युग की परंपरा के अनुरूप इस पक्षी के गीत के माध्यम से कुछ उपदेश देने का प्रयास किया है। कवि कहता है कि इस पक्षी के गीत को सुनकर वह मनुष्य के भाग्य पर चिंतन करने को विवश हो जाता है। मनुष्य को जीवन में कैसे-कैसे हृदय विदारक दृश्य देखने पड़ते हैं, राजाओं के क्रोध से कितनी क्षति होती है तथा सदाचारी व्यक्तियों को भी कितनी पीड़ा भोगनी पड़ती है और भौतिक सुख कितनी जल्दी देखते-देखते ही पलायन कर जाते हैं।

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध को प्रायः रोमांटिक युग कहा जाता है। विलियम वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज़, पी.बी. शैली, जॉन कीट्स और जार्ज़ बायरन इस युग के अग्रणी कवि हैं। प्रकृति प्रेम और प्राकृतिक सुषमा का सांगोपांग निरूपण इन कवियों की विशिष्टता है। इन सभी कवियों ने पक्षियों पर कविताएँ लिखी हैं। इस युग में एक अद्‌भुत परिवर्तन यह आया कि इन सबने मान लिया कि पक्षियों का जीवन अतिशय आनंदमय है, उन्हें कोई अभाव, कष्ट नहीं है और वे गाकर अपने हर्षोल्लास को ही अभिव्यक्त करते हैं। यहाँ तक कि Nightingale का गीत भी उन्हें आह्लाद और हर्षातिरेक का ही द्योतक लगा।

जॉन कीट्स का Ode To A Nightingale इस दिशा में मील का पत्थर है। कवि ऋतुराज वसंत में beech वृक्षों के झुरमुट में बैठी nightingale का उन्मुक्त कंठस्वर सुनकर हर्ष विभोर हो जाता है और आनंदातिरेक में अपनी सुधबुध खो बैठता है कवि इस संसार के सारे कष्टों जैसे बीमारी, बुढ़ापा, क्षणभंगुर सौंदर्य, अपूर्ण प्रेम तथा तज्जन्य व्यथा इत्यादि को भुलाकर nightingale के आदर्श लोक में पहुँच जाना चाहता है जहाँ केवल सुख और आनंद है कोई अभाव, पीड़ा या व्यथा नहीं है। कवि कल्पना के पंखों पर सवार होकर nightingale का सान्निध्य प्राप्त भी कर लेता है किंतु कुछ ही समय बाद उसे यह बोध हो जाता है कि कल्पना सत्य का आभास तो करा सकती है किंतु सत्य नहीं बन सकती और

बरबस उसके ओठों से ये शब्द निकल पड़ते हैं–

> Was it a vision, or a waking dream?
> Fled is that music—do I wake or sleep?

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध, जिसे महारानी विक्टोरिया का युग कहा जाता है, में भी Nightingale पर कविताएँ लिखी गईं। मैथ्यू आर्नाल्ड ने Philomela शीर्षक से पुनः यूनान की पौराणिक गाथा को रूपायित करते हुए पूछा कि क्या टेम्स नदी का शांत प्रवाह, वसंत ऋतु की धवल चन्द्रिका, ओस में नहाए हुए कोमल पुष्पों की सुगंध तुम्हारे व्यथित और पीड़ा से दग्ध हृदय को कुछ शांति दे सकेंगे। उत्तर स्पष्ट ही नकारात्मक है और कवि का कंठस्वर फूट पड़ता है– Eternal Passion! Eternal Pain वासना शाश्वत है और वासना जन्य पीड़ा भी शाश्वत है।

इसी प्रकार 20वीं शताब्दी के कवि राबर्ट ब्रिज़ेस भी Nightingales नामक कविता में प्रश्नोत्तर शैली में इन पक्षियों से कहलाते हैं कि उनका गीत हर्षोल्लास का द्योतक नहीं बल्कि हृदय की पीड़ा अपूर्ण इच्छाओं, अधूरे सपनों की अभिव्यक्ति है।

अँग्रेज़ी कवियों का दूसरा प्रिय पक्षी स्काईलार्क है। वैसे तो स्काईलार्क पर अनेक गीत लिखे गए हैं किंतु उनमें Shelley का To a skylark तथा wordsworth का To the skylark अति प्रसिद्ध हैं। शैली तो अपनी कविता की पहली पंक्ति में ही घोषणा कर देता है कि skylark एक पक्षी नहीं अपितु साक्षात् मूर्तिमान आनंद 'blithe spirit' है। फिर अनेक रूमानी उपमाओं के माध्यम से कवि स्काईलार्क के गीत की मधुरिमा का वर्णन करते हुए उसकी प्रेरणा के स्रोत को जानने का प्रयास करता है। कवि सोचता है कि सम्भवतः इतने मधुर गीत का उत्स नैसर्गिक प्राकृतिक सुषमा, कलकल करती नदियों अथवा अपनी पक्षी जाति के प्रति लगान जुड़ाव में होगा या हो सकता है इस पक्षी ने विशुद्ध सुख का अनुभव किया हो और किसी प्रकार के अभाव, संघर्ष अथवा व्यथा की छाया भी इस पर न पड़ी हो। इसने प्रेम तो किया हो किंतु सफल प्रेम में इच्छाओं के पूर्ण हो जाने पर भी कभी बोरियत का अनुभव न किया हो। उसके मधुर गीत के स्रोत को जानने का प्रयास करते-करते कवि मनुष्य के जीवन के संबंध में कह उठता है–

> We look before and after
> And pine for what is not
> Our sincerest laughter
> With some pain is frought
> Our sweetest songs are those that tell
> of saddest thought.

और अंत में कवि स्काईलार्क से याचना करता है कि उसे यदि स्काईलार्क का आधा सुख भी मिल जाए तो वह ऐसे मादक गीत गा सकता है कि सारे प्राणी जगत् को अपने गीतों से मंत्र मुग्ध कर दे।

शैली और वर्ड्सवर्थ के स्काईलार्क में मौलिक अंतर यह है कि शैली का स्काईलार्क धरती से घृणा करता है क्योंकि धरती अभावों तक कष्टों से भरी हुई है और वह अनंत आकाश में उन्मुक्त विचरण करता है किंतु वर्ड्सवर्थ का स्काईलार्क धरती और आकाश दोनों से समान रूप से जुड़ा है। उसे इस बात का आभास ही नहीं पूरा ज्ञान है कि आकाश जो उन्मुक्त कल्पना का प्रतीक है में कुछ देर तक तो उड़ा जा सकता है किंतु जीवन के लिए आवश्यक भोजन-पानी धरती पर ही मिलेगा। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अँग्रेज़ी के कवियों ने इन पक्षियों के माध्यम से न केवल अपनी व्यक्तिगत पीड़ा तथा सुख-दुःख को अभिव्यक्ति प्रदान की बल्कि सार्वभौमिक रूप से पूरी मानव जाति के हर्ष-विषाद को साहित्य के द्वारा मूर्त किया है। □

आमिल

(1)

कुछ अमल की रौशनी किरदार में भी चाहिए।
इक दरीचा आपकी दीवार में भी चाहिए।।

मौत तो आएगी इक दिन फ़िक्र क्यूँकर कीजिए।
ज़िंदगी का हौसला बीमार में भी चाहिए।।

नोच लो सारी नक़ाबें रहबरों की शक्ल से।
ये तक़ाज़ा वक़्त का अख़बार में भी चाहिए।।

ख़ुशअदाई ख़ुशनुमाई दिल को जब भाने लगे।
कुछ अदब और काइदा दीदार में भी चाहिए।।

ख़्वाहिशें जज़्बात के हमराह होकर ही रहें।
क़ाबु-ए-जज़्बात 'आमिल' प्यार में भी चाहिए।।

(2)

हलका-हलका, बिखरा-बिखरा बादल सा,
बस्ती-बस्ती घूम रहा हूँ पागल सा।

तन्हाई की शिद्दत भी क्या शिद्दत है,
बाँहों पर महसूस हुआ है आँचल सा।

चाहत में वो पहले जैसी बात नहीं,
जज्बे मुहब्बत आज पड़ा है घायल सा।

क़ब्ले रुसवाई जो पल था हमने जिया,
पल जीवन में न आया, उस पल सा।

ख़ल्के-फ़िक्र में उनकी आमद से 'आमिल'
सुर कानों में गूँज उठा है पायल सा।

(3)

ज़िंदगी सिर्फ़ ख़यालों में अमाँ पाती है।
जब भी मिलती है हक़ीक़त से तो मर जाती है।।

अब तो हर शोख़ तमन्ना से सदा आती है।
ज़िंदगी धूप की मानिन्द ढली जाती है।।

मौसमे-गुल की हरारत है नफ़स में लेकिन।
रात क्यों नज्म शुमारी[1] में कटी जाती है।।

मसअला ज़ीस्त[2] का हर्गिज़ न हुआ हल हमसे।
ज़िंदगी मौत की हमराज़ नज़र आती है।।

पुरकशिश क्यों न रहे अज़मते जानाँ[3] 'आमिल'।
ये हमें और भी दीवाना बना जाती है।।

1. तारे गिनने, 2. जीवन का दर्शन, 3. प्रेयसी की महानता

(4)

ऐ ख़ुदा! इस इश्क़ का ऐसा भी क्या अंजाम है।
चोट खाना, चोट सहना, ग़म उठाना काम है।।

हासिले-ग़म, बेबसी, बदहाली-ओ-बेचारगी।
इस पे तुर्रह हुस्न का, ज़ौक़े-वफ़ा बदनाम है।।

टूट सकता है तिलिस्मे-नामुरादी अज़्म से।
हौसला, हिम्मत, जसारत कब हुई नाकाम है।।

आज क्यों ख़ामोश है आईने-फ़ितरत देखिए।
चश्मे तर, रंज़ो-अलम इंसानियत के नाम है।।

ज़िंदगी है दाँव पर अहले-हवस को क्या ग़रज़।
कूए जानाँ में क़दम, हाथों में ख़ाली जाम है।।

ज़ुल्मतें पलने लगी हैं, रोशनी की गोद में।
अब सुकूने-ज़ीस्त की हर इक सई नाकाम है।।

ज़िंदगी दरवेश की जी कर तमाशा कर चुके।
आओ 'आमिल' घर चलो, होने को अब तो शाम है।।

(5)

हसरतों के फूल खिलने चाहिए।
वक्त के तेवर बदलने चाहिए।

तश्नगी जब दर्दे उल्फ़त की बढ़े।
सब्र के कुछ जाम मिलने चाहिए।।

गर असर है आतिशे उल्फ़त में कुछ।
साग़रे-दिल आप ढलने चाहिए।।

इश्क़ो-उल्फ़त और ख़ुलूसो-दर्दे-दिल।
ग़ैर के दिल में भी पलने चाहिए।।

ज़र्फ़ ऐसा हो कि बिन मर्ज़ी तेरे।
पेड़ के पत्ते न हिलने चाहिए।

राहे उल्फ़त है अगर सच्ची जनाब।
क़ाफिले हमराह चलने चाहिए।।

रौशनी हर इक को 'आमिल' मिल सके।
यूँ चराग़े ज़ीस्त जलने चाहिए।।

(6)

किस तरह हम ग़मे जानाँ में जिया करते हैं,
रश्क मुझ पर तो फ़रिश्ते भी किया करते हैं।

दिल तो पहले ही निछावर हुआ उन कदमों पर,
वक्त आ जाए तो हम जाँ भी दिया करते हैं।

गर नहीं आज तो कल होंगी मय्यसर ख़ुशियाँ,
ज़ख्मे दिल यूँ मेरे जज़्बात सिया करते हैं।

मस्त नज़रों के तसव्वुर की बदौलत हम तो,
मुफ़्त मिलती है तो हर रोज पिया करते हैं।

नुक़ताचीं कोई भी हो उन पे मगर ऐ 'आमिल'
नेक इन्सान दुआएँ ही दिया करते हैं।

(7)

दर्द को मेरे तर्ज़े बयाँ दीजिए।
कोई फ़िक्रो-नज़र मेहरबाँ दीजिए।।

इतनी मज़लूमियत[1] इतनी बेचारगी।
हमज़बाँ दीजिए राज़दाँ दीजिए।।

है तलाश अपने घर में ही घर की मुझे।
प्यार-ने-अख़्लाक का इक जहाँ दीजिए।।

मेरी तख़ईल[2] पाबन्दो-महदूद[3] है।
इसकी वसअत[4] को इक आसमाँ दीजिए।।

मुद्दतों से परस्तिश[5] का अरमान है।
अब जबीं-साई[6] को आस्ताँ[7] दीजिए।।

जिस से दिल की कुदूरत[8] भी आये नज़र।
ऐसी नज़रों को सैले-रवाँ[9] दीजिए।।

आप के रास्ते में बिछा दे जिसे।
अपने 'आमिल' को वो कहकशाँ दीजिए।।

---

1. सताया हुआ, 2. कल्पना, 3. घिरी हुई, 4. प्रसार, 5. पूजा, 6. माथा टेकना, 7. स्थान, 8. मैल, 9. जल बहाना (आँसू बहाना)

कोई पुकारो के एक उम्र होने आई है

अनुशीलन

(कृष्णा सोबती के उपन्यास 'समय सरगम' पर)

ज्योतिष जोशी

"जब आप दूसरों की दृष्टि का मर्म अपने में सोख लेते हैं तो अपनी आँख पराई हो जाती है। मेरे होने का अर्थ मेरे निकट मेरे अपने हैं। शायद इसीलिए सीमित भी। मेरी अनिवार्यता मेरे अपने लिए है, क्योंकि मैं हूँ अपने आप में।"

(पृ. 34)

"सयाने अपने और दूसरों पर नज़र रखते हैं। कौन जाने के इंतजार में है, कौन पंचांग में साइत निरख अनमना-उदास होता जाता है।

कौन आए दिन खयालों ही खयालों में अपनी लिखी वसीयत बदलता है।"

(पृ. 91)

उपर्युक्त दोनों उद्धरण कृष्णा सोबती के नवीनतम उपन्यास **'समय सरगम'** से लिए गए हैं। पहला उद्धरण व्यक्ति के जीवन का अन्यतम अर्थ बताता है। अपने आप में होना अपनी अनिवार्यता के साथ होना है। व्यक्ति के अनेक अर्थ उसके परिजनों से परिभाषित हैं जबकि एक साबुत अर्थ उसकी उपस्थिति और उसके वर्तमान का द्योतक। दूसरा उद्धरण वृद्धत्व की स्थिति को स्पष्ट करता है। जाने की प्रतीक्षा और एक की दूसरे पर दृष्टि अनवरत जीवन-यात्रा के बीच किसी भी क्षण काल-कवलित हो जाने का भय वृद्धों को इस तरह आतंकित किए रहता है कि वे उदास और अनमने बने रहते हैं। खयालों में वसीयतें बदलते जाने के पीछे उनके असह्य दुःखों को जानना जरूरी है; पर कितने लोग हैं जो उन्हें जानने में दिलचस्पी लेते हैं!

'समय सरगम' वृद्ध व्यक्तियों पर लिखा गया उपन्यास है, उनके जीवन संघर्ष और निरंतर मृत्यु की ओर बढ़ती हुई आयु को मापता हुआ; पर यह उपन्यास मनुष्य जीवन की सार्थकता-निरर्थकता के बीच बहस और उसके सही अर्थ की खोज का प्रयत्न भी है जिसमें समूची सृष्टि समाहित है। प्रश्न यह है कि जीवन का वास्तविक अर्थ क्या है? जीवन क्या निरंतर भोग है या कि वह ऐसी मुक्ति की सतत शोध की प्रक्रिया है जिसमें राग-द्वेष, मत्सर-विद्वेष, हानि-लाभ और अपने-पराए का कोई भेद नहीं होता। जीवन अगर मृत्यु की ओर बढ़ता कारवाँ है तो लक्ष्य की ओर बढ़ते पथिक को संतोष की साँस देती हवा भी है। 'समय सरगम' एक निश्चित उम्र पार कर चुके व्यक्तियों की कथा के माध्यम से जीवन की जटिलता और उसके निहितार्थों को समझने का आख्यान भी है; कदाचित् यही कारण है कि मनुष्य जीवन के एकांत, धर्म की व्याख्या, पुरुष-स्त्री की सहभागिता, भारतीय पारिवारिक जीवन की वास्तविकता के साथ-साथ प्रेम की विरल अनुभूतियों और सहभाव से उपजे ममत्व की शक्ति की व्याख्या करते हुए यह उपन्यास पाठकों को गहरे अध्यात्म में उतार देता है। नियति यहाँ अपदस्थ है; प्रभावी है तो वह सांसारिक जंजाल; जिसने अपनी क्रूरता से अनेक हृदयों को विदीर्ण कर डाला है। 'समय सरगम' में कोई व्यवस्थित कथा नहीं है। पर उपन्यास में आरण्या और ईशान केंद्र में हैं। इन दोनों चरित्रों के केंद्र में होने से अनेक छोटे-छोटे प्रसंग अपनी भाव बहुलता के साथ जीवंत हो उठे हैं। आरण्या और ईशान स्थानीय हैं; पड़ोसी हैं और एक-दूसरे के हमवार भी, इसलिए एक की कठिनाई दूसरे के लिए भी कठिनाई है। एक के आँसू दूसरे की आँखों से भी बह उठते हैं; हालाँकि सोच और चिंताओं के स्तर पर दोनों चरित्रों में पर्याप्त

वैषम्य है। दोनों के बीच वैषम्य की बाधा को प्रेम पाट देता है। वे अपनी मुलाकातों में परस्पर तरल हो आते हैं। तब उनकी विपरीतताएँ धुल जाती हैं और वे एक दूसरे में गहरे उतर जाते हैं। आरण्या के जीवन की समस्या शिथिल पड़ती देह और जीवन की भाग दौड़ के बीच उस अर्थ की है जो पाकर भी दूर लगती है तथा बहुत बार वह समझ से परे चली जाती है। एकाकीपन आरण्या को नहीं चुभता। वह अपनी गति से जीती जाती हैं और समाज के हर पेचोखम को पार करती जाती हैं। अपनी व्यक्तिता को संपूर्ण मानने के कारण कई बार वह भारतीय परिवारों की जटिलता और उसकी व्याधियों पर क्रुद्ध हो उठती हैं जिसमें अब वृद्ध नागरिकों के रहने की जगह नहीं बची है। अर्थ केंद्रीयता और स्वार्थपरता ने मूल्यों की बखिया उधेड़ दी है। संयुक्त परिवारों में वृद्ध अनुपयोगी वस्तुओं की तरह घर के किसी कोने में पड़े रहते हैं जिनके दुःख दर्दों की सुधि किसी को नहीं आती; बहू और पोती-पोते तो ग़ैर हुए बेटे-बटियों की ओर से भी उपेक्षा ही मिलती है। आरण्या इन मुश्किलों से बरी हैं तो सिर्फ इसलिए कि वह परिवार के पचड़े से बाहर हैं और अपने जीवन की स्वामिनी हैं। उसे अपनी इच्छा से जीना है, उसकी इच्छा सर्वोपरि है... जीवन उसका है तो मृत्यु भी उसकी ही है...जगत् प्रपंच के झूठे आँसुओं की उसे जैसे कोई दरकार ही नहीं है।

उपन्यास के दूसरे मुख्य पात्र ईशान आरण्या की तरह अकेलेपन के अभ्यस्त नहीं रहे हैं। उन्हें जीवन के अंतिम पहर में नियति ने अकेला कर दिया है; कदाचित् यही कारण है कि उनमें परिवार के प्रति मोह है और वे यदा-कदा आरण्या से परिवारों को बचाए रखने की बात पर झगड़ते हैं तथा उनकी सुरक्षा को आवश्यक मानते हैं। लक्ष्मी, ईशान की विवाहिता थीं। ऐसी विवाहिता जो ईशान के प्रति समर्पण रखती होंगी। पर ईशान के मन में लक्ष्मी के समर्पण और प्रेम के प्रति उपन्यास में कोई गहरी स्मृति नहीं दिखाई देती। इसका निष्कर्ष यह भी निकाला जा सकता है कि लक्ष्मी से विवाह के पूर्व ईशान का परिचय भी नहीं था और वे चूँकि ईशान के पिता की पसंद थीं; इसलिए बहुत संभव है कि लंबे काल खंड में फैले इनके दाम्पत्य में सरसता ही व्यापी होगी, यह पूर्णतया नहीं कहा जा सकता। यद्यपि लक्ष्मी के प्रति ईशान की चुप्पी यह नहीं बताती कि उनके आपसी संबंध कटु या मधुर रहे होंगे। पर कामिनी के प्रसंग में ईशान की चुप्पी टूट जाती है और वे आरण्या से बीते दिनों को छुपा नहीं पाते। कृष्णा सोबती ने इस प्रसंग को कुछ इस प्रकार रखा है–

"कामिनी और ईशान के बीच लंबे बरस फैले थे। ईशान की पत्नी लक्ष्मी और कामिनी गहरी दोस्त थीं। साथ-साथ पढ़ाती रही थीं। लक्ष्मी के जाने के बाद दोनों में कुछ उभरा था, जो सहज था। फिर न जाने दोनों ओर किसी अविश्वास के बोझ तले कुछ अटपटा-सा होकर रह गया।

क्या नियति!
क्या व्यावहारिक भविष्य की उलझनें!
भाग्यवादी हूँ, फिर यह सब क्या सोच रहा हूँ।"

(पृ. 103)

उपर्युक्त उद्धरण से यह बात स्पष्ट होती है कि ईशान और कामिनी के बीच आत्मीय संबंध थे जो लक्ष्मी की मृत्यु के बाद विकसित हुए, लेकिन यह संबंध किसी अवरोध के कारण स्थायी न बन सके। ईशान में उन बीते दिनों की गहरी स्मृति है और उसकी रिक्ति का अहसास भी है वर्ना अपनी नियति, व्यावहारिक भविष्य की उलझनों और अपने भाग्य की विडंबनाओं को लेकर वे इतने उद्विग्न न होते। प्रश्न यह भी उठता है कि क्या एक स्त्री के साहचर्य और आत्मीय अंतरंगता के बाद पुरुष उसकी स्मृति को सहलाकर नहीं जी सकता ? क्या पुरुष के लिए स्त्री जीवन की अंतिम साँस तक अपरिहार्य है? ऐसा न भी हो तो भी ईशान में इसके भरपूर लक्षण देखे जा सकते हैं; पर आरण्या इस विकार से मुक्त हैं। दिलचस्प स्थिति यह है कि ईशान और आरण्या के मध्य की निकटता स्वयं ईशान की पहल से संभव हुई है; आरण्या साथ देती हैं स्वयं ईशान की तरह आगे नहीं आतीं। पुरुष की शक्ति स्त्री के धैर्य के सामने पराजित हो जाती है। ईशान आरण्या की तरह तनकर चुनौती नहीं बन पाते...कामनाओं, जंजालों में बार-बार फँसकर वे उदास होते हैं और दुःखी भी। यह ग़ौर करने की बात है कि यदि उन्हें आरण्या का साथ नहीं मिलता तो वे टूट भी सकते थे; पर टूटते नहीं।

आरण्या ईशान को न केवल जीने का अर्थ देती हैं; वरन् उन्हें पारिवारिक मोह से भी निकालती हैं और तब उनमें अपने जीवन को लेकर एक अतिरिक्त राग पैदा होता है। आरण्या अपने स्वभाव में जिस ठोस वास्तविकता के साथ दिखाई देती हैं; वह है उनकी दृढ़ता और जीवन-मृत्यु के द्वन्द्व से मुक्त रहने की संकल्पना। वस्तुतः इसी कारण आरण्या को साधुओं और धर्म की व्याख्या करनेवाले प्रवचनकर्त्ताओं में बहुत रुचि नहीं रहती।

ईशान इन प्रवचनकर्त्ताओं में दिलचस्पी लेकर अपने हारे मन को शांत करने का प्रयत्न करते रहते हैं। सही मायनों में आरण्या ही इस उपन्यास का केंद्रीय चरित्र है। ईशान उसके सहचर हैं और शेष चरित्र स्थितियों को परिप्रेक्ष्य देने में सहायक। कामिनी का प्रवेश उपन्यास में बहुत बाद में होता है। वही कामिनी; जो ईशान के जीवन में कभी सावन के दौंगरे गिराती है और ईशान उसके रिमझिम फुहारों से भीतर तक भीग जाते हैं। लेकिन नियति के क्रूर हाथों से कामिनी के जीवन का उत्तरार्द्ध अशांत हो उठता है। कामिनी के बारे में ईशान के ही शब्द हैं : *''बनारस, इलाहाबाद की पढ़ी कामिनी की पोस्टिंग कभी लंदन में थी। पहचान थी उसकी सुंदरता। फुर्तीली और चुस्त।''* (पृ. 94)

लेकिन उम्र के इस मोड़ पर अब उसका कोई हमदर्द नहीं है। अपने परिजन भी उससे शत्रुता रखते हैं और उसकी मृत्यु में ही अपना हित देखते हैं। कामिनी के लिए अपना ही धन-वैभव जंजाल हो गया है और दूर-दूर तक किसी में वह अपनापा नहीं देख पाती। उसके भैया-भाभी भी इस ताक में रहते हैं कि कब उसका उठना हो और उसकी संपत्ति पर उनका कब्जा हो जाए। वे उसकी सेहत पर ध्यान नहीं देते। वे फार्म हाउस से जब भी उसके यहाँ आते हैं, संदेह से उसे निहारते हैं और अवसर पाकर वहाँ के काग़ज़ात और दूसरी जरूरी चीज़ें ले उड़ते हैं। उन लोगों ने कामिनी के मकान का सौदा कर लिया है। मकान के असली काग़ज़ात चुरा लिए हैं और एकाध दिनों में उसे एक नर्सिंग होम में भेजने की तैयारी पूरी की जा चुकी है जिससे फुर्सत में नौकरानी खूकू से ताली लेकर गाढ़ी चीज़ें उड़ाई जा सकें। खूकू बताती है कि भाई का भेजा डॉक्टर हफ़्ते में एक बार आता है और जो दवा देता है उससे कामिनी यानी उसकी मेम साहिब सबसे बेख़बर सोई रहती हैं। डॉक्टर कामिनी की दवा के बहाने नींद की गोलियाँ या कोई धीमा असरकारक जहर भी देता है जिससे वह अधिकांश समय अचेत पड़ी रहे और जल्दी ही दुनिया छोड़ दे। उपन्यास में इस बात का उल्लेख नहीं है कि कामिनी विवाहिता रही है या उसकी कोई संतति भी है; पर उसकी स्थिति से यही लगता है कि वह एकाकी जीवन ही जीती रही होगी। प्रश्न यह नहीं है कि उसने विवाह किया या नहीं; प्रश्न यह है कि जीवन के अंतिम चरण में उसके रक्त-संबंधी उसके साथ क्रूर और जघन्य खेल क्यों खेलते हैं? क्या सगा भाई अपनी वृद्ध बहन को चैन की मृत्यु भी नहीं देना चाहेगा? अगर हमारी सामाजिक मर्यादा इस घटियापे पर उतर आई है तो उसकी किस मुँह से प्रशंसा की जानी चाहिए और किस आधार पर पारिवारिक सहिष्णुता पर इतराया जाना चाहिए। कामिनी उपन्यास में थोड़े समय के लिए आती है, पर वह अपनी स्थिति के कारण स्थायी बन जाती है और एक अनुत्तरित प्रश्न भी। कृष्णा सोबती ने कामिनी की स्थिति पर ईशान की सटीक टिप्पणी दी है। यह टिप्पणी कामिनी के साथ-साथ स्वयं ईशान और आरण्या पर भी लागू होती है :

> *''पत्तों की तरह गिरना—निःशब्द, क्या हमारी भी नियति ऐसी नहीं।*
>
> *एक लंबी साँस ले कामिनी की ओर देखा।*
> *कमरे में हवा नहीं।''*
>
> (पृ. 95)

ईशान दूसरों से नहीं, अपने से लड़ते रहते हैं। वे अपने से ही प्यार करते हैं; ऐसा कामिनी का मानना है। इस मान्यता में ही ईशान की बेपनाह तड़प की कुंजी है जिसे छुपाया जाता रहा है। क्या यह सच नहीं है कि जो अपने से अधिक प्यार करता है, वह दूसरे को उतना प्यार नहीं दे पाता जितना उसका अधिकार है? लक्ष्मी के प्रति उपेक्षा और लगातार किसी की तलाश में अपने को उलझाए रखने के कारण ही ईशान की रिक्ति गहरी होती गई है। 'समय सरगम' प्रेम के इस पक्ष पर रौशनी डालता है और यह द्योतित करता है कि प्रेम को केवल पाने या भोगने की वृत्ति से मापना अपने को धोखे में रखकर तोड़ना है। प्रेम अपने में दूसरों को जीना, महसूस करना और निरंतर उस भीतर के बजते रागों से शक्ति लेने का नाम है। ईशान प्रेम के इस सत्य को नहीं पहचानते; इसलिए भी वे अंदर से विचलित रहते हैं। वृद्धत्व बीते अतीत की मधुर स्मृति से सरस हो सकता है। जीवन के अर्थ की ओर बढ़ते क़दम संतोष की तृप्ति दे सकते हैं। आरण्या इस तृप्ति का बेहतर उदाहरण है। उस स्त्री में अवसाद की छाया भी अगर है तो अपने समाज की मर्यादाहीनता, अशिष्टता ग़ैरजिम्मेवारी की है। समाज को विभिन्न धड़ों, वर्गों और लिंगों में बाँटकर देखने की प्रवृत्ति आरण्या को दुःखी करती है। लूट की प्रक्रिया में लगे भ्रष्ट नागरिक उसे क्षुब्ध करते हैं। जीवन गुजरता जा रहा है; गुजर जाएगा...इसका दंश आरण्या को नहीं है। अपने पीछे छूटे जा रहे लोग, धन, समाज या समूचा ताना बाना उसे एक सीमा के बाद व्यथित नहीं करते। यह आरण्या की दृढ़ तपश्चर्या है और यही मोह से निवृत्त होने का एक मात्र मंत्र है। इसी मंत्र से वृद्धत्व

बोझ नहीं बनता; तब वह प्रकृति, संसृति और समग्र सृष्टि को नित नई दृष्टि से देखने का बल देने लगता है; जीवन का अर्थ-संधान भी तो यही है। 'समय सरगम' में दमयंती भी है जो है तो समृद्ध और सांसारिक, पर वह समय निकालकर आश्रम में जाया करती है। बेटों और बहुओं के सुख पर इतराती दमयंती अपने चौथेपन में कभी रेशमी कपड़ों में चमकती है तो कभी सूती वस्त्रों में। परलोक बनाने की चिंता में लगे हाथ धर्म का टोटका आजमाने वाली दमयंती यूनिट ट्रस्ट के डिवीडेंड में भी लगी रहती है। सम्पन्नता के बीच विधवा दमयंती का जीवन भुलावे में निकलता जा रहा है। बेटे उसकी उपेक्षा करते हैं, बहुएँ मुँह चिढ़ाती हैं, पर उसका बनावटी भ्रम अब भी यथावत है। उपन्यास में विधुर प्रभुदयाल की भी एक कथा है जिनके तीन बेटे हैं। अचानक उन्हें न जाने क्या सूझता है कि वे अपने कमरे में ताला डालकर घर से बाहर हो जाते हैं। कृपण स्वभाव के प्रभुदयाल कमरे की ताली गले में लटकाकर घूमते हैं और मुश्किल में पड़े बेटों की मदद से इन्कार करते हैं। वे कुछ दिनों बाद मेरठ में अपनी मामी की भतीजी कलावती के यहाँ देखे गए। कुछ ही दिनों बाद उनका शव हिंडन के कुछ किलोमीटर आगे इमली के पेड़ के पास मिला। उनकी मृत्यु गला घोंटने से हुई थी। बेटों की मानसिकता और अपने ही समधी रघुवरदयाल की फैलाई गई अफवाह के कारण वे पुत्रों के शत्रु बना दिए गए और घर का धन कहीं और जाने से बचाने के लिए पुत्रों ने उनकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर दिया। हवा में सूचना उड़ी थी कि प्रभुदयाल कलावती के लिए मेरठ में एक फैक्ट्री बनवा रहे हैं। विधुर प्रभुदयाल के पुत्रों के लिए यह असह्य था। लेकिन आश्चर्यजनक यह है कि वही पुत्र मृत प्रभुदयाल की स्मृति से दुबले होते जा रहे हैं। वे श्राद्ध कराते हैं और व्यापारी वर्ग में अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए दान-पुण्य भी करते हैं। प्रवचन होता है :

> *''एक कर्मयोगी की तरह लालाजी इस संसार में साधन-सम्पन्नता में स्थापित सुव्यवस्थित कर स्वर्ग सिधारे हैं। शांत मन से हम उन्हें श्रद्धांजलि दें और उनके पुण्यकार्यों को जीवित रखते हुए इस लोक में मनुष्य का धर्म निभाएँ।''*
>
> (पृ. 112)

वृद्ध प्रभुदयाल की हत्या उनके पुत्रों ने की हो या कलावती के भाई-भतीजों ने; उनकी हत्या हुई है यही कोई कम दुःखद नहीं है। प्रश्न है कि क्या वृद्धत्व दीन-दुनिया से विरत निर्जीव पड़े जीवन का ही नाम है? क्यों हमारा समाज यह मानकर नहीं चलता कि वृद्धों के भी अपने कुछ सपने होते हैं, उनके अंदर भी कुछ होता है जो धड़कता है। वृद्धत्व चुके हुए समय की ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति विगत का हिसाब रखता हुआ कुछ क्षणों में जी लेने की चाह रखता है। अगर प्रभुदयाल में यह चाह शेष थी तो यह अपराध क्यों हो गया? 'समय सरगम' में यह प्रश्न भी पूरी तीव्रता से उठता है और अंतस को झकझोरता है। उपन्यास में ईशान के परिचित किशोर हैं जो एक बार अस्वस्थ होते हैं तो जीवित नहीं रहते। वृद्ध भगत सिंह हैं जिनका समय छोटे और बड़े बेटों के यहाँ आने-जाने से कट जाता है। अपना शेष समय वह विद्यालयों और संस्थानों को सलाह देने में लगाते हैं। श्री और श्रीमती सुंदरम भी हैं जो मजे में अपना जीवन गुजार रहे हैं। इसमें श्रीमती विक्रमराज़ भी हैं जो अब अपने बेटे-बहू से अलग रहकर अकेला महसूस करती हैं। रंगाचारी दंपति, इला और आलोक देसाई, श्रीमती और श्री राजेंद्र प्रसाद, साहनी जैसे अनेक वृद्ध अपनी गति में जिए जाते हैं और कभी परिवारों में उपेक्षा के शिकार होते हैं तो कभी अकेले रहकर अलग-थलग महसूस करते हैं। श्रीमती विक्रमराज के अकेलेपन को भाँप कर कृष्णा सोबती की आरण्या ठीक कहती है :

> *''अकेले रहते रहते जान लेंगी कि यह स्थिति भी कम अच्छी नहीं। अकेले होने पर आप अपने से दूर नहीं होते। अपने में खोजते हैं उन संभावनाओं को जो मूल्यवान हैं। आप अपने नजदीक होते जाते हैं।''*
>
> (पृ. 82)

निश्चय ही अकेलापन उसी समय बोझ बनता है जब व्यक्ति अपने से दूर होता है। लेकिन असहाय वृद्धों पर यह उसी तरह लागू नहीं होता जिस तरह वह साधन संपन्न वृद्धों पर लागू होता है। जिस वृद्ध के लिए दो वक़्त की रोटी के लाले हों उसके लिए अकेलापन मृत्यु से भी भयानक है : यह भी उतना ही सच है जितना संपन्नता के बीच अकेलेपन का वैभव सच है। लेकिन यह उपन्यास सर्वहारा बुर्जुआ की बहस में मुब्तिला नहीं है और न ही इस आधार पर इसे देखा जा सकता है।

'समय सरगम' में जीवन के उल्लास और उसकी व्यथा के बीच जिस रहस्य को जानने की चेष्टा है; वस्तुतः वह इकहरे अर्थ संधान से परे है। इसीलिए जहाँ भारतीय जीवन के औसत मध्य या निम्न वर्ग के वृद्धों की बात उठाने का प्रयत्न होता है; वहीं

उपन्यास के वास्तविक अर्थ से विलग हो जाया जाता है। कृष्णा सोबती के इस उपन्यास को सामान्य रूप से भारतीय वृद्धों की समस्याओं के सार-संग्रह के रूप में नहीं पढ़ा जा सकता। इसे एक ऐसी रचना के रूप में पढ़ा जा सकता है जिसमें वृद्धों के जीवन को उनके अकेलेपन के साथ रखकर देखा गया है और अकेलेपन की संपूर्णता के साथ जीवन के एकांत-अर्थ को समझा गया है। अकेला होना निश्चय ही अकेला होना नहीं है; तब जब अकेले होने के रहने, जीने और अपने गंतव्य की ओर अकेले ही जाने के वास्तविक अर्थ का बोध हो जाए। तब न भरे पूरे परिवार से अलग रहने का मलाल रह सकता है और न अपनी उपेक्षा पर दुःख हो सकता है। 'समय सरगम' अपनी निर्मिति में गूढ़ बौद्धिक विमर्श को छूता है और अनेक नए प्रश्नों को हमारे समक्ष रखता है।

विधुर ईशान अकेलेपन को संपूर्णता में जीना नहीं जानते; इसीलिए वे कभी अपनी बेटियों : अपराजिता और स्रष्टा (दोनों बाहर रहकर पढ़ती हैं) की माया में उलझे रहते हैं तो कभी कामिनी को याद कर दुःखी होते हैं। असमय गुजर गए बेटे और पत्नी की स्मृति भी उन्हें यदा-कदा शोक विह्वल कर देती है। लेकिन आरण्या उनकी मिट्टी की नहीं बनी है। उसमें इतनी ताकत है कि वह औरों की व्यथा हर ले; उन्हें जीवन की सही सीख दे और एक अर्थ में 'नियति' को 'दिनचर्या' में परिवर्तित कर दे।

'समय सरगम' में स्त्री की समानता का संघर्ष यद्यपि नहीं है; पर पुरुष के समानांतर उसकी उपस्थिति को रखकर देखा गया है। पूरे उपन्यास में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ कृष्णा सोबती ने नारी विमर्श को संभव किया है और पुरुषों द्वारा स्त्रियों के प्रति भेदभाव को पर्याप्त बल देकर ग़लत ठहराया है। पर ध्यान देने की बात यह है कि कृष्णा सोबती हिंदी की पहली लेखिका हैं जिन्होंने लिंग, वर्ग, जाति, संप्रदाय और धर्म को सीधे-सीधे अस्वीकार किया है। वे न तो स्त्री-पुरुष में भेद करती हैं, न भेद करने वाले को बर्दाश्त करती हैं। उनके यहाँ सवर्ण-अवर्ण, हिंदू-मुस्लिम या विकसित-दलित की कोई दीवार नहीं खींची गई है जिसका आज पचलन है और इस प्रचलन में प्रायः सभी शामिल होकर मस्त हो रहे हैं। उनका नारीवाद भी पुरुषों की बराबरी में खड़े होकर उन्हीं के आचरणों की प्रस्तावना नहीं करता। वह पुरुषों के [illegible] ने अपने को [illegible] करने और अपने को [illegible] की आव[illegible] बल देता है। आरण्या कहती है : *"ब्रह्म को प्राप्त करने की शक्ति हर किसी के भीतर से आती है। स्त्री हो या पुरुष।"* (पृ. 66)

> *"पुरानी व्यवस्था अब भी क़ायम है नए बदलावों के साथ। लड़के और लड़की में भेद। परिवार में पुत्री और पुत्र का अबोला द्वंद्व जारी है। गर्भ में ही पुत्रियों की हत्या और पुत्रों के संरक्षण-साधन। भाई बहनों में झगड़े चलते रहते हैं। कानून बन चुके हैं, मगर उन्हें लागू कौन करेगा! माता-पिता ही तो।"*

(पृ. 92)

'समय सरगम' में धोबी राम खेलावन की यातना भरी कथा भी कम विचलित नहीं करती। सवर्णों द्वारा निम्न जातियों पर किए जा रहे अत्याचार, उनकी बहू-बेटियों के साथ बलात्कार और उनके साथ लगातार हो रहे अन्याय को भी सोबती ने लक्ष्य किया है। वे लिखती हैं :

> *"घर है हमारा देश।*
> *परदे हवा में फड़फड़ाते रहें।*
> *कमजोर, अनपढ़ जातियों पर अत्याचार होते रहें।*
> *बहू-बेटियों पर बलात्कार होते रहें।*
> *राष्ट्र है धुले-पुँछे पुण्यवान वर्गों के लिए*
> *यही कुछ कह रहे थे शायद राम खेलावन।"*

(पृ. 120)

'समय सरगम' अपने संक्षिप्त कलेवर में भी अनेक प्रश्नों, कथाओं, चरित्रों और स्थितियों से होकर गुजरता है और क्रमशः एक-एक कर अनगिनत चिंताओं को रखता जाता है। उपन्यास के प्रचलित अर्थ में हम जिस कथात्मकता और उसके विन्यास में विन्यस्त समस्याओं के साथ समापन पर कुछ ठोस निष्कर्षों के अभ्यस्त हैं; वह इस उपन्यास में नहीं मिलता। कृष्णा सोबती के ही पूर्व के उपन्यास इससे अलग हैं। यहाँ उपन्यास के शिल्प उसकी भाषा चरित्रों के संयोजन और उनके साथ बर्ताव की पद्धति बिल्कुल बदली हुई है। यह एक तरह का प्रयोग है और यह प्रयोग हर दृष्टि से सकल दिखाई देता है। आरण्या के एकाकी जीवन और एक स्वतंत्र लेखक के तौर पर जिए जा रहे उसके अंतिम वर्षों में उठे सवाल, कौंधे बिंदु और होने न होने के बीच के अंतराल को पकड़ने की कोशिश ही वस्तुतः वह केंद्र है जहाँ उपन्यास का समूचा अर्थ-स्तर खुलता है। यही कारण है कि वृद्धों का जीवन इस उपन्यास के कथासूत्र से संबद्ध होते हुए भी उपन्यास केवल

वृद्धों की गाथा-व्यथा तक संकुचित नहीं है। 'समय सरगम' में महीन बुनावट के साथ जीवन की यातनाएँ दर्ज हैं तो उसकी अनेक गुप्त और सार्थक संभावनाएँ भी। यदि इस स्तर पर उपन्यास को देखने की कोशिश नहीं होगी तो वह आसानी से पाठकों, आलोचकों के 'कुपाठ' का शिकार हो सकता है और लगातार हो भी रहा है।

कृष्णा सोबती के ही शब्दों में कहें :

"उदात्त, अनुदात्त और त्वरित। इस जीवन की अनेकों अनेक स्वर संज्ञाएँ, स्वरावलियाँ और श्रुतियाँ। और हर एक आलाप में से बहते भक्ति-भाव, राग-विराग, प्रेम-अनुराग, पीड़ा-दर्द, स्मृति-विस्मृति, तृप्ति-तन्मयता, उल्लास, सुख-दुःख, शोक-विषाद, आनंद-आह्लाद।

संचित जीवन का यही राग।"

(पृ. 153)

निःसंदेह यह रचना संचित जीवन का राग है और भविष्य की आगत स्थितियों से सावधान करती सीख है। जीवन और मृत्यु के अंतराल में अपनी उपस्थिति और कर्मण्यता के द्वंद्वों से उपजे सार्थक बिंदु की खोज का यह उपन्यास मनुष्य को आत्मबोध के लिए भी प्रेरित करता है। और इस स्तर पर यह भारतीय दर्शन के अद्वैत वेदांत की सीमा में प्रवेश कर जाता है। शून्य में, असीम में विलीन हो जाना ही उल्लास है...जीने का दुःख और एक दिन अचानक न होने के भय से परे 'समय सरगम' का निहितार्थ यही है। फ़ैज़ ने ठीक ही कहा है :

"कोई पुकारो के एक उम्र होने आई है।
सहर क़रीब है दिल से कहो न घबराए।।"

□

समय सरगम (उपन्यास)–कृष्णा सोबती/राजकमल प्रकाशन (प्रा. लि.)/संस्करण 2000/मूल्य : 125 रुपए

उपन्यास के वास्तविक अर्थ से विलग हो जाया जाता है। कृष्णा सोबती के इस उपन्यास को सामान्य रूप से भारतीय वृद्धों की समस्याओं के सार-संग्रह के रूप में नहीं पढ़ा जा सकता। इसे एक ऐसी रचना के रूप में पढ़ा जा सकता है जिसमें वृद्धों के जीवन को उनके अकेलेपन के साथ रखकर देखा गया है और अकेलेपन की संपूर्णता के साथ जीवन के एकांत-अर्थ को समझा गया है। अकेला होना निश्चय ही अकेला होना नहीं है; तब जब अकेले होने के रहने, जीने और अपने गंतव्य की ओर अकेले ही जाने के वास्तविक अर्थ का बोध हो जाए। तब न भरे पूरे परिवार से अलग रहने का मलाल रह सकता है और न अपनी उपेक्षा पर दुःख हो सकता है। 'समय सरगम' अपनी निर्मिति में गूढ़ बौद्धिक विमर्श को छूता है और अनेक नए प्रश्नों को हमारे समक्ष रखता है।

विधुर ईशान अकेलेपन को संपूर्णता में जीना नहीं जानते; इसीलिए वे कभी अपनी बेटियों : अपराजिता और स्रष्टा (दोनों बाहर रहकर पढ़ती हैं) की माया में उलझे रहते हैं तो कभी कामिनी को याद कर दुःखी होते हैं। असमय गुजर गए बेटे और पत्नी की स्मृति भी उन्हें यदा-कदा शोक विह्वल कर देती है। लेकिन आरण्या उनकी मिट्टी की नहीं बनी है। उसमें इतनी ताकत है कि वह औरों की व्यथा हर ले; उन्हें जीवन की सही सीख दे और एक अर्थ में 'नियति' को 'दिनचर्या' में परिवर्तित कर दे।

'समय सरगम' में स्त्री की समानता का संघर्ष यद्यपि नहीं है; पर पुरुष के समानांतर उसकी उपस्थिति को रखकर देखा गया है। पूरे उपन्यास में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ कृष्णा सोबती ने नारी विमर्श को संभव किया है और पुरुषों द्वारा स्त्रियों के प्रति भेदभाव को पर्याप्त बल देकर ग़लत ठहराया है। पर ध्यान देने की बात यह है कि कृष्णा सोबती हिंदी की पहली लेखिका हैं जिन्होंने लिंग, वर्ग, जाति, संप्रदाय और धर्म को सीधे-सीधे अस्वीकार किया है। वे न तो स्त्री-पुरुष में भेद करती हैं, न भेद करने वाले को बर्दाश्त करती हैं। उनके यहाँ सवर्ण-अवर्ण, हिंदू-मुस्लिम या विकसित-दलित की कोई दीवार नहीं खींची गई है जिसका आज पचलन है और इस प्रचलन में प्रायः सभी शामिल होकर मस्त हो रहे हैं। उनका नारीवाद भी पुरुषों की बराबरी में खड़े होकर उन्हीं के आचरणों की प्रस्तावना नहीं करता। वह पुरुषों के समानांतर खड़े होने अपने को विकसित करने और अपने को हर संभव समर्थ बनाने की आवश्यकता पर बल देता है। आरण्या कहती है : *"ब्रह्म को प्राप्त करने की शक्ति हर किसी के भीतर से आती है। स्त्री हो या पुरुष।"* (पृ. 66)

> *"पुरानी व्यवस्था अब भी क़ायम है नए बदलावों के साथ। लड़के और लड़की में भेद। परिवार में पुत्री और पुत्र का अबोला द्वंद्व जारी है। गर्भ में ही पुत्रियों की हत्या और पुत्रों के संरक्षण-साधन। भाई बहनों में झगड़े चलते रहते हैं। कानून बन चुके हैं, मगर उन्हें लागू कौन करेगा! माता-पिता ही तो।"*

(पृ. 92)

'समय सरगम' में धोबी राम खेलावन की यातना भरी कथा भी कम विचलित नहीं करती। सवर्णों द्वारा निम्न जातियों पर किए जा रहे अत्याचार, उनकी बहू-बेटियों के साथ बलात्कार और उनके साथ लगातार हो रहे अन्याय को भी सोबती ने लक्ष्य किया है। वे लिखती हैं :

> *"घर है हमारा देश।*
> *परदे हवा में फड़फड़ाते रहें।*
> *कमजोर, अनपढ़ जातियों पर अत्याचार होते रहें।*
> *बहू-बेटियों पर बलात्कार होते रहें।*
> *राष्ट्र है धुले-पुँछे पुण्यवान वर्गों के लिए*
> *यही कुछ कह रहे थे शायद राम खेलावन।"*

(पृ. 120)

'समय सरगम' अपने संक्षिप्त कलेवर में भी अनेक प्रश्नों, कथाओं, चरित्रों और स्थितियों से होकर गुजरता है और क्रमशः एक-एक कर अनगिनत चिंताओं को रखता जाता है। उपन्यास के प्रचलित अर्थ में हम जिस कथात्मकता और उसके विन्यास में विन्यस्त समस्याओं के साथ समापन पर कुछ ठोस निष्कर्षों के अभ्यस्त हैं; वह इस उपन्यास में नहीं मिलता। कृष्णा सोबती के ही पूर्व के उपन्यास इससे अलग हैं। यहाँ उपन्यास के शिल्प उसकी भाषा चरित्रों के संयोजन और उनके साथ बर्ताव की पद्धति बिल्कुल बदली हुई है। यह एक तरह का प्रयोग है और यह प्रयोग हर दृष्टि से सकल दिखाई देता है। आरण्या के एकाकी जीवन और एक स्वतंत्र लेखक के तौर पर जिए जा रहे उसके अंतिम वर्षों में उठे सवाल, कौंधे बिंदु और होने न होने के बीच के अंतराल को पकड़ने की कोशिश ही वस्तुतः वह केंद्र है जहाँ उपन्यास का समूचा अर्थ-स्तर खुलता है। यही कारण है कि वृद्धों का जीवन इस उपन्यास के कथासूत्र से संबद्ध होते हुए भी उपन्यास केवल

वृद्धों की गाथा-व्यथा तक संकुचित नहीं है। 'समय सरगम' में महीन बुनावट के साथ जीवन की यातनाएँ दर्ज हैं तो उसकी अनेक गुप्त और सार्थक संभावनाएँ भी। यदि इस स्तर पर उपन्यास को देखने की कोशिश नहीं होगी तो वह आसानी से पाठकों, आलोचकों के 'कुपाठ' का शिकार हो सकता है और लगातार हो भी रहा है।

कृष्णा सोबती के ही शब्दों में कहें :

"उदात्त, अनुदात्त और त्वरित। इस जीवन की अनेकों अनेक स्वर संज्ञाएँ, स्वरावलियाँ और श्रुतियाँ। और हर एक आलाप में से बहते भक्ति-भाव, राग-विराग, प्रेम-अनुराग, पीड़ा-दर्द, स्मृति-विस्मृति, तृप्ति-तन्मयता, उल्लास, सुख-दुःख, शोक-विषाद, आनंद-आह्लाद।

संचित जीवन का यही राग।"

(पृ. 153)

निःसंदेह यह रचना संचित जीवन का राग है और भविष्य की आगत स्थितियों से सावधान करती सीख है। जीवन और मृत्यु के अंतराल में अपनी उपस्थिति और कर्मण्यता के द्वंद्वों से उपजे सार्थक बिंदु की खोज का यह उपन्यास मनुष्य को आत्मबोध के लिए भी प्रेरित करता है। और इस स्तर पर यह भारतीय दर्शन के अद्वैत वेदांत की सीमा में प्रवेश कर जाता है। शून्य में, असीम में विलीन हो जाना ही उल्लास है...जीने का दुःख और एक दिन अचानक न होने के भय से परे 'समय सरगम' का निहितार्थ यही है। फ़ैज़ ने ठीक ही कहा है :

"कोई पुकारो के एक उम्र होने आई है।
सहर क़रीब है दिल से कहो न घबराए।।"

□

समय सरगम (उपन्यास)–कृष्णा सोबती/राजकमल प्रकाशन (प्रा. लि.)/संस्करण 2000/मूल्य : 125 रुपए

भारतीय कविता का ताना-बाना

(कविता संचयन : ताना-बाना : सं.—केदारनाथ सिंह, के. सच्चिदानन्दन पर)

सूर्य प्रसाद दीक्षित

एक समेकित भारतीय साहित्य की रूप-रचना की आवश्यकता बहुत दिनों से अनुभव की जा रही थी। केंद्रीय साहित्य अकादमी इस दिशा में प्रयासरत है, किंतु भाषायी विविधता के कारण स्वातंत्र्योत्तर भारत में भाषा की भेदमूला राजनीति इतनी सक्रिय हो गई है कि अलग-अलग भाषाओं का संभरण प्रधान हो गया है और इसलिए सबका विलयन करके एकीकृत भारतीय साहित्य का निर्माण बाधित हो गया है। पिछले पचास वर्षों में विभिन्न भारतीय भाषाओं में तो पुष्कल साहित्य-रचना हुई है, किंतु एक अखंड इकाई के रूप में अभी स्वतंत्र अनुशासन के रूप में भारतीय साहित्य नहीं उभर पाया। इधर तुलनात्मक भारतीय साहित्य के अनेक उपक्रम हुए हैं, जिससे अंतरप्रांतीय साहित्य की जानकारी बहुत विकसित हुई है, किंतु जब तक इन भाषिक इकाइयों का तिरोभाव एक भाषिक संस्कृति में नहीं हो जाता, तब तक अकादमी द्वारा मान्यता प्राप्त बीसों भारतीय भाषाओं में काव्य, उपन्यास, नाटक आदि स्वतंत्र रूप से प्रकाशित होते रहेंगे, जिन्हें हिंदी, बांग्ला, मराठी, तमिल, तेलुगु आदि की रचनाएँ कहा जाता रहेगा, भारतीय साहित्य की रचनाएँ नहीं। संप्रति अपने-अपने भाषिक मोह और अपनी अस्मिता के लिए यह अपरिहार्य हो गया है। आवश्यकता है कि जिस प्रकार समूचे देश का एक राष्ट्रीय इतिहास है, एक भारतीय दर्शन है—उसी प्रकार एक भारतीय साहित्य की स्थापना की जाए।

यह अनुष्ठान तभी पूरा हो सकेगा, जब हिंदी को मध्यस्थ (सेतु) भाषा बनाया जाए और सभी स्रोत भाषाओं की मानक कृतियों को उसमें निरंतर रूपांतरित (अनूदित) किया जाता रहे। पारस्परिक अनुवाद की यह निरंतर प्रक्रिया साहित्य अकादमी द्वारा ही संभव है। आवश्यकता यह है कि अकादमी प्रत्येक भाषा में प्रकाशित कालजयी कृतियों को हिंदी में समानांतर अनूदित प्रकाशित करती रहे और उन कृतियों का कोटि निर्धारण करती हुई मानक सूची में दर्ज कराती रहे, ताकि कभी यह प्रश्न किया जाए कि भारतीय साहित्य के श्रेष्ठतम दस उपन्यास या काव्य सौष्ठव कौन-कौन से हैं, तो उस सूची के वरीयता-क्रम के अनुसार उनका नामोल्लेख किया जा सके। संप्रति अकादमी पुरस्कारार्थ प्रत्येक भाषा की जो कोटा-नीति लेकर चल रही है और दक्षिण के आग्रहवश अंग्रेजी को सेतु भाषा बनाए हुए है, वह भारतीय साहित्य के एकीकरण की दिशा में एक अवरोध है। भारतीय ज्ञानपीठ, बिरला फाउंडेशन (सरस्वती सम्मान) आदि द्वारा सर्वश्रेष्ठ भारतीय कृतियों की काफी खोज की गई है, किंतु वे समकालीनता तक सीमित है और भाषायी कोटा से पूर्ण मुक्त नहीं हो पाए हैं।

भारतीय कविता के मूल स्वर की खोज करते हुए डॉ. केदारनाथ सिंह तथा डॉ. सच्चिदानंदन ने 'ताना-बाना' के माध्यम से यह कार्य काफी सफलतापूर्वक संपन्न किया है। इसमें हिंदी को लक्ष्य भाषा बनाया गया है और हिंदीतर 15 भाषाओं की उन अनूदित कविताओं को इसमें संकलित किया गया है, जो स्वतंत्रता के पश्चात् तैयार की गई हैं अर्थात् जिनके अनुवाद सुलभ हो गए हैं। इसमें मणिपुरी, मैथिली, डोंगरी, राजस्थानी जैसी अर्द्धविकसित भाषाएँ हैं किंतु उसी कोटि की अन्य भाषाओं, जैसे कोंकणी, सिंधी, संस्कृत, नेपाली आदि को छोड़ दिया गया है। यों हर भाषा की बानगी अनिवार्य नहीं। हाँ, नीतिगत एकरूपता अवश्य होनी

चाहिए।

चयनित कवियों के पीछे संपादक द्वय की नीति रही है—'जिनका कृतित्व स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सामने आया।' इस नीति के कारण कई प्रतिष्ठित कवि अलक्षित रह गए हैं, जैसे केदारनाथ अग्रवाल, धर्मवीर भारती, भवानी प्रसाद मिश्र, सुमन, अंचल, सर्वेश्वर, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, भारतभूषण अग्रवाल, नीरज, बच्चन, दुष्यन्त आदि। दूसरी ओर राजेश जोशी, गगन गिल, अनामिका, नीलेश रघुवंशी जैसे अल्प चर्चित कवि भी इसमें समाविष्ट हैं, जिनका पूरा कद अभी निर्माणाधीन है। हाँ समसामयिक हिंदी कविता की सजग संपादकीय दृष्टि का प्रमाण इसमें अवश्य मिलता है।

इस संकलन में पीछे निश्चय ही एक 'दृष्टि' सक्रिय रही है। संपादकद्वय ने प्रतिबद्धता को पर्याप्त प्रश्रय दिया है। बांग्ला तथा तेलुगु में प्रकाशित नक्सली साहित्य, मराठी की दलित और कन्नड़ की बंडाय कविता को इसीलिए यथेष्ट स्थान प्राप्त हुआ है। संकलित रचनाओं की मूलभूत 10 प्रवृत्तियाँ यहाँ मुखरित हुई हैं—

1. अहं केंद्रित अस्वीकार-दर्शन
2. व्यवस्था-विरोध
3. विगत की ममत्वपूर्ण स्मृति
4. वैश्विक दृष्टि
5. सांस्कृतिक भावैक्य
6. अनास्था एवं विक्षोभ
7. नवमानवतावादी परिकल्पना
8. उत्तर-आधुनिकता
9. अस्मिता की खोज
10. साहित्य की सार्थकता की तलाश।

स्पष्टतः इसमें वाम-दक्षिण-द्वंद्व और अस्तित्ववादी विचारधारा को प्राथमिकता दी गई है। संकलित कवियों को छंदोबद्ध, छंदविहीन, मुक्तक और प्रबंधकार रूप में रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। इन रचनाओं द्वारा निस्संदेह देश की मिट्टी के कई भिन्न-भिन्न रंग दिखाई देते हैं, शब्द संस्कृति की संकृति भी इसमें काफी अनुगुंजित हुई है, लेकिन सबका स्वर एक देशकाल की समन्वित चेतना से ही ओतप्रोत है। इनका उद्भिज जगत् और जैवी धरातल भी एक जैसा ही है। तमिल के संगम कवि हों या काश्मीरी के कवि, यदि नाम, स्थान छिपा लिया जाए तो यह नहीं कहा जा सकता कि यह कवि कश्मीर अथवा तमिलनाडु का ही हो सकता है। यही नहीं, पाकिस्तानी उर्दू कविता देवनागरी में छपकर सर्वसामान्य हिंदी कविता जैसी ही दिखती है। वस्तुतः कुछ देशज या तद्भव शब्दों को हटा दिया जाए तो सर्वत्र एकमेव अखंड अभेद्य मानवीय चेतना भास्वर होती दिखाई देगी। तात्पर्य यह कि भाषाई भेद बहुत कुछ आरोपित है। यदि इस सत्य का व्यापक प्रचार-प्रसार कर दिया जाए तो यह तथ्य स्वतः सिद्ध हो जाएगा कि युग-युग से हम सब एक हैं। कहना न होगा कि राष्ट्रीय विघटन की इन विषम परिस्थितियों में यह भाव साम्य कितना लोकोपकारक होगा।

निश्चय ही संपादकद्वय ने इस चयन में असामान्य श्रम किया है। संग्रह-त्याग की द्विविधा से मुक्त होकर उन्होंने प्रथम बार 120 कवियों और उनकी ढाई सौ से अधिक कविताएँ यहाँ प्रस्तुत की हैं। कुछ कवि जैसे नागार्जुन (यात्री) और राजकमल चौधरी हिंदी, मैथिली और बांग्ला से एक साथ जुड़े हैं, शेष एकल भाषा के कवि हैं।

यह संग्रह सर्वथा परिपूर्ण है। मेरी निजी मनोकामना यह थी कि स्थापित कवियों को अवश्य स्थान दिया जाता। मराठी के केशवसुत बालकवि, गुजराती के उमाशंकर जोशी, मलयालम के शंकरकुरुप आदि का अभाव खटकता रहेगा। स्तरीय कवियों के समावेश से संग्रह को 'ग्लोजरी' का रूप मिल जाता और तब यह पाठ्यक्रमों का आधारग्रंथ बन जाता। इस संकलन में साहित्य अकादमी, ज्ञानपीठ तथा भारत भूषण पुरस्कार प्राप्त कवियों का बाहुल्य है, यद्यपि पुरस्कार चयन की कसौटी नहीं रही है।

अस्तु, संकलन सर्वथा स्वागत योग्य है। अनुवाद और स्वामित्व की अनुमति के व्यवधान के बावजूद छः सौ आठ पृष्ठों का इतना विराट संकलन संपादित, प्रकाशित करना सदा सर्वदा दुष्कर माना जाएगा। इससे हिंदी का बृहत्तर हित हुआ है। □

ताना-बाना, स्वाधीनता के बाद की भारतीय कविता से एक चयन, संपादक : केदारनाथ सिंह, के. सच्चिदानंदन, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, मूल्य 600/-

जटिल तानों के जंगल में जीवन राग

(मंगलेश डबराल के कविता-संग्रह 'आवाज़ भी एक जगह है' पर)

सुशील सिद्धार्थ

मेरे परिचित कवियों के पते भी बदल गए
जो चेहरों पर अपनी कविता का प्रकाश लिए हुए चलते थे
और अब जो यह काँपती हुई सी रोशनी है
कहना कठिन है कि अँधेरा शुरू होने के पहले की है
या उजाला खत्म होने के बाद की है

—आवाज़ भी एक जगह है/47

इसे काव्यगुण कहा जाय अथवा कवि स्वभाव कि समय के तमाम उत्तप्त मार्गों से अबाध आवागमन के बावजूद मंगलेश डबराल की कविताएँ रचनात्मक धैर्य का नया आस्वाद प्रस्तुत करती हैं। उनमें जीवन के अनेक प्रयास और पश्चात्ताप निबद्ध हैं किंतु सप्तकों को रौंदने का विजयोन्माद नदारद है। संभवतः इसीलिए मंगलेश की कविता शोर को भी संगीत की तरह लिखने का सलीका जानती है। एक साँस में सब कुछ कह कर हाँफने और सुस्ताने वाले रचनाकारों से बिलकुल अलग मंगलेश डबराल ने एक 'निरुद्विग्न निजता' अर्जित की है। **परमानंद श्रीवास्तव** का निष्कर्ष सही लगता है कि **'मंगलेश हड़बड़ी की कविताई के कवि नहीं हैं फुर्सत में हैं और एक साथ अपने को और ज़माने को देख रहे हैं।....जिन चिंताओं को लेकर कइयों की कविताओं में हाहाकार है, वहाँ उन्हीं को लेकर एक हल्की दबी सी चीख।'**

यह दबी सी चीख बेचैन समझदारी का परिणाम है। **'पहाड़ पर लालटेन'**, **'घर का रास्ता'**, **'हम जो देखते हैं'** के बाद **'आवाज़ भी एक जगह है'** संग्रह मंगलेश डबराल को वास्तविकताओं के अंतर्लोक की जानकारी रखने वाला कवि सिद्ध करता है। जीवन से निकलने वाली सारी ध्वनियों, उससे विच्छुरित होने वाले सारे रंगों, उससे लिपटी सारी विवशताओं, उसमें रेंगने वाली सारी कामनाओं और उसमें चिटकने वाले सारे स्फुलिंगों को कवि साधन बनाकर एक वृहत्तर अर्थ तक पहुँचना चाहता है। जाहिर है अपने समकालीन रचनाकारों की तरह मंगलेश को भी पता है कि चीज़ें किस कुठांव तक आ चुकी हैं। घर से बाहर तक या बाज़ार है या उसकी आतंकित करती परछाईं। चीजें मनुष्य की विवशता पर खिलखिला रही हैं। 'चीजें आपस में लगातार एक मैत्रीपूर्ण युद्ध में उलझी होती हैं' और

'जो लोग सिर्फ़ सहमी आँखों से देखते रहते हैं
वे भी जानते हैं कि यहाँ रखी चीज़ों का कोई विकल्प नहीं है
फ़र्क सिर्फ़ यह है कि जो कुछ आम तौर पर
जिस तरह दिखता है वह उस तरह नहीं होता
यह बाजार का एक ठोस आध्यात्मिक आधार है
इसीलिए चमत्कारों का उत्पादन सबसे बड़ा व्यापार है'

इस काव्यांश में 'आध्यात्मिक आधार' से निकलता व्यंग्य कई ठोस रूपों में चारों ओर देखा जा सकता है। बेचने या बिकने के अनिवार्य विकल्पों की त्रासदी मंगलेश को निरंतर पुनःपड़ताल में व्यस्त रखती है। इस संग्रह में उन्होंने संगीत की दुनिया और उसके सामाजिक रिश्तों की पर्तें खोलते हुए कई कविताएँ शामिल की हैं। संगतकार, रचना-प्रक्रिया, अमीर खां, केशव अनुरागी, गुणानंद पथिक, गाता हुआ लड़का जैसी कविताएँ स्वरों को खोखला करने पर उतारू सभ्यता की समीक्षा करती हैं। ये कविताएँ कहती हैं कि 'हिंदू संगीत मुस्लिम संगीत' और 'पार्श्व से सुनाई देते' विवादी स्वरों के समय में घर और घराने का बनना अथवा संगीत का गुरुत्व थामे रहना कितना कटु तथा कठिन है। इस समय में व्यवसायियों के साथ कम्युनिस्ट पार्टी भी शामिल है। इनके चलते गुणानंद

पथिक का सुरीला वाद्य और उनके रचे गीत विस्मृति की खोह में गुम हो जाते है। एक लोकगीत की तरह भुला दिए गए गुणानंद पथिक की कहानी बखानते हुए कवि समूची जीवन पद्धति में आए उस बदलाव को रेखांकित कर देता है जो कई संकटों का स्रोत है। एक तरह से ये कविताएँ सामाजिक घमासान में कला की विकलता को आवाज़ देती हैं। फिर से प्रकट हो रही विडंबनाओं में से एक यह कि, 'लेकिन मैं हूँ एक अछूत कौन मुझे कहे कलाकार/मुझे ही करना होगा·आजीवन पायलागन महाराज जय हो सरकार।' कई दशक पहले निराला द्वारा आत्ममूल्यांकन में लिखा वाक्य, 'ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत' मंगलेश के इस वाक्य में धँस कर एक नया विमर्श लिखता प्रतीत होता है। 'केशव अनुरागी' कविता ढोल, ताल, सबद के बहाने कला की विडंबनाओं पर उँगली रखती है, साथ ही निहितार्थ को उदात्त के इलाके में जाने की सुविधा प्रदान करती है। कला की सामूहिक कृतज्ञता को जानने के लिए 'रचना प्रक्रिया' का पाठ ज़रूरी है। 'संगतकार' कविता मंगलेश के कवि व्यक्तित्व और उनकी कविता की 'रहनि' को समझने के सूत्र प्रदान करती है। प्रतिरोध के मोर्चे पर मंगलेश की कविताएँ निरंतर मुस्तैद रही हैं किंतु उनमें आत्म प्रदर्शन की व्याकुलता नहीं है। सामाजिक परिवर्तन में एक सामान्य मनुष्य की अनिवार्य परंतु संकोचभरी विनम्र उपस्थिति को इस कविता में पढ़ा जा सकता है। श्रेय लूटने वालों की भीड़ में 'स्वर को ऊँचा न उठाने की कोशिश' निश्चित रूप से मनुष्यता है। कवि का यह स्वभाव कई दूसरे प्रसंगों में देखा जा सकता है। स्वप्न में दिखे 'मंगल' ग्रह पर—

'मुस्कराते फोटो खिंचाते जालिम नहीं थे
बल्कि अगर वहाँ मनुष्य थे
तो वे खोजे जाने से बचते थे
अपने को छिपाए रहते थे एक अनिवार्य संकोच में'

सब कुछ उघाड़ने और बेच देने के उत्साह से भरे समाज में यह संकोच मनुष्यता की मौजूदगी है। 'राग दुर्गा' और 'गाता हुआ लड़का' संगीत के बहाने गुम गई गूँजों को पुनः-पुनः पकड़ने की कोशिशें हैं। इन कविताओं में यथार्थ के कई रूप और मुद्रा की कई मुद्राएँ विन्यस्त हैं।

ऊबे अघाए लोगों द्वारा फेंकी जा रही जूठन के बीच बिलबिलाते असंख्य मनुष्यों के दुख मंगलेश डबराल की रचनाओं में उस धीमी पर मुसलसल कराह की तरह सुने जा सकते हैं जो काली रात में कहीं दूर से उमड़ती आ रही है। विसंगतियों और विडंबनाओं से खौलते समाज का एक चित्र 'खुशी कैसा दुर्भाग्य' में बना है। इसमें गौरतलब यह कि 'जिसने कुछ रचा नहीं समाज में। उसी का हो चला समाज।' जिसकी लाठी उसकी भैंस मात्र मुहावरा नहीं, उत्तर-आधुनिक सच है। 'ठाढ़ा सिंह चरावै गाई' जैसी कबीरी उलटवासियाँ ही आज का सच हैं, यह मंगलेश की कविताएँ विनम्र पर दृढ़ स्वरों में कहती हैं। मंगलेश इस आपाधापी में उन लोगों को खोज निकालते हैं जो 'दूसरे लोग' हैं। जो 'मानवीय साँचों में ढले हैं'। कवि सचेत है कि अत्याचारियों के हाथों इनका बचा-खुचा संसार नष्ट न हो जाए। 'ली पाइ', 'ब्रेष्ट और निराला' कविताओं में अतीत की सक्रिय स्मृति से कवि बचे-खुचे संसार को बचा ले जाने की ऊर्जा बटोरता है। यदि पूरी दुनिया में अत्याचार की परंपरा है तो इसी दुनिया में उसे चुनौती देने की दूसरी परंपरा भी है। इसीलिए इस परंपरा की रोशनी में 'महामहिमों से बचना, भेड़ियों सियारों की करतूतों और औरतों के आँसुओं को दर्ज करना अब भी संभव है'। 'क्रेमलिन कथा' और 'क्रेमलिन संग्रहालय' में कुछ ऐतिहासिक दुर्घटनाएँ अंकित हैं। केवल क्रेमलिन के चर्च में प्रार्थनारत बेरोजगार कारीगर ही नहीं, दुनिया में फैले तमाम जरूरतमंद जानते हैं कि ताज़िरों और हलालों के साथ मिलकर राजनीतिज्ञों ने वे तमाम हाथ छीन लिए हैं जो लेनिन ने जार से छीनकर लौटाए थे। विचारधारा का अंत केवल पन्नों पर नहीं होता, जीवन में भी बहुत कुछ अच्छा और मानवीय खत्म हो जाता है— यदि उसमें व्यापक सामाजिक हित भी शामिल हो। तब भी 'मरियम' के रूप में एक आशा है जो जीवित है। जीवन में आई **'बर्बर वस्तुप्रियता'** को मंगलेश डबराल ने लगभग सारे संग्रह में चिह्नित किया है।

संग्रह में कुछ कविताएँ ऐसी हैं जो स्त्रियों की दुनिया में चुपचाप घट रही नारकीयता को देखने के लिए खिड़की खोलती हैं। फ़ेदरीको फ़ेल्लीनी की फिल्में देखने के बाद रची 'स्त्रियाँ' दमन की दारुण परंपरा को उद्घाटित करती है। सिर्फ अभिनय कर रहे पुरुषों के बीच मर्म और प्रेम पर आधारित स्त्री जीवन न जाने कितने कगारों से ढकेला जाता है, घसीट कर अत्याचारियों, सामंतों, तानाशाहों के हुजूर में लाया जाता है। हर ओर से बहिष्कृत और निर्वासित स्त्रियों की धीमी कोमल आवाज़ 'भारी कोलाहल के बीच/हम सुन नहीं पाते।' निहत्थी और भीषण दुनिया से अनजान-स्त्रियों के विषय का मार्मिक विवरण मत्र्योश्का, तारे के

प्रकाश की तरह, तुम्हारे भीतर, लड़की और अंधा आदमी जैसी कविताओं में उपलब्ध है। मंगलेश ने स्त्री के अस्तित्व संघर्ष को पहचानते हुए उसकी ज़रूरी सहभागिता को स्वीकार किया है। लगातार 'निरीह नागरिक' की श्रेणी में खतियाई गई स्त्री अपमान के अँधेरे में एक रोशनी है। आभारी होना चाहिए कि 'एक स्त्री के कारण एक स्त्री बची रही तुम्हारे भीतर'। स्त्री अर्थात् रचनात्मकता की हार्दिक ऊर्जा। बाज़ारू सोच में फँसी स्त्रियों की शिनाख्त मंगलेश डबराल ने 'बाज़ार' जैसी कविताओं में की है। व्यक्तिगत दुखों और सामाजिक नीचताओं की वजह से भी कई कविताएँ लिखी गई हैं। वे लोग जो अकारण कष्टों के बियाबान में भटक रहे हैं, मंगलेश को प्रेरित करते हैं। संबंधों का एक बनता-बिगड़ता व्याकरण कई कविताओं में पढ़ा जा सकता है। कवि को पता है कि महान् मित्रताएँ भी समाप्त होंगी और शानदार दावतें सस्ती सी चिल्लाती जगहों में बदल जाएँगी। यह समय का बेबूझ चरित्र है जो कभी चकित करता है और कभी व्यथित। बड़े शहर में सिर नीचा करने को अभिशप्त जीवन जब आत्मीयता के इलाके में जाता है तो कैसे संकोच और शर्मिन्दगी से दो चार होता है उसे 'लौटा मैं इस बड़े शहर में' कविता प्रकट करती है। खोखले जीवन का सच इस कविता में ध्वनित होता रहता है। 'सात दिन का सफ़र' में भी अनायास बीतते व्यर्थ दिनों की टीस है। व्यर्थता बोध, ऊब, अवसाद यद्यपि कविता में पीछे छूट गए पारिभाषिक हैं, फिर भी जटिल जीवन में इनके नए अर्थ इस संग्रह में कई बार चमक उठते हैं। ये सारे अर्थ व्यवस्था की बेदिली के साथ प्रतिरोधी शक्तियों में दिखती दरारों का भी बयान करते हैं। परिदृश्य कुछ ऐसा है कि 'उसका मस्तिष्क दब गया है अभी-अभी गिरे/गुंबदों के मलबे में।' तमाम पस्ती के बीच अभी भी उम्मीद बाकी है और इसे 'धूल' में मंगलेश पहचान लेते हैं। एक रूपक रचती यह कविता इस निर्णय पर रुकती है कि 'कई चीज़ों से उठती हुई धूल आपस में मिलकर धूल की एक दीवार बनाती है और अन्याय की आँखों में घुसने की कोशिश करती रहती है'। कवि का भरोसा ऐसी कई कोशिशों पर साफ दिखाई देता है। 'अपनी छायाएँ' का दूसरा टुकड़ा ऐसे ही भरोसे का साक्ष्य है जहाँ मुक्तिबोध के चेहरे की उम्मीद सआदतपुर में चमकती आँखों के एक व्यक्ति के चेहरे पर पुनर्जन्म प्राप्त करती है। वस्तुतः यह संघर्ष, विरोध और उम्मीद की अटूट परंपरा है। इसमें शामिल लोग ही उस गरीब की सूरत बदलेंगे 'जिसे बादशाह के बागीचे में टहलने की मनाही है/अनंत काल से'। 'पिता का हवाला' का आशय यह भी है कि ऐसे लोग समय-समय इस्तेमाल किए गए विचारों को पिता की उपयोगी चीजों की तरह बचाए रखें। एक दूसरे अर्थ में यह एक सघन मानवीय कविता तो है ही।

मंगलेश डबराल छोटी कविताओं में निरंतर एक महाकाव्यात्मक अर्थात् की खोज करते रहते हैं। इसे 'चुंबन' और 'घर की काया' जैसी कविताएँ पढ़कर विशेषतः समझा जा सकता है। अर्थ की एकायामिता को खारिज करती ऐसी रचनाएँ नित्य नूतन आशयों में अभिव्यक्त होती रहती हैं।

इस संग्रह में 'आवाज' शब्द बार-बार आया है और हर बार एक नई विडंबना को उजागर करते हुए। अभीष्ट अर्थ यह है कि कोलाहल कलह में प्रेम, अपनत्व, स्वीकार सृजन, सहभाग, मानवीयता की धीमी पर मूल्यवान आवाज़ अनसुनी न चली जाए। हमारे समय के एक बड़े कवि **जयशंकर प्रसाद** ने इसी आवाज़ के लिए **'हृदय की बात'** का प्रयोग किया था—**'तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन'**। कवि जानता है कि ऐसी आवाज़ों की खोज ज़रूरी है मगर जिन मुसीबतों में वे कैद हैं उनकी पहचान भी समय रहते की जानी चाहिए। इस प्रक्रिया में मंगलेश कई बार परिचित यथार्थ की पुनः पहचान भी कराते हैं।

मंगलेश के पास एक संयमित, क्षिप्र और अर्थवान भाषा है। भाषा इतनी मितभाषी है कि कई बार थोड़े विस्तार की इच्छा होती है। आलोचकों ने मंगलेश के काव्यानुशासन की बार-बार प्रशंसा की है जो कि सर्वथा उचित है। अपने समकालीनों में उनकी आवाज़ अलग से पहचानी जाती है। यह प्रतिरोध की आवाज़ है, बिना किसी क्रांतिकारी घोषणा के। इस आवाज़ के सहारे मंगलेश डबराल उन अधूरी कविताओं और उन अधूरे संघर्षों तक पहुँचना चाहते हैं जो तथाकथित पूर्णता से अधिक मूल्यावान हैं :

'वे विरोध करती थीं
दूर जाने लगती थीं वहीं से पुकारती थीं
दूर से फेंकती थीं अपनी चमक अपनी परछाईं
वे बार-बार ठुकराती थीं उपलब्ध जीवन को'

निश्चित रूप से 'आवाज़ भी एक जगह है' की कविताओं को पढ़ना प्रतिरोध के मनुष्योचित स्वर संसार में दाखिल होना है। □

आवाज़ भी एक जगह है : मंगलेश डबराल (कविता संग्रह) वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, मूल्य : 90.00/-

दिल्ली में उनींदे : गद्य का कोमल गांधार

(गगन गिल की गद्यकृति 'दिल्ली में उनींदे' पर)

रमेश दवे

गगन गिल मूल रूप से निर्मल भाव और स्वभाव की सर्जक हैं। उनकी प्रकृति यदि काव्यमय है, जो उनकी गति का उन्मेष गद्य में निहित है। गल्प, यात्रावृत्त, डायरी, स्मृति-लेख आदि सब मिलाकर गगन गिल अपनी नई पुस्तक **'दिल्ली में उनींदे'** का सृजन आत्मीयता के शिल्प से करती हैं। वे क्षोभ और विक्षोभ के बीच से उस जीवन-तत्त्व का उत्खनन भी करती हैं, जो कहीं पहाड़ों में पड़ा है तो कहीं दिल्ली की सड़क पर किसी आटो रिक्शा में ऊँघ रहा है। वे अपने पूरे गद्य में आत्मीय तो होती हैं, लेकिन वैसी भावुक या सेण्टीमेण्टल नहीं होतीं, जिससे तत्त्व और तथ्य का आत्मीय विश्वास भंग होता हो। उनके पास गहरी भाषागत समझ है, जिसका प्रयोग वे इतनी सावधानी से करती हैं कि जटिलताओं के आक्रोश तक भाषा में निरीह और कोमल हो उठते हैं। सृजन का सौंदर्य ही यह है कि वह क्रूरतम स्थितियों में मनुष्य के संवेदन की कोमलता सुरक्षित रखे। जिस रिक्शे वाले के साथ एक प्रकार का गल्पात्मक स्मृति-अंश वे प्रारंभ करती हैं, वह रिक्शे वाला शहर की विसंगतियों को गालियों से कोस सकता था, व्यवस्था पर बरस सकता था, अपने अंदर की पीड़ा को उद्वेग बना कर उद्वेलित हो सकता था और जीवन की अनेक विरूपताओं, विवशताओं और विडंबनाओं के प्रति एक प्रकार का प्रतिबद्ध आक्रोश व्यक्त कर सकता था, किंतु उसका सब कुछ थोपा हुआ यथार्थ न होकर अपना ही रचा हुआ सत्य है और उस सत्य का सहज स्वीकार है। उसके पास संयम का संवाद है, अपने श्रम का कोई स्वाभिमानी दंभ न होकर, सम्मान है और एक बहुत ही विनम्र आभार भाव है उस व्यक्ति के प्रति जिसने उसके श्रम को उसके अपने मनुष्य होने की प्रतिष्ठा दी।

जेआरआर टोल्किन जैसे बहुमुखी सर्जक की जीवनी में हम्फ्री कारपेण्टर ने स्वयं टोल्किन की श्रेष्ठ कृति **दी लार्ड आफ द रिंग्ज़** की रचना पर उनके ही शब्दों में सृजन प्रक्रिया का जिस प्रकार से उल्लेख किया है, उससे रचना प्रक्रिया की समझ का वस्तुनिष्ठ विस्तार होता है। टोल्किन कहते हैं– "कोई भी व्यक्ति ऐसी कहानी किसी वृक्ष की पत्तियों के अवलोकन भर से नहीं लिखता, न वनस्पति शास्त्र या मिट्टी-विज्ञान के माध्यम से, बल्कि ऐसी कथा तो मन की पत्तीवत हलचल में अंधकार में भी एक बीज की तरह उगती है, बढ़ती है, जिसमें वह सब निहित होता है जो सोचा या पढ़ा गया है और बहुत पहले ही भुला भी दिया गया है और जो अंतर की अनंत गहराइयों में उतर कर समा गया है।" स्मृति लेखों का यह कोमल गांधार एक प्रकार से गगन गिल की गद्य सर्जना का शिल्प है। गगन गिल ने स्वयं ही इस पुस्तक की प्रस्तुति इन शब्दों में की है। "इस पृथ्वी के एक जीव के नाते मेरे पास ठोस की जकड़ है और वायवीय की माया। नींद है और जाग है। सोए हुए लोग जागते हैं। जागते हुए लोग सोए जाते हैं। लेकिन कुछ ऐसे हैं जो न इधर हैं, न उधर। वे प्रायः नींद से बाहर और स्वप्न के भीतर होते हैं। उनींदे...मैंने स्वयं को अक्सर यहीं पाया है।" इनके बीच ही गगन अपने होने के प्रश्न खोजती है, अपने कविपन से लेकर अपने उनींदेपन तक। एक प्रकार से गगन का यह उनींदापन जो वह तरह-तरह के लोगों में पाती है और उन्हें उनके ही सपनों के अंदर टटोलती है, ऐसा लगता है जैसे गगन का अपना एक रचनात्मक ट्रांस हो। एक रचनाकार का भौतिक-वस्तुओं में प्रवेश करके भाव वस्तु में समा जाना ही उनींदेपन का शिल्प है और 'दिल्ली में उनींदे' उसी शिल्प

का प्रतिफलन है।

स्मृति लेखों का गद्य सम्मोहक गद्य तो हो सकता है, लेकिन उसमें शास्त्रीय राग की सी कसावट नहीं हो पाती। वह कोमल गांधार में भी एक प्रकार का सुगम संगीत बन कर रह जाता है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि यह स्मृति लेख संग्रह कोई नया 'बहुवचन' या ओमनीबस है, मगर इतना अवश्य है कि बहुत सतही ढंग से देखने पर यह ओमनीबस जैसा लगता ज़रूर है। गगन गिल जैसी सर्जक बहुवचनीय हों, तो अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि उनके पास अनेक विधाओं की एक अन्वेषक दृष्टि है, लेकिन वे कविता में जितनी स्वाभाविक लगती हैं, गद्य में भी वैसी ही स्वाभाविकता का आग्रह लेकर आती हैं। इससे गद्य भी कोमल तो होता है, रिदमिक और प्रवाहमय होता है, पाठक की स्मृति-चेतना को वह छूता भी है, लेकिन विचार का वह गांभीर्य बिखर जाता है, जो रचना के अंदर का सौंदर्य उद्‌घाटित करता है। गगन गिल का गद्य एक सरस रचना तो अवश्य है, लेकिन महादेवी के रेखाचित्रों के साथ अगर इन्हें रखें तो ऐसा लगता है कि भले ही गगन का गद्य-उन्मेष महादेवी जैसा न हो, लेकिन गद्य लेखन भी उनकी काव्य-प्रकृति का एक भाग अवश्य है। एक बात इस पुस्तक से यह जरूर ज़ाहिर होती है कि उन्होंने, यदि विचलन के स्तर पर देखा जाए, तो गद्य को उसके जटिल होने, विचार बद्ध होकर अधिक उलझनपूर्ण होने से बचाया है और गद्य में एक पठनीय सहजता रची है।

राजाराम के दिल्ली में उनींदेपन से मुठभेड़ एक प्रकार से गगन की एक ऐसे जीवन दर्शन से भेंट है, जिसके पास अपने मनुष्य होने का सत्य है और अपने आस्तिक विश्वास का बिलकुल खुला-खुला स्वप्न। न वह राजा है, न राम लेकिन उसके अंदर उसके ईमान का एक इंसान है, जो अपने अतीत का स्मृति अंश गाँव में छोड़ आया है, अपने वर्तमान को आटो रिक्शा की चलती-फिरती झुग्गी में उनींदेपन के स्वप्न के साथ जी रहा है, और अपने भविष्य की एक दीवार खींच रहा है जिसके अंदर वह अपनी उस उम्र की पनाह खोज सके, जिस उम्र में दिल्ली उसके लिए बेकार हो जाएगी। यह कथात्मक गद्य इतना निरीह, इतना स्वाभाविक और इतना सरस है कि अनावश्यक भावुकता से बचता हुआ वह अत्यंत आत्मीय और संवेदन-वेग से आप्त है।

''क्या संशय एक कंकर है, जिसे मैं इस यात्रा में बार-बार अपने भीतरी कुएँ में फेंकती हूँ।'' लद्‌दाख का यह यात्रावृत्त प्रकृति में मनुष्य के सौंदर्य की कथा कहता है। **'मुझे जाना है काशी, कहता हूँ, कोसल जा रहा हूँ'** श्रीकांत वर्मा की यह कविता पंक्ति ही इस यात्रावृत्त का सौंदर्य है। यात्रावृत्त यात्रा तो है ही, लेकिन वह वृत्त तभी बनता है, जब यात्रा-मग्न यात्री काशी जाने को अपने कोसल जाने में समाहित कर ले। 'केलौंग कि किन्नौर' इसी काशी-कोसल यात्रा-प्रतियात्रा का सौंदर्य है। किस प्रकार अपने से अलग प्रकृति में, अपने से अलग संस्कृति में, अपने से अलग लोगों में और अपने से अलग स्थितियों में यात्रा करती गगन और उसकी साथी अपनापन खोज लेती हैं, संशय का कंकर फेंक-फेंक कर अपने कुएँ के पानी में उनकी छायाएँ देखती हैं, इससे यात्रावृत्त अपने मोहकपन के साथ गद्य में जो प्रच्छन्न पर्यटन करता है, वही इस वृत्त के शिल्प की विशेषता है। न भिक्षुओं के बीच न तिब्बतियों के बीच, न लद्‌दाखिनों के बीच किसी गहरे दर्शन की तलाश है और न यात्रा को दार्शनिक मुद्रा में देखने का दुराग्रह। बर्फ, पहाड़, लोग, प्रकृति और तरह-तरह के कंकरों वाले संशय यदि यात्रा में न हों, तो फिर मनुष्य के अपने यात्री होने का मतलब ही क्या? गगन ने इसलिए इस यात्रा-प्रसंग को न अकादमिक बनाया है, न कोई बौद्धिकता का लद्‌दाखी चोगा पहनाया है और न कोई बड़ा ऐसा दावा किया है, जिससे भिक्षुवृत्ति अपनाकर कोई नया राहुल सांकृत्यायन बना जाय। ट्रक में सफर और संवाद कोई अलग किस्म का अनुभव तो नहीं बनता, बल्कि एक सामान्य-सी घटना भर है, लेकिन ट्रक, होटल, ढाबा, चाय की दुकान, तिब्बती-संगीत, आदि के स्थूलों से होते हुए मैत्रेय के सूक्ष्म तक जाना गगन में उस दृष्टि का होना सिद्ध करता है, जो एक सर्जक को स्मृतिकार के कायालोक से मुक्त कर रचना के मायालोक में अंतरित करता है।

कथा या उपन्यास में कभी-कभी जिस प्रकार की अस्पष्टता या अनिश्चितता दिखाई दे जाती है, वैसी कथागत अस्पष्टता से गगन ने बचने की कोशिश की है। यदि **एमिली ब्राण्टी के वदरिंग हाइट्स** की तरह सोचा जाए तो गगन के ये सभी स्मृति-लेख अपनी रूपवस्तु में कथात्मक होते हुए भी गल्पात्मकता से मुक्त शिल्प रचते हैं। वदरिंग हाइट्स की तरह प्रेम यहाँ है, मगर वह मूर्त होकर अमूर्त है, अर्थात् वह एक लोकभाव है जो व्यक्ति से न जुड़ कर व्यापक लोक से जुड़ा है। यहाँ भी स्मृतियों के क्षण बनते हैं, लोकजीवन से संवाद पैदा होता है, प्रकृति में अपने तरह का

आत्मराग खोजा जाता है, विदेशी पर्यावरण में यात्राएँ गति गृहण करती हैं, मगर चूँकि गगन के पास एक गल्प-मानस है और गल्प-मानस चूँकि एक प्रकार का आदिम-मानस होता है, इसलिए सारे वृत्तांतों में गल्पात्मक लय है।

स्मृति-लेख या डायरी और यात्रावृत्त तो कई हैं। **मुक्तिबोध की डायरी** एक प्रकार से साहित्य की विचार-डायरी है। निर्मल वर्मा की **'धूल से उठती धुंध'** स्मृति का सृजन-शास्त्र है। अज्ञेय की यायावरी **'एक बूँद सहसा उछली'** में सांस्कृतिक वैभव की विरासत है, रमेशचंद्र शाह की डायरी और योरप का यात्रावृत्त गवेषणात्मक चिंतन में निहित है, मगर गगन ने इन सबके प्रभावों की छाया अपने पर नहीं आने दी है। इसलिए विदेशी या चेक संदर्भ आते भी हैं, तो वे गगन के हैं, उस पर निर्मल वर्मा की छवि आरोपित नहीं की जा सकती।

'एक भिक्षु की अनुपस्थिति' में एक प्रकार से स्मृति का कथाकल्प है। स्मृति के घाव और घाव की स्मृति, एक भिक्षु की स्त्री के प्रति करुणा-विहीनता, भिक्षु के अंदर और बाहर की काया, अनुपस्थिति का रंग और अनुपस्थिति का हस्तक्षेप, एक प्रकार की फेण्टेसी रचते हैं। यहाँ आकर गगन कुछ-कुछ मेटाफिजिकल होती-सी लगती हैं। 'डायरी और नोट्स' का खण्ड 'तुम्हारे पाँव में मेरा पाँव' पुरी, लिंगराज, शांतिनिकेतन की स्मृतियों में कुछ जीवन-बोध और कुछ मनुष्य-बोध के बीच कोई स्पेस खोजता-सा लगता है। वसंत विहार, मद्रास, किसी फिल्म का रोमांच रचता है, तो जिद्दू कृष्णमूर्ति के उस व्यक्ति प्रगल्भ दर्शन की भी सैर करता है, जहाँ कृष्णमूर्ति अपनी ही एक निर्ग्रंथ निराकृति रचते हैं। थाईलैण्ड से लौटते हुए जो नोट्स लिखे गए हैं उनमें बुद्ध और कृष्णमूर्ति पुनः गगन की चेतना में प्रवेश करते हैं, और ऐसा लगता है कि गगन ने कुछ हद तक एक प्रकार का बौद्ध-विराग अपने अंदर रच लिया है। कोचीन, कन्याकुमारी और त्रिवेन्द्रम बहुत उकसाते तो नहीं, मगर बर्लिन में रोलां बियर और उनके मित्र के साथ के अनुभव परायेपन की संज्ञाओं को नकारते हैं और एक प्रश्न पैदा करते हैं कि अपने जैसा मनुष्य कहीं भी हो, चाहे लद्दाख में हो या बर्लिन, पेरिस में, मनुष्य मनुष्य के साथ पराया हो कैसे सकता है? पेरिस का यात्रावृत्त अपने में अद्भुत सा लगता है क्योंकि यहाँ एक प्रकार से मर्म का लालित्य डायरी से झाँकता है।

आत्मकथात्मकता, पारिवारिक घरेलूपन, पौराणिकता, जातकता, और निहायत निजीपन के शून्य से उपजी सहज भावुकता 'दिल्ली में उनींदे' का गद्य-शिल्प रचते हैं। हिंदी में दो बड़े लेखक ऐसे लगते हैं जैसे वे भाषा में पूर्ण शाकाहारी या टीटोटलर हों। एक हैं अज्ञेय और दूसरे निर्मल वर्मा। रेटरिक और रीडिंग में काव्य और आलोचना के जो नए रूपक देखे जा रहे हैं, संभवतया अज्ञेय और निर्मल वर्मा इन दोनों रूपकों से भी बाहर खड़े होकर भाषा के आंतरिक शील से सृजन करते हैं। इसलिए शब्द यहाँ शस्त्र नहीं बनता बल्कि एक सांस्कृतिक-बोध बनता है। गगन की भाषा में पंजाबी परुषपन हो सकना स्वाभाविक होता, लेकिन संभवतया भाषा के आंतरिक-शील को अपना कर उन्होंने अपनी आधुनिकता में भी उत्तर-आधुनिकता का वह कला-कल्प ग्रहण कर लिया है, जिसमें भाषा हर जगह अपने ही घर की तरह अपने साथ उपस्थित है। अनुपस्थिति में भी उपस्थिति का यह हस्तक्षेप 'याद' को 'दया' की तरह तरल कर देता है।

अंतिम खंड में गगन का यह कहना है कि "जब कण्ठ नहीं होता, प्यास कहाँ लगती है" एक निहायत निजी हानि के क्षोभ से उत्पन्न यह वाक्य अवश्य है, लेकिन गद्य का जो निर्वैयक्तिक, निस्तब्ध और निर्विकार सौंदर्य उन्होंने पूरी किताब में रचा, वह यहाँ आकर भावुकता से गलित होता हुआ नज़र आता है। एक लेखक अपने समग्र में कई क्षणों से एक साथ टकराती तो है, मगर इस समग्र का संपादन भी अनिवार्य है, अन्यथा अनेक राग-ध्वनियाँ भावुकता के आग्रह में बँध कर स्थूल और नक़ली हो जाती हैं। पिता-समय, मृत्यु-समय हो सकता है, लेकिन गगन या किसी भी सर्जक का समय तो भौतिकताओं के समय से मुक्त समय होता है। वह तो शाश्वत सृजन-समय है, काव्य-समय है और सदैव अपने भौतिक समय-बोध को रचना के बोध में बदलता समय है। मृत्यु पिता की हो या किसी अन्य अनन्य की, मृत्यु का क्षोभ, मृत्यु जन्य व्यथा और विक्षोभ, गहरी उदासी में विलीन होते आत्मबोध सब कुछ मृत्यु की स्वीकृति के ही भाववाचक हैं। यदि गगन अपने इन भाववाचकों से मुक्त हो सकतीं, तो पिता-समय को अधिक गहरे से अपना गद्य-समय बना सकती थीं। गगन जब यह मानती है, कि हर प्रेम की एक खाई होती है, तो यह पूछना एक प्रकार से निरर्थक लगता है, कि तुम्हारी खाई कौन सी है।

यदि 'दिल्ली में उनींदे' को कहानी, उपन्यास, और यहाँ तक कि कविता के विधागत शिल्प से अलग रखकर देखा जाए तो गगन की यह पुस्तक इन तीनों विधाओं के बीच खड़ी एक

अंतर-विधात्मक पुस्तक है और संभवतया वैसा बहुवचन नहीं है, जैसा रमेशचन्द्र शाह का है। हिंदी गद्य जिस प्रकार अपनी समृद्धि से भाषा की अस्मिता का एक सार्वभौमिक व्याकरण रच रहा है, उससे लगता है कि ऐसी पुस्तकों का लिखा जाना ज़रूरी है। ''हमारे पैर में एक जैसे चक्कर हैं'' और ''हमारे माथे पर एक जैसी चोट है'' ये निजीपन के अनुभव का एक सत्य हो सकता है, लेकिन भाषा का सत्य और सृजन का सत्य तो एक जैसेपन के विलोम का सत्य है। गगन ने इस विलोम को रचा भी है। लेकिन ऐसा भी लगता है कि अनेक मुकाम पर जहाँ वे बड़े विचलन कर सकती थीं, वहाँ संयत होकर उन्होंने अपने को संमेट लिया है। रचना किसी भी विधा की हो, उसका अपना कुछ तो प्रच्छन्न होना ही चाहिए, मगर उसके अंदर यह चुनौती भी चाहिए जो प्रच्छन्नता के उद्घाटन का आह्वान करती हो। मर्म और संवेदन अवश्य हों, लेकिन गलित-मर्म एवं विगलित-संवेदनों का निषेध आवश्यक है। मनुष्येतर होने का प्रयत्न स्वाभाविक हो सकता है, लेकिन मनुष्य बने रहने का आग्रह पालना अधिक कठिन है। 'दिल्ली में उनींदे' की विशेषता यह है कि गगन के पास मनुष्येतर होने के अनेक स्मृतिक्षण आते हैं, गुजर जाते हैं, लेकिन गगन मनुष्य रह पाने के आग्रह को ठीक़ से निभा ले जाती हैं। नींद के हाशिए पर खड़ी होकर एक सर्जक उनींदेपन के सत्य से साम्मुख्य तो कर रही है, लेकिन गगन की नींद और जाग दोनों ही कविता हैं, और वह कविता हर जगह मौजूद है। □

दिल्ली में उनींदे (बैले-लेटर्स), गगन गिल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, मूल्य : 195/-

रचनाकार परिचय

कृष्णा सोबती

कथा-लेखिका, उपन्यासकार। प्रकाशित पुस्तकों में 'ज़िंदगीनामा', 'मित्रो मरजानी', 'डार से बिछुड़ी', 'सूरजमुखी अँधेरे के', 'यारों के यार तिन पहाड़', 'हम हशमत, भाग 1 व 2, 'दिलो दानिश', 'ऐ लड़की', आदि शामिल। साहित्य अकादेमी पुरस्कार, साहित्य अकादेमी की महत्तर सदस्यता तथा साहित्य कला परिषद् से सम्मानित।

संपर्क : 505 बी, पूर्वाशा, मयूर विहार, फ़ेज़-1, दिल्ली-91।

रामस्वरूप चतुर्वेदी

हिंदी-आलोचक। प्रकाशित पुस्तकों में 'भाषा और संवेदना', 'अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या', 'कामायनी का पुनर्मूल्यांकन', 'इतिहास और आलोचक दृष्टि', 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' तथा 'कविता का पक्ष' आदि शामिल। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिंदी प्राध्यापक के पद से सेवानिवृत्त। 'नयी कविता', 'क ख ग', 'नये पत्ते' पत्रिकाओं के संपादक रहे। साधना सम्मान तथा व्यास सम्मान से पुरस्कृत।

संपर्क : 3, बैंक रोड, इलाहाबाद, उ. प्र.।

कमलेश्वर

कथा-लेखक, उपन्यासकार। प्रकाशित पुस्तकों में 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ', 'काली आँधी', 'लौटे हुए मुसाफिर', 'समुद्र में खोया हुआ आदमी', 'कितने पाकिस्तान' (उपन्यास), 'राजा निरबंसिया', 'कस्बे का आदमी', 'खोई हुई दिशाएँ', 'मांस का दरिया' (कहानी-संग्रह), 'कश्मीर : रात के बाद' (यात्रा-वृत्तांत), 'जो मैंने जिया', 'यादों के चिराग़', 'जलती हुई नदी' (आत्मकथा) आदि विशेष चर्चित। 'नई कहानियाँ', 'सारिका' आदि के संपादक रहे। लगभग 100 हिंदी फिल्मों तथा 10 हिंदी सीरियलों के पटकथा-लेखक। आजकल 'दैनिक भास्कर' के प्रधान संपादक।

संपर्क : 5/116, ईरोज़ गार्डन, सूरजकुंड रोड, नई दिल्ली-44।

केदारनाथ सिंह

कवि, आलोचक। प्रकाशित पुस्तकों में 'अभी, बिल्कुल अभी', 'जमीन पक रही है,', 'यहाँ से देखो', 'अकाल में सारस', 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ', (कविता संग्रह), 'कल्पना और छायावाद', 'आधुनिक हिंदी कविता में बिंब-विधान' (आलोचना तथा शोध) आदि शामिल। कुमारन आशान पुरस्कार, दयावती मोदी कवि शेखर सम्मान, साहित्य अकादेमी पुरस्कार तथा मैथिलीशरण गुप्त सम्मान से सम्मानित।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से हिंदी के प्राध्यापक पद से सेवानिवृत्त। 'साखी' नामक अनियतकालीन पत्रिका के संपादक।

संपर्क : ए-88/3, एस.एफ़.एस. फ़्लैट्स, साकेत, नई दिल्ली।

परमानन्द श्रीवास्तव

कवि, आलोचक। प्रकाशित पुस्तकों में 'समकालीन कविता का यथार्थ', 'नई कविता का परिप्रेक्ष्य', 'समकालीन हिंदी कविता का व्याकरण', 'शब्द और मनुष्य', 'उपन्यास का पुनर्जन्म', 'जैनेन्द्र और उनके उपन्यास', 'अगली शताब्दी के बारे में', 'उजली हँसी के छोर पर' तथा 'कविता का अर्थात्' आदि पुस्तकें विशेष चर्चित। उ. प्र. हिंदी संस्थान के रामचन्द्र शुक्ल पुरस्कार से सम्मानित। आजकल 'आलोचना' त्रैमासिक पत्रिका के संपादक।

संपर्क : बी-70, आवास विकास कॉलोनी, सूरजकुंड, गोरखनाथ पो.ऑ., गोरखपुर।

मृदुला गर्ग

कथा-लेखिका, उपन्यासकार। प्रकाशित कृतियों में 'अनित्य', 'मैं और मैं', 'चित्तकोबरा', 'कठगुलाब' (उपन्यास), 'डैफ़ोडिल जल रहे हैं', 'ग्लेशियर से', 'उर्फ़ सैम', 'टुकड़ा-टुकड़ा आदमी' (कहानी संग्रह) तथा 'जादू का कालीन' (नाटक) आदि शामिल। 'चित्तकोबरा' का जर्मन अनुवाद प्रकाशित। मध्य प्रदेश साहित्य परिषद् से पुरस्कृत।

संपर्क : ई-118, मस्जिद मोठ, ग्रेटर कैलाश-3, नई दिल्ली-48।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

कवि, आलोचक, संपादक। 'चीज़ों को देखकर', 'साथ चलते हुए', 'बेहतर दुनिया के लिए', 'आखर अनन्त' (कविता संग्रह), 'छायावादोत्तर हिंदी गद्य साहित्य', 'समकालीन हिंदी कविता', 'रचना के सरोकार', 'हजारी प्रसाद द्विवेदी', 'कविता क्या है', 'गद्य के प्रतिमान' (आलोचना) आदि पुस्तकें प्रकाशित। 1978 से साहित्यिक त्रैमासिक 'दस्तावेज़' का संपादन। गोरखपुर विश्वविद्यालय में हिंदी-विभाग के अध्यक्ष।

संपर्क : बेतियाहाता, गोरखपुर, उ.प्र.।

निर्मल वर्मा

चिंतक, कथा-लेखक, उपन्यासकार। प्रकाशित कृतियों में 'वे दिन', 'रात का रिपोर्टर', 'एक चिथड़ा सुख', 'लाल टीन की छत', 'परिन्दे', 'कव्वे और काला पानी', 'चीड़ों पर चाँदनी', 'भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र', 'दूसरे शब्दों में', 'कला का जोखिम', 'ढलान से उतरते हुए', 'शब्द और स्मृति', 'धुंध से उठती धुंध', 'इतिहास स्मृति आकांक्षा' तथा 'अंतिम अरण्य' आदि विशेष चर्चित। 'मायादर्पण' कहानी पर फिल्म निर्माण। निराला सृजनपीठ, भोपाल तथा यशपाल सृजनपीठ, शिमला के अध्यक्ष रहे। 7 वर्ष चेकोस्लोवाकिया में रहे तथा कई चेक कथाकृतियों के अनुवाद प्रकाशित। 1996 में अमेरिका की पत्रिका 'वर्ल्ड लिटरेचर' के बहुसम्मानित पुरस्कार 'न्यूश्ताद् अवार्ड' के लिए भारत से मनोनीत। साहित्य अकादेमी पुरस्कार, शलाका-सम्मान, लोहिया अतिविशिष्ट सम्मान, साधना-सम्मान, मूर्तिदेवी पुरस्कार तथा ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित।

संपर्क : वाई-ए-1, सहविकास, 68 पटपड़गंज, इन्द्रप्रस्थ एक्सटेंशन, नई दिल्ली।

विद्यानिवास मिश्र

संस्कृत आचार्य, निबंधकार, आलोचक एवं परंपराविद। अब तक प्रकाशित पुस्तकों में 'महाभारत का काव्यार्थ', 'रीति विज्ञान', 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है', 'पाणिनि की विवरणात्मक तकनीक', 'हिंदी साहित्य का पुनरावलोकन', 'भारतीय चिंतनधारा', 'भारतीय भाषा दर्शन की पीठिका', 'सोहम्', 'कबीर वचनामृत', 'साहित्य का खुला आकाश', 'राधा माधव रंग रँगी', 'तंत्र-कला और आस्वाद', 'लागौ रंग हरी', 'निज मुख मुकुर', 'परंपरा बंधन नहीं' तथा 'नैरंतर्य और चुनौती' आदि विशेष चर्चित। नवभारत टाइम्स के प्रधान संपादक रहे। संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति रहे। मूर्तिदेवी पुरस्कार, साहित्य अकादेमी की महत्तर-सदस्यता, विश्वभारती पुरस्कार, शंकर-सम्मान, भारत-भारती पुरस्कार से सम्मानित। भारत सरकार की पद्‌मश्री व पद्‌मभूषण उपाधियों से अलंकृत। आजकल साहित्यिक मासिक 'साहित्य-अमृत' के संपादक।

संपर्क : 'वृंदा', एम-3, बादशाहबाग, सिगरा, वाराणसी (उ.प्र.)।

कुँवर नारायण

कवि-कथाकार, आलोचक। प्रकाशित पुस्तकों में 'चक्रव्यूह', 'परिवेश : हम तुम', 'अपने सामने', 'कोई दूसरा नहीं' (कविता-संग्रह), 'आत्मजयी' (प्रबंध-काव्य), 'आज और आज से पहले' (आलोचना), 'आकारों के आसपास' (कहानी-संग्रह) आदि शामिल। साहित्यिक पत्रिका 'युग-चेतना' के संपादक-मंडल में रहे। 'नया प्रतीक' और 'छायानट' के संपादक-मंडल में भी रहे। हिंदुस्तानी अकादेमी पुरस्कार, प्रेमचंद पुरस्कार, तुलसी पुरस्कार, कुमारन आशान पुरस्कार, साहित्य अकादेमी पुरस्कार, भवानी प्रसाद मिश्र पुरस्कार, व्यास सम्मान भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता के शतदल पुरस्कार से सम्मानित। उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादेमी के उपाध्यक्ष तथा भारतेंदु नाट्य अकादेमी के अध्यक्ष रहे। 'आत्मजयी' का इतालवी अनुवाद प्रकाशित। कवाफ़ी के अनुवाद चर्चित। फिल्म और ललित कलाओं पर लेखन। इन दिनों दिल्ली में।

संपर्क : एस-371, ग्रेटर कैलाश, पार्ट-1, नई दिल्ली-48।

बच्चन सिंह

कथाकार, आलोचक। प्रकाशित पुस्तकों में 'सूतो वा सूतपुत्रो वा', 'लहरें और कगार', (उपन्यास), 'क्रांतिकारी कवि निराला', 'हिंदी नाटक', 'रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना', 'आचार्य शुक्ल का इतिहास पढ़ते हुए', 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास', 'बिहारी का नया मूल्यांकन', 'हिंदी आलोचना के बीजशब्द' (आलोचना) आदि शामिल। इन दिनों बनारस में रहकर स्वतंत्र लेखन।

संपर्क : निराला निवेश, रथयात्रा, महमूरगंज, वाराणसी-10 (उ.प्र.)।

वागीश शुक्ल
आलोचक, कथाकार, परंपराविद्। संस्कृत और फारसी साहित्य के गंभीर अध्येता। 'पूर्वग्रह', 'समास', 'आलोचना', 'सेमिनार', 'द बुक रिव्यू' आदि पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित। मिर्ज़ा ग़ालिब के वाङ्मय की टीका पर किए जा रहे व्यापक काम के सिलसिले में लिखित अनेक निबंधों का प्रकाशन। हिंदी में लिखे जा रहे उपन्यास 'अथ याज्ञवल्क्योपाख्यान' के कुछ अंश 'समास', 'पूर्वग्रह' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित। भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, दिल्ली में गणित के प्राध्यापक।

संपर्क : म. न. 4, गली नं. एम/1, आई.आई.टी कैंपस, हौज खास, नई दिल्ली-16।

राममूर्ति त्रिपाठी
भारतीय काव्यशास्त्र के यशस्वी आचार्य। विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के हिंदी विभाग के अध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त। प्रकाशित कृतियों में 'भारतीय काव्यशास्त्र के नए क्षितिज', 'तंत्र और संत', 'हिंदी साहित्य का इतिहास', 'रस-विमर्श', 'आदिकालीन साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका', 'भारतीय धर्म साधना', 'औचित्य-विमर्श', 'व्यंजना और नवीन कविता' तथा 'लक्षणा और उसका आधुनिक हिंदी काव्य में प्रसार' आदि विशेष चर्चित। भवभूति अलंकरण, साहित्य-भूषण सम्मान, हजारी प्रसाद द्विवेदी पुरस्कार, रामानंद पुरस्कार, डालमिया पुरस्कार तथा उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान के नामित पुरस्कार से सम्मानित। वर्तमान में हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद के सभापति। प्राच्य साहित्य के अध्ययन-अनुसंधान में संलग्न।

संपर्क : 2, स्टेट बैंक कॉलोनी, देवास रोड, उज्जैन, म.प्र.।

किशोरीलाल
रीतिकालीन साहित्य के आचार्य। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापक पद से सेवानिवृत्त। प्रकाशित कृतियों में 'रीति कवियों की मौलिक देन', 'बिहारी काव्य की उपलब्धियाँ', 'घनआनंद : काव्य और आलोचना', 'रीतिकाव्य शब्दकोष', 'सुंदरी-सिंदूर (देव की रचनाओं का संपादन-व्याख्या)' आदि उल्लेखनीय। रेवरेंड ग्रीव्ज कृत 'ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर' का हिंदी अनुवाद 'हिंदी साहित्य का रेखांकन' नाम से प्रकाशित। इन दिनों इलाहाबाद में रहकर मध्यकालीन साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन में संलग्न।

संपर्क : 160, नैनी बाज़ार, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश।

रामदेव शुक्ल
उपन्यासकार, आलोचक। गोरखपुर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त। प्रकाशित कृतियों में 'घनानन्द का काव्य' (आलोचना), 'ग्रामदेवता', 'मन दरपन' (उपन्यास) आदि शामिल। 'ग्रामदेवता' का भोजपुरी अनुवाद प्रकाशित।

संपर्क : विश्वविद्यालय आवास, हीरापुरी पार्क रोड, गोरखपुर-273008 (उ. प्र.)।

श्रीलाल शुक्ल
व्यंग्य-लेखक, उपन्यासकार। अब तक 9 उपन्यास, दो कहानी संग्रह, 7 व्यंग्य संग्रह तथा आलोचना की एक पुस्तक प्रकाशित। 'राग दरबारी', 'मकान', 'पहला पड़ाव', 'विश्रामपुर का संत', 'अंगद का पाँव', 'अगली शताब्दी का शहर', 'उमरावनगर में कुछ दिन', 'यह घर मेरा नहीं' तथा 'अज्ञेय : कुछ राग और कुछ रंग' विशेष रूप से उल्लेखनीय। 'राग दरबारी' तथा 'पहला पड़ाव' के अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित। भारतीय प्रशासनिक सेवा से सेवानिवृत्त। भारत सरकार द्वारा एमरेटस फेलोशिप प्राप्त। साहित्य अकादेमी पुरस्कार, हिंदी साहित्य परिषद् पुरस्कार, साहित्य-भूषण सम्मान, लोहिया सम्मान, शरद जोशी सम्मान, मैथिलीशरण गुप्त सम्मान तथा बिड़ला फाउंडेशन के व्यास सम्मान से सम्मानित।

संपर्क : बी 2251, इंदिरा नगर, लखनऊ (उ. प्र.)।

कृष्ण बलदेव वैद
कथा-लेखक, उपन्यासकार। प्रकाशित पुस्तकों में 'उसका बचपन', 'दर्द ला दवा', 'बिमल उर्फ जायँ तो जायँ कहाँ', 'काला कोलाज', 'लीला', 'नर-नारी', 'माया-लोक', 'मेरा दुश्मन', 'लापता', 'दूसरे किनारे से', 'गुजरा हुआ जमाना' आदि शामिल। भूख आग है (नाटक)। वर्षों तक न्यूयार्क स्टेट विश्वविद्यालय में अंग्रेजी में अध्यापन कार्य। 1985-88 निराला सृजनपीठ, भोपाल के अध्यक्ष रहे। अनेक रचनाएँ भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी, स्वीडिश, जर्मन, नार्विजियन, इतालवी आदि में अनूदित।

संपर्क : 1652-बी-1, वसंत कुंज, नई दिल्ली-70।

मनोहर श्याम जोशी

कथाकार, उपन्यासकार। प्रकाशित कृतियों में 'कसप', 'कुरु-कुरु स्वाहा', 'हमज़ाद', 'हरिया हरक्यूलीज़ की हैरानी' आदि शामिल। दूरदर्शन के लिए 'हम लोग' तथा 'बुनियाद' जैसे मेगासीरियलों की पटकथा का लेखन। वर्षों तक 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' के संपादक रहे। आजकल दिल्ली में रहकर स्वतंत्र लेखन।

संपर्क : ए-53, डी.डी.ए. फ्लैट्स, साकेत, नई दिल्ली-16।

चित्रा मुद्गल

कथालेखिका, उपन्यासकार। प्रकाशित कृतियों में 'मामला आगे बढ़ेगा अभी', 'जिनावर', 'जगदम्बा बाबू गाँव आ रहे हैं', 'ज़हर ठहरा हुआ', 'इस हमाम में', 'लाक्षागृह', 'एक ज़मीन अपनी' तथा 'आवां' आदि शामिल।

संपर्क : बी-105, वर्धमान अपार्टमेंट्स, मयूर-विहार, फेज़-I, दिल्ली-91।

रमेशचंद्र शाह

कवि, कथाकार, आलोचक। 'हरिश्चंद्र आओ', 'नदी भागती आई', 'प्यारे मुचकुंद को', 'शब्द भी देखते हैं अपना समय' (कविता-संग्रह), 'छायावाद की प्रासंगिकता', 'वागर्थ' (आलोचना), 'गोबर गणेश', 'किस्सा गुलाम', 'पुनर्वास', 'पूर्वापर' (उपन्यास), 'थिएटर' (कहानी संग्रह), 'सबद निरंतर' (निबंध संग्रह) आदि पुस्तकें प्रकाशित। भोपाल स्थित निराला सृजनपीठ के निदेशक। मध्य प्रदेश शासन के शिखर सम्मान, भारतीय भाषा परिषद् तथा भवानी प्रसाद मिश्र पुरस्कार से सम्मानित।

संपर्क : निराला सृजनपीठ, सी-165/1, प्रोफेसर कॉलोनी, भोपाल-462882 (म. प्र.)।

चम्पा वैद

कवयित्री। अब तक दो कविता-संग्रह 'अब सब कुछ', 'सन्नाटे के इर्द गिर्द' प्रकाशित।

संपर्क : 1652-बी-1, वसंत कुंज, नई दिल्ली-70।

लीलाधर जगूड़ी

कवि। प्रकाशित कृतियों में 'भय भी शक्ति देता है', 'घबराए हुए शब्द', 'बची हुई पृथ्वी', 'अनुभव के आकाश में चाँद' तथा 'महाकाव्य के बिना' आदि शामिल। कविताओं के जर्मन, जापानी, पोलिश, अंग्रेजी, रूसी अनुवाद प्रकाशित। 1984 में 'पाँच बेटे' नाटक पर नाट्यालेख प्रतियोगिता का प्रथम पुरस्कार। साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित। कुछ दिन 'उत्तर प्रदेश' मासिक पत्रिका का संपादन। 1981 से उ.प्र. सूचना एवं जनसंपर्क विभाग से संबद्ध।

संपर्क : डी-2094, इंदिरा नगर, लखनऊ (उ.प्र.)।

उदय प्रकाश

कवि, कथाकार, आलोचक। प्रकाशित कृतियों में 'सुनो कारीगर', 'अबूतर-कबूतर', 'रात में हारमोनियम', 'तिरिछ', 'और अंत में प्रार्थना', 'दरियाई घोड़ा', 'वारेन हेस्टिंग्स का सांड़' आदि विशेष चर्चित। 'पूर्वग्रह', 'दिनमान' और 'संडेमेल' में वर्षों तक कार्य। फिल्मों और टेलीविजन धारावाहिकों के लिए पटकथा लेखन। भारतभूषण अग्रवाल, ओमप्रकाश साहित्य सम्मान तथा श्रीकांत वर्मा स्मृति पुरस्कार से सम्मानित।

संपर्क : एम.आई.जी.-9, तरुण विहार, सेक्टर 13, रोहिणी, दिल्ली-85।

ज्योत्स्ना मिलन

हिंदी कवयित्री और कथाकार। प्रकाशित पुस्तकों में 'घर नहीं' (कविता-संग्रह), 'अ अस्तु का', (उपन्यास), 'खंडहर और अन्य कहानियाँ' (कहानी-संग्रह) आदि शामिल। 'अनुसूया' पत्रिका की संपादक।

संपर्क : निराला सृजनपीठ, सी-165/1, प्रोफेसर कॉलोनी, भोपाल-462882 (म.प्र.)।

उदयन वाजपेयी

कवि, कहानीकार, निबंधकार। 'सुदेशना' (कहानी-संग्रह), 'कुछ वाक्य' (कविता संग्रह), 'अभेद आकाश' (फिल्मकार मणि कौल से संवाद), 'चरखे पर बढ़त' (निबंध संग्रह) आदि पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आलोचनात्मक लेख प्रकाशित। कुमार साहनी की रवीन्द्रनाथ टैगोर के प्रसिद्ध उपन्यास पर आधारित फिल्म 'चार अध्याय' में संवाद लेखन। गाँधी चिकित्सा महाविद्यालय में फ़िज़ियोलॉजी के प्राध्यापक।

संपर्क : 90/45, तुलसी नगर, भोपाल-462003 (म.प्र.)।

हिमांशु जोशी

कथाकार। प्रकाशित कृतियों में 'अंततः', 'जलते हुए डैने', 'तपस्या तथा अन्य कहानियाँ', 'गंधर्व-गाथा', 'छाया मत छूना मन', 'महासागर', 'तुम्हारे लिए', 'समय साक्षी है', 'कग़ार की आग' आदि विशेष चर्चित। समस्त भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त कुछ रचनाएँ कोरियन, चीनी, नार्वेजियन, स्लाव, चेक, जापानी आदि भाषाओं में अनूदित। हिंदी अकादेमी, दिल्ली, उ. प्र. हिंदी संस्थान तथा केंद्रीय हिंदी संस्थान द्वारा पुरस्कृत।

संपर्क : 7/सी-2, हिंदुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज़-1, दिल्ली-91।

अनामिका

कवयित्री, आलोचक, अनुवादक। सत्यवती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में अंग्रेजी विभाग में प्रवक्ता। अब तक प्रकाशित पुस्तकों में 'बीजाक्षर', 'समय के शहर में', 'अनुष्टुप्', कविता संग्रह, 'स्त्रीत्व का मानचित्र', 'ट्रीटमेंट ऑफ लव एंड डेथ इन पोस्ट-वॉर अमेरिकन विमेन पोएट्स' तथा 'पोस्ट एलियट पोएट्री', आलोचना विशेष चर्चित। राजभाषा परिषद् पुरस्कार, भारतभूषण अग्रवाल पुरस्कार तथा साहित्यकार सम्मान से सम्मानित।

संपर्क : डी-11/46, किदवई नगर (पश्चिमी), नई दिल्ली-23।

अशोक वाजपेयी

वरिष्ठ कवि, आलोचक, संपादक। भारतीय प्रशासनिक सेवा से सेवानिवृत्त। अब तक प्रकाशित पुस्तकों में 'शहर अब भी संभावना है', 'एक पतंग अनंत में', 'तत्पुरुष', 'अगर इतने से', 'बहुरि अकेला', 'कहीं नहीं वहीं', 'समय से बाहर', 'कविता का गल्प', 'सीढ़ियाँ शुरू हो गई हैं', 'फिलहाल', 'कवि कह गया है' तथा 'समय के पास समय' आदि शामिल। 'पूर्वग्रह', 'समवेत', 'समास', 'बहुवचन' पत्रिकाओं के संस्थापक-संपादक। अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर की प्रतिनिधि कविताओं का चयन प्रकाशित। भारत भवन के संस्थापक। साहित्य अकादेमी पुरस्कार तथा दयावती मोदी कवि शेखर सम्मान से सम्मानित। संप्रति—महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के संस्थापक कुलपति।

संपर्क : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, द्वितीय तल, 16 सिरी फ़ोर्ट रोड, नई दिल्ली-49।

सूर्य प्रसाद दीक्षित

हिंदी साहित्य के आचार्य, आलोचक। लखनऊ विश्वविद्यालय में पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग के संस्थापक-अध्यक्ष। लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त। प्रकाशित कृतियों में 'प्रसाद का गद्य', 'निराला का गद्य', 'महादेवी का गद्य', 'पंतजी का गद्य', 'छायावादी काव्य का व्यावहारिक सौंदर्यशास्त्र', 'राज्याश्रय और साहित्य', 'बृहद हिंदी पत्र-पत्रिका कोश', 'साहित्य का इतिहास दर्शन', 'हिंदी का अपना काव्यशास्त्र', 'शोध के नए संदर्भ' आदि शामिल। 'ज्ञानशिखा', 'उत्कर्ष', 'अवधी' पत्रिकाओं के संपादक रहे। उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान के 'साहित्य भूषण सम्मान' तथा हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद की 'साहित्य-वाचस्पति' उपाधि से अलंकृत। आजकल साहित्य के अध्ययन व शोध में संलग्न।

संपर्क : 'साहित्यिकी', डी-54, निराला नगर, लखनऊ (उ.प्र.)।

अरुण कमल

कवि, आलोचक, अनुवादक। पटना विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्राध्यापक। तीन कविता पुस्तकें 'अपनी केवल धार', 'सबूत', 'नए इलाके में' तथा आलोचना की एक पुस्तक प्रकाशित। वियतनामी कवि लो हू की कविताओं एवं टिप्पणियों की एक अनुवाद पुस्तिका तथा अंग्रेजी में 'वॉयसेज़' नाम से भारतीय युवा कविता की पुस्तक प्रकाशित। कविता के लिए भारतभूषण अग्रवाल पुरस्कार, सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार, श्रीकांत वर्मा स्मृति पुरस्कार, रघुवीर सहाय स्मृति पुरस्कार, शमशेर-सम्मान तथा साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित।

संपर्क : 4 मैत्री शांति भवन, बी.एम. दास रोड, पटना (बिहार)।

नासिरा शर्मा

कथा लेखिका, उपन्यासकार। प्रकाशित कृतियों में 'शाल्मली', 'ठीकरे की मंगनी', 'सात नदियाँ एक समंदर', 'इब्ने मरियम्', 'खुदा की वापसी', 'ज़िंदा मुहावरे', 'सबीना के चालीस चोर', 'अफगानिस्तान—बुज़कशी का मैदान' आदि शामिल। फ़िरदौसी के 'शाहनामा' का हिंदी अनुवाद चर्चित। लगभग 8 टेलीफिल्मों के लिए पटकथा लेखन। महादेवी वर्मा पुरस्कार, गजानन माधव मुक्तिबोध स्मृति पुरस्कार, अर्पण सम्मान तथा हिंदी अकादेमी,

दिल्ली के कृति सम्मान से सम्मानित।

संपर्क : सी-118, डी.डी.ए. फ्लैट्स, सरिता विहार, नई दिल्ली।

गगन गिल

कवयित्री, समीक्षक, अनुवादक। लगभग 11 साल तक टाइम्स ऑफ़ इंडिया की पत्रिका 'वामा' तथा 'संडे ऑब्ज़र्वर' में साहित्य संपादन। अब तक तीन कविता-संग्रह 'यह आकांक्षा समय नहीं', 'अँधेरे में बुद्ध', 'एक दिन लौटेगी लड़की' तथा एक गद्य पुस्तक 'दिल्ली में उनींदे' प्रकाशित। 1990 में आयोवा इंटरनेशनल राइटिंग प्रोग्राम में सम्मिलित। 1992-93 में हारवर्ड यूनिवर्सिटी की नीमेन पत्रकार फ़ैलो। अंग्रेजी पत्रिका 'यात्रा' का विशेषांक, 'जंगल में झील जागती' पंजाबी कवि हरभजन सिंह की कविताओं का संचयन-अनुवाद तथा 'ए जर्नी विदइन' प्रमुख भारतीय चित्रकार रामकुमार पर केंद्रित पुस्तक का संपादन। भारतभूषण अग्रवाल पुरस्कार तथा संस्कृति पुरस्कार से सम्मानित।

संपर्क : वाई-ए-1, सहविकास, 68 पटपड़गंज, इंद्रप्रस्थ एक्सटेंशन, नई दिल्ली।

जनार्दन उपाध्याय

साकेत महाविद्यालय, अयोध्या में हिंदी विभाग में रीडर। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समीक्षाएँ, शोध-लेख, निबंध आदि प्रकाशित।

संपर्क : 21/4/6, सप्तसागर, छोटी देवकाली, अयोध्या, फ़ैज़ाबाद (उ. प्र.)।

विद्याबिन्दु सिंह

लोक-साहित्य, भारतीय परंपरा तथा लोक-मान्यताओं पर महत्त्वपूर्ण लेखन। प्रकाशित कृतियों में 'लोक-मानस', 'घर की भाषा घर का भाव', 'अवध की लोक-कथाएँ', 'दिन दिन पर्व' आदि विशेष उल्लेखनीय। अवधी लोक-गीत संग्रह 'चंदन चौक' की सह-संपादक। उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ में उपनिदेशक। संस्थान की पत्रिकाएँ 'अतएव' व 'भाषा भारती' के सम्पादन से संबद्ध।

संपर्क : 45 गोखले विहार मार्ग, लखनऊ, उत्तर प्रदेश।

ललित मोहन पाण्डेय

साकेत महाविद्यालय, अयोध्या में अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अंग्रेज़ी साहित्य से संबंधित निबंध प्रकाशित।

संपर्क : ग्राम रानोपाली, पो. अयोध्या, ज़िला फ़ैज़ाबाद (उ.प्र.)।

आमिल

पूरा नाम : रामकृष्ण पाण्डेय 'आमिल'। चिंतक, शायर एवं आध्यात्मिक त्रैमासिक 'अनादि-आस्था' के संपादक। अब तक तीन गज़ल संग्रह 'दावते-नज़र', 'अक्से-ग़ज़ल', 'ज़िक्रे-दौराँ', तथा 'तंत्र-परिचय', 'भाव-बिंब' आदि पुस्तकें प्रकाशित। वैदिक मंत्रों के अध्ययन-अनुशीलन में संलग्न।

संपर्क : अध्यात्म शक्ति पीठ, मुबारकगंज, फ़ैज़ाबाद (उ.प्र.)।

ज्योतिष जोशी

युवा आलोचक। 'सम्यक', 'विमर्श और विवेचन', 'आलोचना की छवियाँ', 'जैनेंद्र और नैतिकता' तथा 'सोनबरसा' आदि पुस्तकें प्रकाशित। ललित कला अकादेमी, नई दिल्ली से संबद्ध।

संपर्क : एफ-17/84, सेक्टर 15, रोहिणी, दिल्ली-85।

सुशील सिद्धार्थ

आलोचक, स्वतंत्र पत्रकार। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अद्यतन साहित्य पर नियमित लेखन।

संपर्क : 41 कालाकाँकर कालोनी, ओल्ड हैदराबाद. लखनऊ-226007।

रमेश दवे

वरिष्ठ आलोचक। आलोचना की अब तक कई पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अद्यतन साहित्य से संबंधित समीक्षाएँ, लेख प्रकाशित।

सपंर्क : 276, एल-कोटरा, सुल्तानाबाद, भोपाल-462003 (म.प्र.)।

राजुला शाह

चित्रकार, रचनाकार। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ, गद्य-रचनाएँ तथा चित्र प्रकाशित। सम्प्रति पुणे फ़िल्म एवं टेलीविजन संस्थान से फिल्म निर्देशन में डिप्लोमारत। अनेक कला प्रदर्शनियों में चित्र एवं रेखांकन आदि सम्मिलित।

संपर्क : निराला सृजनपीठ, सी-165/1, प्रोफेसर कॉलोनी, भोपाल-462882 (म. प्र.)।



INDIAN ART PALACE

INDIA'S LEADING MANUFACTURERS & EXPORTERS OF
COLONIAL & RUSTIC FURNITURE

HEAD OFFICE

P.O. RAMGARH, SHEKHAWATI, DISTT. SIKAR, RAJASTHAN-331024 INDIA
FAX : +91-1562-53305/06
E-mail : iapindia@datainfosys.net

MAILING ADDRESS

SHEKHAWATI HANDICRAFTS 23-B, Sunder Nagar Market,
New Delhi-100 003 INDIA
Tel. : +91-11-4626920/4692252 Fax : +91-11-4632370

ASSOCIATE COMPANY

SHEKHAWATI ARTS UMAID BHAWAN Palace Road, JODHPUR-342 006,
Rajasthan INDIA
Tel. : +91-291-510535 Fax : +91-291-511787 E-mail : Shekhart@datainfosys.net

1

